भारतीय राजनीतिक चिन्तन

ग्रन्थ, जो उपयोगी ...
... नहीं पा ...

लेखक
प्रो. के. एल. कमल

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

प्रकाशकीय भूमिका

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी अपनी स्थापना के 28 वर्ष पूरे करके 15 जुलाई, 1997 को 29वें वर्ष में प्रवेश कर चुकी है। इस अवधि में विश्व साहित्य के विभिन्न विषयों के उत्कृष्ट ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद तथा विश्वविद्यालय के शैक्षणिक स्तर के मौलिक ग्रन्थों को हिन्दी में प्रकाशित कर अकादमी ने पाठकों की सेवा करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और इस प्रकार विश्वविद्यालय स्तर पर हिन्दी में शिक्षण के मार्ग को सुगम बनाया है।

अकादमी की नीति हिन्दी में ऐसे ग्रन्थों का प्रकाशन करने की रही है जो विश्वविद्यालय के स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों के अनुकूल हो। विश्वविद्यालय स्तर के ऐसे उत्कृष्ट मानक ग्रन्थ, जो उपयोगी होते हुए भी पुस्तक प्रकाशन की व्यावसायिकता की दौड़ में अपना समुचित स्थान नहीं पा सकते हो और ऐसे ग्रन्थ भी, जो अंग्रेजी की प्रतियोगिता के सामने टिक नहीं पाते हों, अकादमी प्रकाशित करती है। इस प्रकार अकादमी ज्ञान-विज्ञान के हर विषय में उन दुर्लभ मानक ग्रन्थों को प्रकाशित करती रही है और करेगी जिनको पाकर हिन्दी के पाठक लाभान्वित ही नहीं; गौरवान्वित भी हो सकें। हमें यह कहते हुए हर्ष होता है कि अकादमी ने 450 से भी अधिक ऐसे दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को प्रकाशित किया है जिसमें से एकाधिक केन्द्र, राज्यों के बोर्डों एवं अन्य संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत किये गये हैं तथा अनेक विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा अनुशंसित।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी को अपने स्थापना काल से ही भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय से प्रेरणा और सहयोग प्राप्त होता रहा है तथा राजस्थान सरकार ने इसके पल्लवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, अतः अकादमी अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में उक्त सरकारों की भूमिका के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती है।

प्रस्तुत पुस्तक 'भारतीय राजनीतिक चिन्तन' को विद्वान लेखक प्रो. के. एल. कमल ने तीन भागों और 9 अध्यायों में विभाजित करके प्राचीनकाल, मध्यकाल एवं वर्तमान काल में प्रत्येक पर तीन-तीन अध्याय लिखे हैं। इसमें प्रत्येक काल की मुख्य अवधारणाओं एवं प्रतिनिधि राजनीतिक विचारकों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

प्राचीन काल के विचारकों में मनु-वाल्मीकि, व्यास, कौटिल्य एवं शुक्र; मध्यकाल के जियाउद्दीन बर्नी एवं अबुल फजल तथा आधुनिक काल में विवेकानन्द, गोपाल कृष्ण गोखले, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, अरविन्द, महात्मा गाँधी, एम. एन. राय एवं पं. जवाहरलाल नेहरू के विचार समाविष्ट किये गए हैं। धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलनों के प्रणेता के रूप में राजा राममोहन राय एवं स्वामी दयानन्द सरस्वती, समाजवादी चिन्तकों में जयप्रकाश नारायण एवं राम मनोहर लोहिया, हिन्दू राष्ट्रवाद पर

विनायक दामोदर सावरकर एवं माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, द्वि राष्ट्र सिद्धान्त पर सर सैय्यद अहमद खाँ, मोहम्मद अली जिन्ना, मोहम्मद इकबाल तथा सामाजिक न्याय की अवधारणा के सम्बन्ध में भीमराव अम्बेडकर के विचारों का संक्षेप में निरूपण करके समस्त अध्येताओं के लिए बहुउपयोगी ज्ञानवर्धक सामग्री प्रस्तुत की गई है।

हम पुस्तक के लेखक प्रो के. एल कमल, जयपुर एवं समीक्षक प्रो. टी. आर शर्मा चण्डीगढ़ के प्रति प्रदत्त सहयोग हेतु आभारी हैं।

ललित किशोर चतुर्वेदी
उच्च शिक्षा मंत्री, राजस्थान सरकार एवं
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर।

डॉ. वेद प्रकाश
निदेशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर।

आमुख

परकीय सत्ता का प्रभाव न केवल राजनीतिक और आर्थिक दासता तक ही सीमित रहा बल्कि बौद्धिक क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं था। राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में पश्चिम इतना हावी रहा कि अनेक दशाब्दियों तक राजनीतिक चिन्तन शोध, अध्ययन, अध्यापन की परिधि से करीब करीब बाहर ही रहा। लेकिन अंग्रेजों के विजयी राष्ट्र के उन्माद ने भारतीय स्वाभिमान को चुनौती दी। प्रबल यूरोपीय संस्कृति की अवधारणा को भारत का चेतन मन स्वीकार करने को तैयार नहीं था। इस चुनौती का सामना करने के लिए भारत अपने अतीत की ओर मुड़ा और वहाँ उसे प्रेरणा का अद्भुत स्रोत प्राप्त हुआ। परकीय राजनीतिक शक्ति के आघात से राष्ट्रीय आत्मा जगी, प्रेरणादायक राष्ट्रीय साहित्य का सृजन हुआ और अपनी विस्मृत अस्मिता को पुन प्राप्त करने का राष्ट्रीय सकल्प विकसित हुआ।

भारतीय चिन्तन मे व्यष्टि और समष्टि, नागरिक और राज्य, राज्य और समुदाय, स्वतंत्रता और समानता, अधिकार और कर्त्तव्य, धर्म और राजनीति, शासन और प्रशासन, राजा और राज्य, संप्रभुता एवं इसकी सीमायें, राज्य के कार्य-क्षेत्र एव उद्देश्य, नौकरशाही आदि पर चर्चा हुई है। कहीं कहीं इसने गहन रूप भी धारण किया है, लेकिन मोटे तौर पर धर्म और नैतिकता की परिधि में ही यह चर्चा रही है। वैदिक काल से लेकर गाँधी तक यह धारा निरन्तर रूप से बही है। यद्यपि कहीं कहीं इसे स्वतंत्र करने का प्रयास भी किया गया है। इस प्रकार का कुछ प्रयास कौटिल्य का रहा है। आधुनिक काल में जवाहरलाल नेहरू और मानवेन्द्र नाथ राय के चिन्तन मे राजनीति का विशुद्ध स्वरूप उभर कर आया है, लेकिन विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक, अरविन्द और गाँधी का प्रभाव कहीं अधिक शक्तिशाली है। नेहरू, राय और कुछ सीमा तक गोखले को छोड़कर करीब करीब सभी विचारक प्राचीन भारत की सांस्कृतिक धरोहर और इसकी दार्शनिक परम्परा से प्रभावित हैं। वे प्राचीन ज्ञान और संदेश के प्रकाश में नये भारत का निर्माण करना चाहते हैं। उनका उद्देश्य अतीत की नींव पर एक सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण करना है। उनका मानना है कि कोई राष्ट्र अपने अतीत को विस्मृत करके आगे बढ़ ही नहीं सकता। लेकिन यह चिन्तन केवल परम्परा को लेकर भी नहीं चलता। परिवेश के ग्राह्य तत्वों से यह पोषित भी हुआ है, लेकिन अपने मूल धरातल को इसने नहीं छोड़ा। यह ध्वनि गाँधी की इस वाणी में प्रवाहित है कि 'यद्यपि मैं अपने दिमाग की खिड़कियाँ खुली रखता हूँ ताकि ताजा हवा आती रहे, लेकिन मैं दृढ़ता से अपने पाँव जमीन पर जमाये रखना चाहता हूँ, भयंकर तूफान भी मुझे हिला नहीं सकता।'

प्रस्तुत पुस्तक तीन भागों और 9 अध्यायों में विभाजित है — प्राचीन, मध्य

युग एव वर्तमान काल में प्रत्येक पर तीन अध्याय लिखे गये हैं। इसमें प्रत्येक काल की मुख्य अवधारणाओं एव प्रतिनिधि राजनीतिक विचारकों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। प्राचीन काल के विचारकों में मनु, वाल्मीकि, व्यास, कौटिल्य एवं शुक्र; मध्यकाल के जियाउद्दीन बर्नी एवं अबुल फजल तथा आधुनिक काल में विवेकानन्द, गोपाल कृष्ण गोखले, लोकमान्य बाल गगाधर तिलक, अरविन्द, गाँधी, एम. एन. राय एवं जवाहरलाल नेहरू के विचार समाविष्ट किये गये हैं। धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलनों के प्रणेता के रूप में राजा राममोहन राय एवं स्वामी दयानन्द सरस्वती, समाजवादी चिन्तकों में जयप्रकाश नारायण एव राम मनोहर लोहिया, हिन्दू राष्ट्रवाद पर विनायक दामोदर सावरकर एव माधव सदाशिव गोलवलकर; द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त पर सर सैय्यद अहमद खाँ, मोहम्मद अली जिन्ना एवं मोहम्मद इकबाल तथा सामाजिक न्याय की अवधारणा के संबंध में भीमराव अम्बेडकर के विचारों का भी संक्षेप में निरूपण किया गया है।

मौलिकता का कोई दावा नहीं करते हुए केवल इतना ही विनम्र निवेदन है कि इस पुस्तक में भारतीय राजनीतिक चिन्तन के मूल तत्त्व को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। भारतीय चिन्तन के अध्येताओं को यदि पुस्तक रुचिकर लगी तो मैं अपने श्रम को सफल समझूँगा। अंत में, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी के सुयोग्य निदेशक डॉ. वेद प्रकाश के प्रति मैं आभारी हूँ जिनकी प्रेरणा से मैं इस पुस्तक को लम्बे अन्तराल के बाद लिख पाया।

विजय दशमी, 1997 — के. एल. कमल

विषय-सामग्री

भाग 1

अध्याय

भाग 2

भाग 3

❑❑❑

भाग 1

1

प्राचीन भारत

संक्षिप्त परिचयात्मक अध्ययन

वेद भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। वेद शब्द विद् धातु से बना है जिसके चार अर्थ विद्वानों ने बताये हैं। ये हैं - ज्ञान, सत्ता, लाभ तथा विचारण। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने बताया कि वेद वही हैं जिनके द्वारा अध्येता समग्र सत्य विद्याओं का ज्ञान अर्जित करता है। दूसरे शब्दों मे वेद अर्थ ही जानना, ज्ञानोपार्जन करना है।

वेद कितने पुरातन हैं इस पर सब एक मत नहीं हैं। कुछ पश्चिमी विद्वान और लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक इनकी रचना ईसा मसीह से करीब अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व मानते हैं। इस मान्यता के पीछे ज्योतिष शास्त्र है। सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान मैक्समूलर ने इनकी रचना ईसा मसीह के करीब बारह सौ वर्ष पूर्व मानी है। उनका कथन यह है कि इसके पूर्व इनकी रचना फिर भी हो सकती है लेकिन इसके बाद नहीं। एक बहुत बड़ा प्रमाण यह है कि ईसा के 500 वर्ष पूर्व गौतम बुद्ध हुये थे जिन्होने वैदिक वाङ्मय की सत्ता स्वीकार की है और गौतम बुद्ध ऐतिहासिक पुरुष हैं।

जिस प्रकार वेदों की रचना काल को लेकर मतभेद हैं इसी प्रकार आर्यों के मूल निवास को लेकर भी मत मतान्तर हैं। कुछ विद्वानों ने जिनमें डॉ सम्पूर्णानन्द मुख्य हैं ऋग्वेद में वर्णित भूगोल के आधार पर सप्त सिन्धु (पंजाब, सीमान्त प्रदेश आदि) को आर्यों की आदि भूमि माना है जबकि अन्य विद्वानों ने जिनमें मैक्समूलर भी हैं आर्यों का निवास मध्य एशिया माना है। कुछ अन्य विद्वानो ने जिनमें लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक हैं आर्यों का मूल निवास उत्तरी ध्रुव या आर्कटिक क्षेत्र माना है। इस प्रसंग मे उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि आर्कटिक होम ऑफ दि वेदाज' का उल्लेख किया जा सकता है। एक और भी विद्वानो का वर्ग है जो मानता है कि आर्यो का मूल निवास यूरोप था। रूस और विशेष तौर पर जर्मनी और लिथुआनिया मे इस लेखक की कई लोगो से बात हुई है जिन्होंने कहा कि आर्य सम्भवतः वहीं से होते हुए ईरान, मध्य एशिया और भारत की ओर गये। इसका प्रमाण यह भाषायी और अनेक रीति रिवाजों की समानता मानते हैं। यह सर्व विदित है कि हिटलर तो स्वयं को आर्य ही मानता था और जर्मनी के झंडे में स्वास्तिक का चिह्न था।

वेद : एक संक्षिप्त अध्ययन

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद चार वेद हैं जो विश्व साहित्य में अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। इनमें एक विषय का निरूपण न होकर भिन्न-भिन्न विषयों पर चर्चा है। देवो के बारे में मंत्रबद्ध स्तुतियाँ, दान, दार्शनिक सूक्त, राज्य के कार्य एवं उस पर नियंत्रण के उपाय, कर्मकाण्ड, यज्ञ की विधियाँ, संगीत और विविध संगीत लहरियाँ, स्वास्थ्य एवं आयुर्वेद, राज धर्म, समाज व्यवस्था आदि विविध विषय-सामग्री इनमें निहित है। कहने का अभिप्राय है कि सम्पूर्ण मानव जीवन के लौकिक एवं पारलौकिक, भौतिक एवं आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों का इनमें विवेचन मिलता है। अथर्व-वेद मे वर्णित पृथ्वी सूक्त का आज पर्यावरणवादी बडी उत्सुकता से अध्ययन करने लगे हैं। पृथ्वी सूक्त संभवत: विश्व की सर्वप्रथम कृति है जिसमें प्रकृति और पृथ्वी के विषय मे एक माँ और उसके बच्चों के कुटुम्ब की परिकल्पना की गई है। इसमें पृथ्वी को माँ के रूप मे प्रदर्शित किया गया है जिसके समक्ष सभी बालक बालिकाये समान हैं और वह सबको अपनी प्राकृतिक सम्पदा से पोषित करती है।

हम यहाँ अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त से कुछ उद्धरण प्रस्तुत करते हैं[1] —

विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्र ऋषभा द्रविणे दधातु नो ॥ (6)

दूसरे शब्दो मे –

सबका पोषण करने वाली भूमि अनेक रत्नो की खान है, सब वस्तुओ की आधार भूत, सुवर्ण आदि की खानें जिसके वक्षस्थल में हैं ऐसी सभी जंगम, जीव या पदार्थों को बसाने वाली विभिन्न प्रजातियो के मनुष्यों से भरे हुए राष्ट्र या देशों को धारण करती हुई भूमि अग्रगामी शत्रुओं का नाश करने वाले शूरवीर और ज्ञानियों के लिए तथा हमारे लिए धन प्रदान करने वाली हो।

विश्व स्वऽमातर मोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा
धृताम्। शिवां स्योना मनु चरेम विश्वहा ॥ (17)

सब वनस्पति, वृक्ष, लता आदि की माता विस्तीर्ण लम्बी, चौडी, स्थिर धर्म से पोषित, कल्याणमयी, सुख की देने वाली इस धरती की हम सदा सेवा करें।

उदीराणा उतासी नास्तिष्ठन्त. प्रक्रामन्तः।
पद्मयां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥ (28)

चलते फिरते, बैठे हुए, खडे हुए दाहिने या बायें पाँव से टहलते हुए हम इस भूमि पर किसी को दुःख न दें।

---

1 ओंकार प्रसाद द्विवेदी, वसुधैव कुटुम्बकम्, अथर्ववेदीय पृथ्वीसूक्त पर व्याख्या, भास्कर सेवा संस्थान, पर्यावरण शोध प्रभाग, महर्षिपुरी, इलाहाबाद।

(आदि काल से मनुष्य एवं उसके क्रिया कलाप पर्यावरण की शुद्धता को प्रभावित कर रहे हैं क्योंकि प्रकृति अर्थात् पृथ्वी पर फैला हुआ पर्यावरण तथा मनुष्य परस्पर एक दूसरे पर आश्रित हैं। आज सर्वत्र उपभोक्तावादी विचारधारा के फैलने से प्रकृति का स्वार्थवश वैयक्तिक ढग से दोहन हो रहा है, जिसके दुष्परिणाम आज मानव के अस्तित्व को चुनौती दे रहे हैं।)

यत्ते भमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
माते मर्म विमृग्वरी मा ते हृदयमर्पिपम ॥ (35)

हे भूमि। तुम पर हल से जोतकर हमें जो बोवें, वह जल्दी उगे और बढ़े। हे विशेष खोजने के योग्य भूमि। तुम्हारे मर्मस्थलों में किसी तरह की क्षति या चोट न पहुँचे और तुम्हारा अर्पित मन दुखित न हो।

चारों वेदों में से ऋग्वेद एवं अथर्ववेद राजनीति शास्त्र के अध्येताओं के लिए अधिक महत्वपूर्ण हैं। डॉ० ए. एस. अल्तेकर, डॉ० बेनी प्रसाद, डॉ० यू एन. घोषाल एवं डॉ० आर. एस. शर्मा का मत है कि अर्थशास्त्र के प्रणेता ऋग्वेद एव अथर्ववेद को आधार मानकर ही आगे बढ़े हैं।

इन दोनों ग्रन्थो की सामग्री के आधार पर ही विस्तृत रूप से अर्थशास्त्र एव अन्य ग्रन्थों में विवेचन किया गया है।

डी. चट्टोपाध्याय और आर. एस. शर्मा का मत है कि इन वेदो में गणतंत्रीय संस्थाओं का निरूपण मिलता है। डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल का कथन है कि अथर्ववेद के श्लोकों में राजा के चुनाव का वर्णन मिलता है। बालाशास्त्री हरदास ने अपनी पुस्तक 'ग्लिम्पसेज आफ वैदिक नेशन' में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वैदिक काल में राज्य एक सुविकसित संस्था थी।

उपनिषद्

यद्यपि उपनिषदों का मुख्य विषय आध्यात्म है लेकिन उनका संक्षिप्त विवेचन प्रासंगिक है। इसका मुख्य कारण यही है कि प्राचीन भारतीय चिन्तन मनुष्य को समग्र रूप से देखता है। सार्वभौम विश्वसनीय आदर्श, जो कि भारतीय संस्कृति की विशेषता है, उपनिषदों में कूट कूट कर भरा है। भारतीयों के अलावा पश्चिमी विद्वान भी उपनिषदों के चिन्तन से चमत्कृत हुए हैं। उपनिषदों के ऋषियों ने जीवन की शाश्वतता पर जो गंभीर अध्ययन किया है वह विश्व संस्कृति की अनुपम धरोहर है। वैसे 108 उपनिषद् माने गये हैं लेकिन उनमें ईशोपनिषत्, केनोपनिषत्, कठोपनिषत्, प्रश्नोपनिषत्, मंडोपनिषत्, माण्डूक्योपनिषत्, तैतिरीयोपनिषत्, एतरेयोपनिषत्, छान्दोग्योपनिषत् एवं वृहदारण्यकोपनिषत् प्रमुख हैं। लेकिन यह सर्वमान्य है कि गौतम बुद्ध तक इनकी रचना हो चुकी थी।

उपनिषद् तर्क प्रधान ग्रन्थ है । इनमें ज्ञान-अज्ञान, आत्मा-परमात्मा और ब्रह्म-माया के परस्पर विरोधी तत्वो को प्रस्तुत करके तर्क के माध्यम से ऐक्य स्थापित किया गया है । यह ऐक्य या समन्वय ही अद्वैत का मूल है जो भारत की विश्व संस्कृति को अमूल्य देन है । यही दार्शनिक जगत का साम्यवाद है । दूसरे शब्दों में, एक जीव का दूसरे जीव से इतना गहन संबन्ध है कि वे एक दूसरे से पृथक् किये ही नहीं जा सकते । यह दार्शनिक विचार अनेकता में एकता स्थापित कर समस्त विश्व को एक सूत्र में पिरोता है । उपनिषदों का विश्व की अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ है और इस प्रकार यह महान सन्देश विश्व के कोने कोने तक गया है । हजारों वर्षों पूर्व भारतीय चिन्तन कितनी गहराइयों तक पहुँचा था इसके सबसे बड़े प्रमाण उपनिषद् हैं ।

प्राचीन भारत के प्रमुख मौलिक ग्रन्थ

प्राचीन काल मे अनेक ग्रन्थों की रचना हुई है जिनकी विषय सामग्री आध्यात्मिकता पर आधारित है, जीवन के सत्य तक पहुँचने का उनमें प्रयास है । राजनीतिक चिन्तन की दृष्टि से निम्नांकित ग्रन्थ विशेष तौर पर उल्लेखनीय हैं :-

1 वेद	2. उपनिषद्
3 पुराण	4 कामन्दकनीतिसार
5 शुक्रनीतिसार	6 अर्थशास्त्र
7 मुद्राराक्षस	8 नीति वाक्यामृत

वेद और उपनिषद् का संक्षिप्त वर्णन किया जा चुका है । मनु, शुक्र और कौटिल्य का आगे चलकर कुछ विस्तार के साथ वर्णन किया जायेगा । अत यहाँ पुराण, कामन्दक, नीतिसार और नीति वाक्यामृत के बारे मे संक्षेप में लिखा जा रहा है ।

पुराण

पुराण यद्यपि धार्मिक ग्रन्थ हैं लेकिन इनमें राजनीति से सम्बन्धित अनेक उद्धरण मिलते हैं । यह बात सही है कि पुराणों में स्मृतियों और नीतिशास्त्रियों के विचारों का सारांश ही मिलता है लेकिन उनकी उपादेयता को नकारा नहीं जा सकता ।

पुराणों में अग्निपुराण और मत्स्य पुराणों का राजनीति के अध्येता के लिये ज्यादा महत्त्व है । राज्य की उत्पत्ति, राज्याभिषेक, राजा पर नैतिक प्रतिबन्ध, सप्तांग राज्य, मंत्रियों और सभासदों का आचरण, कर सिद्धान्त, विदेश नीति, युद्ध, शांति, राजनेता, अन्तर्राज्यीय संबन्ध, सुदृढ़ सेना, न्याय प्रशासन आदि विषयों पर अनेक विचार पुराणों में निहित हैं ।

नीति वाक्यामृत

सोमदेव की प्रसिद्ध पुस्तक नीति वाक्यामृत का मुख्य विषय राजनीतिक संस्थायें एवं प्रशासन है । सोमदेव भी कौटिल्य की भाँति एक व्यवस्थित रूप में राजनीतिक विषयों

पर चर्चा करते हैं। वह राज्य को अपने में साध्य मानते हैं और राजनीतिक अनुशासन पर जोर देते हैं। वह राजा को राज्य की धुरी मानते हैं और इसलिए राजा की शिक्षा पर बहुत बल देते हैं। वह राजा को चारों विद्याओं अर्थात् अन्वीक्षि, त्रयी, वार्ता और दडनीति में पारगत देखना चाहते हैं। राजकोष, सेना, प्रशासन, मत्रिमडल, युद्ध, शांति, राजनय आदि के बारे में सविस्तार लिखते हैं। सोमदेव का संस्कृत पर बड़ा अधिकार है और उनकी शैली बहुत आकर्षक है।

राजनीतिक संस्थाओ, प्रशासन राजनय के साथ साथ नीति वाक्यामृत में सामाजिक पहलुओं पर भी चर्चा की गयी है। यद्यपि वह अन्तर्जातीय विवाहों के विरुद्ध है लेकिन निम्न जातियों के प्रति उनके मन में सम्मान है। उनकी मान्यता है कि एक शूद्र भी पवित्र जीवन निर्वाह कर सकता है। वह सार्वजनिक जीवन में स्वच्छता के पक्षधर हैं और रिश्वत देने और लेने वाले दोनों के प्रति ही कठोर रवैया अपनाते हैं।

सोमदेव यह मानकर चलते हैं कि राजनीतिक विचारो का सीधा सबन्ध जीवन की वास्तविक समस्याओं से है एवं अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र के प्रकाश में ही जीवन की समस्याओं का समाधान ढूढ़ना चाहिये। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है। सोमदेव के अनुसार सिद्धान्त को व्यवहार से पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि कोई भी सिद्धान्त व्यवहार बिना और व्यवहार सिद्धान्त बिना अधूरा है। सोमदेव का ज्यादा जोर ज्ञानार्जन पर है, केवल ज्ञान द्वारा ही मनुष्य को तर्क, बुद्धि और नीर क्षीर विवेक प्राप्त होता है। सामान्य जीवन हो अथवा राजनीतिक जीवन में अच्छाई और बुराई, सुख और दुःख लगे रहते हैं जिन्हें समझने के लिए धर्म की आवश्यकता पड़ती है। धर्माचरण मनुष्य में उन गुणों का संचार करता है, जिनसे वह अच्छा नागरिक और अच्छा गृहस्थ बनता है। धर्म उसे इस लोक में सफलता और अद्भुत आनन्द की प्राप्ति कराता है। सोमदेव स्वीकार करते हैं कि मनुष्य अपने जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त कर सकता है, यद्यपि मोक्ष का राज्य से कोई सीधा संबन्ध नहीं है।

समाज में उत्पन्न संघर्ष को समेट लेना ही राजनीति है।[1] निष्पक्ष न्याय, स्वच्छ, शासन, समुचित दण्ड, उत्तरोत्तर बढ़ती राज्य सम्पदा, निर्बल और गरीब को संरक्षण आदि राज्य के स्थाई कार्य हैं। सोमदेव यह भी कहते हैं कि राज्य के हित में मंत्रियों से समुचित मंत्रणा करने के उपरान्त राजा कुछ भी कर सकता है। सार यह है कि सोमदेव ने जिस राज्य की कल्पना की है वह अनिवार्यतः एक लोक कल्याणकारी राज्य है। वह राजा को निरंकुश नहीं मानते। वह एक संवैधानिक राजा की भांति है, न कि एक तानाशाह की भांति।[2] राजा के परामर्श हेतु मंत्रिमण्डल का होना अपरिहार्य है और अधिकांश मामलों

---

1. नीति वाक्यामृत पृ 28 4, 5 वी आर. मेहता : वही पुस्तक द्वारा उद्धृत।
2. वी. आर. मेहता : वही पुस्तक, पृ 119

मे उसके लिए राय मानना जरूरी है ।[1] मंत्रिमण्डल के सदस्यो एवं अन्य अधिकारियो का चयन योग्यता के आधार पर किया जाना चाहिये । सोमदेव का एक श्रेष्ठ राजा के शासन पर बहुत ही जोर है । वह तो यहाँ तक कह देते हैं कि एक मूर्ख राजा के राज्य से तो बिना राजा का समाज होना ज्यादा श्रेयस्कर है । एक दुष्ट राजा के शासन से बडी कोई अन्य विपदा नहीं हो सकती ।[2]

सोमदेव कोई मौलिक विचारक नहीं थे । उन्होने जो लिखा वह करीब करीब सभी कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिल जाता है । वह एक जैन साधु थे और राजनीतिक समस्याओ पर व्यवस्थित विचार करना उनकी प्रकृति मे भी न था ।

कामन्दक नीतिसार

कामन्दक स्वयं स्वीकार करते हैं कि वह कौटिल्य के अर्थशास्त्र का ही सार इस पुस्तक मे प्रस्तुत कर रहे हैं । कहीं कहीं उनके स्वयं के विचार भी मिलते हैं । कामन्दक राजा और प्रजा के हितों मे कहीं विरोध नहीं देखते, वह राजा और प्रजा दोनों को ही नैतिक नियमों में आबद्ध करते हैं । उन्होने इस पुस्तक मे अनेक उदाहरणो के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास किया कि नीतिविहीन भ्रष्ट राजाओ का किस प्रकार पतन हो गया । कामन्दक भी राजतंत्रवादी हैं और चूंकि राज्य के मूल में राजा को मानते हैं इसलिये राज्य के कल्याण और विकास हेतु राजा की शिक्षा पर बहुत जोर देते हैं । राजा के कार्यों का भी इसमें विशद वर्णन किया गया है । सप्तांग राज्य के बारे मे भी इसमें वर्णन है । अन्तर्राज्यीय संबन्धों का भी इसमे उल्लेख है और न्याय व्यवस्था एवं सेना की भी इसमें चर्चा है । कुल मिलाकर पुस्तक में ऐसी कोई विशेष बात नही है जो कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे सविस्तार से उपलब्ध न हो । ऐसा लगता है कि पुस्तक की रचना काल में राजा, प्रशासन, मंत्री पर ही सारा ध्यान केन्द्रित होने लगा है और इसकी छाया इस पुस्तक पर है । यह स्पष्ट है कि कामन्दक के समय गणतंत्रीय अथवा अभिजनतंत्रीय व्यवस्था नहीं थी ।

राजनीतिक चिन्तन के स्रोत

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के निम्नांकित स्रोत हैं :–

1. वैदिक साहित्य
2. रामायण
3. महाभारत
4. धर्मसूत्र

---

1 नीति वाक्यामृत पृ 5 33
2 नीति वाक्यामृत, पृ 10, 58, 59

5 पाणिनि
6 कौटिल्य का अर्थशास्त्र
7 नीतिशास्त्र
8 धर्मशास्त्र
9 जैन और बौद्ध स्रोत
10 शिलालेख
11 विदेशियो द्वारा लिखा वर्णन
12 दक्षिण भारतीय और विशेष तौर पर तमिल स्रोत
13 मौर्य एव गुप्त कालीन साहित्य

अन्य ग्रन्थ

उपर्युक्त मौलिक ग्रन्थों एव स्रोतो के अतिरिक्त कुछ अन्य शोध पर आधारित उच्च स्तर के ग्रन्थ हैं जिनके रचयिता अधिकांश भारतीय लेखक हैं। इनमें कतिपय प्रमुख पुस्तको और उनके लेखकों के नाम यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं :-

वेनीप्रसाद —

स्टेट इन एन्सियन्ट इण्डिया (दी इण्डियन प्रेस लि इलाहाबाद) एवं थ्योरी ऑफ गवर्नमेंट इन एन्सियन्ट इण्डिया (सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद)

एस. सी. राय चौधरी —

पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्सियन्ट इण्डिया (युनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता)

आर. सी. मजूमदार —

एन्सियन्ट इण्डिया (मोतीलाल बनारसी दास, देहली) एवं कारपोरेट लाइफ इन एन्सियन्ट इण्डिया (फरमा के. एल. मुखोपाध्याय एण्ड कम्पनी, कलकत्ता)

ए. एस. अल्तेकर —

स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन एन्सियन्ट इण्डिया (मोतीलाल बनारसी दास, पटना)

डी. आर. भंडारकर —

एन्सियन्ट हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (भारतीय पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली) एवं सम एसपेक्ट्स ऑफ एन्सियन्ट हिन्दू पोलिटी (बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी)

वी. आर. आर. दीक्षितार —

हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीट्यूशन्स (मद्रास युनिवर्सिटी) एवं दी मोडर्न पोलिटी (मद्रास युनिवर्सिटी)

बी. के. सरकार —

दि पोलिटिकल इन्स्टीट्यूशन्स एवं थ्योरीज ऑफ हिन्दूज (वरलाना वेन मार्केट एण्ड पीटर्स, लिपजिग.

बी. ए. सेलटोर —
एन्सियन्ट इण्डियन पोलिटिकल थॉट एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स (एशिया पब्लिशिंग हाउस, मुम्बई)

आर. एस. शर्मा —
एसपेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्सियन्ट इण्डिया (मोतीलाल बनारसी दास, पटना)

एच. एन. सिन्हा —
डवलपमेंट ऑफ इण्डियन पोलिटी (एशिया पब्लिशिंग हाउस, मुम्बई) एवं सोवरन्टी इन एन्सियन्ट इण्डियन पोलिटी (लुजक एण्ड कम्पनी, लन्दन)

काशीप्रसाद जायसवाल —
हिन्दू पोलिटी (बटावर्थ एण्ड कम्पनी, कलकत्ता)

राधा कुमुद मुकर्जी —
चन्द्र गुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम्स (मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली) एवं लोकल गवर्नमेंट इन एन्सियन्ट इण्डिया (मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली)

यू. एन. घोषाल —
हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पोलिटिकल आइडियाज (आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, मुम्बई)

श्री अरविन्द —
स्प्रिट एण्ड फार्म ऑफ इण्डियन पोलिटी (आर्य पब्लिशिंग हाउस, कलकता)

विश्वनाथप्रसाद वर्मा —
स्टडीज इन हिन्दू पोलिटिकल थॉट एण्ड इट्स मेटाफिजिकल फाउन्डेशन (मोती लाल बनारसीदास, देहली) एवं वैदिक राजनीतिशास्त्र (बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना)

प्राचीन भारत ने विदेशी लेखकों को भी अपनी ओर आकर्षित किया है जिन्होंने अनेक रचनायें प्रस्तुत की हैं। इनमें कुछ प्रमुख रचनायें निम्नलिखित हैं :-

ए. एल. बेशम —
दि वंडर देट वाज इण्डिया (ओरियन्ट लोंगमेन्स, मुम्बई) एवं एसपेक्ट्स ऑफ एंसियन्ट इण्डियन कल्चर (एशिया पब्लिशिंग हाउस, मुम्बई)

डी. एम. ब्राउन —
(संपादित) दि व्हाइट अम्ब्रेला - दि इण्डियन पोलिटिकल थॉट फ्राम मनु टू गाँधी (जय पब्लिकेशन्स, मुम्बई)

ए. बी. कीथ —
हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर (मोतीलाल बनारसीदास, देहली)

डब्ल्यू रुबेन —

स्टडीज इन एन्सियन्ट इण्डियन थॉट (इण्डियन स्टडीज, कलकत्ता)

वी. ए. स्मिथ —

अशोक (क्लेरन्डन प्रेस आक्सफोर्ड) एवं अरली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया क्लेरन्डन प्रेस, आक्सफोर्ड)

जे. स्पेलमैन —

पोलिटिकल थ्योरी ऑफ एंसियन्ट इण्डिया (क्लेरन्डन प्रेस आक्सफोर्ड)

वानगार्ड लेविन —

स्टडीज इन एन्सियन्ट इण्डिया एण्ड सेन्ट्रल एशिया (सोवियत इन्डोलोजिकल स्टडीज नं. 7 (इण्डियन स्टडीज पास्ट एण्ड प्रजेन्ट, कलकत्ता)

इ. डब्ल्यू हॉपकिन्स —

दि सोशल एण्ड मिलिट्री पोजिशन ऑफ दि रूलिंग कास्ट इन एन्सियन्ट इण्डिया (भारत भारती ओरियन्टल पब्लिशर्स, वाराणसी)

□□□

2

प्राचीन भारत

राज्य, राजा एवं राजधर्म

राज्य की उत्पत्ति : कतिपय सिद्धान्त

राज्य पुरातनतम सस्था नहीं है। इसकी उत्पत्ति को लेकर अनेक सिद्धांत प्रतिपादित किये गये, जिनका हम उल्लेख करेंगे। लेकिन यह सत्य है कि सामाजिक विकास की एक ऐसी अवस्था के मोड पर जब कृषि होने लगी और सम्पत्ति का भाव उदित हुआ राज्य की आवश्यकता महसूस हुई। शांति पर्व मे वर्णन आता है कि प्रारम्भ मे वर्तमान अर्थ मे राज्य नही था, केवल प्रकृति का राज्य था। कौटिल्य ने भी बताया है कि अनेक स्थानो पर राजा का पद ही नहीं था, उसे वैराज्य कहा जाता था जिसमे "मेरा और तेरा" जैसा भाव ही उपस्थित नहीं था। अनेक प्राचीन ग्रन्थो एवं मानव शास्त्रीय अध्ययनो मे एक स्वर्णिम युग का उल्लेख है जिसमे व्यक्ति अपने मानवीय गुणो के कारण आपस मे प्रेम और शांतिमय जीवन निर्वाह करते थे और बिना किसी दबाव या नियंत्रण के प्रकृति के नियमो की अनुपालना करते थे।

राज्य की उत्पत्ति मे सम्पत्ति एवं वर्ण का महत्त्व

महावस्तु एवं अन्य पौराणिक साहित्य मे उल्लेख है कि प्रकृति के राज्य मे व्याप्त समरस एवं सुखी जीवन की समाप्ति के मूल मे कृषि की कला का विकास है जिसके द्वारा मनुष्य उपभोग से ज्यादा उत्पादन करने लगे। ऐसी स्थिति मे लोग घर बनाने लगे और उपज को इकट्ठा करने लगे और खेतो की सीमा बांधकर अपना उन पर स्वामित्व करने लगे। अन्य लोग जिनके पास उपज की मात्रा कम या नहीं थी वे छीना झपटी करने लगे, जिसके फलस्वरूप एक ऐसी सत्ता की तलाश की जाने लगी जो सम्पत्ति और खेतों की रक्षा कर सके। महावस्तु के अनुसार इस प्रकार महाक्षत्रीय या खेतो के रक्षक के पद की सृष्टि हुई।[1]

दैवी सिद्धान्त

पौराणिक साहित्य मे राज्य की उत्पत्ति मे वर्णों के महत्त्व को दर्शाया गया है।

---

1 एस विजय राघवन एवं आर जयराम पोलिटिकल थॉट, वी ए वी शर्मा एवं मधुसूदन रेड्डी (सम्पादित) स्टर्लिंग पब्लिशर्स, न्यू देहली, पृ 1

जीवन निर्वाह हेतु समाज चार वर्णों में विभक्त हो गया और वायुपुराण का कथन है कि ये चारों वर्ण आपस मे लड़ने लगे जिसके परिणामस्वरूप ब्रह्मा ने दण्डधारी राजा का निर्माण किया जिसका कार्य दुष्टों का दमन करना था। इसी ग्रन्थ के अनुसार मनु ऐसा प्रथम राजा था। इसके साथ ही नैतिक संहिता का भी निर्माण किया गया। पृथु भी इसी प्रकार का एक राजा था जिसने ऋषियों एवं जनता को यह आश्वासन दिया कि वह स्वयं मे निहित दण्ड शक्ति से स्वधर्म और वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करेगा। यहाँ ब्रह्मा के उल्लेख के कारण राज्य की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त कहा जाने लगा। स्वयं ब्रह्मा ने अराजक स्थिति से समाज को उबारने की दृष्टि से अपने मानस पुत्र विरजस की सृष्टि कर उसे राजा के रूप में नियुक्त किया और राज्य के संचालन हेतु एक विस्तृत विधान बनाया। राजा की सत्ता के पीछे दैविक शक्ति है क्योंकि ईश्वर ने उसे राजा स्थापित किया है। जनता ने भी उसके अनुशासन में रहना स्वीकार किया। प्राचीन भारत में अधिकतर संस्थाओं की उत्पत्ति दैवी ही मानी जाती रही है और इसलिये राजा की उत्पत्ति का दैविक आधार मानना भी आश्चर्यजनक नहीं है। ऋग्वेद का त्रसदस्यु और अथर्ववेद का परीक्षित मात्र राजनीतिक सत्ता से ही सन्तुष्ट न होकर देवत्व का भी दावा करते हैं।[1]

जे. स्पेलमैन का मत है कि प्राचीन भारत मे राजा अलौकिक शक्तियों का धारक माना जाता था। यू. एन. घोषाल का भी कहना है कि प्राचीन भारत मे राजतंत्र को दैविक संस्था के रूप मे ही देखा जाता था। प्रो. अनंत सदाशिव अल्तेकर का भी मत है कि प्राचीन भारत में अधिकतर संस्थाओं की उत्पत्ति दैवी ही मानी जाती थी और राज्य की उत्पत्ति भी इसी प्रकार समझी जाती थी।[2]

निश्चय ही स्पेलमैन के मस्तिष्क पर मनु एवं अन्य कुछ विचारकों द्वारा राजा के बारे में बताये हुए गुणों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। मनु ने उदाहरणार्थ कहा है कि अपनी विशिष्ट शक्तियों के कारण ही राजा इस लोक पर शासन करता है। मनुस्मृति मे राजा के गुणो को देवत्व से जोड़ा गया है। यहाँ मनुस्मृति से ही एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है। "ऐसा राजा इन्द्र के समान ऐश्वर्यशाली, पवन के सदृश सबको स्पर्श करने और हृदय की बात जानने वाला, यम के समान पक्षपात रहित न्यायाधीश, सूर्य के समान न्याय, धर्म तथा विद्या का प्रकाश करने वाला, अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करने वाला, वरुण के समान दुष्टो को अनेक प्रकार से बांधने वाला, चन्द्र के समान श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्दित करने वाला तथा कुबेर के समान कोषों को भरने वाला होता है।" इसका अर्थ यह हुआ कि मनु के अनुसार राजा भी एक विशिष्ट देवता है जिसमें

---

1 राज्ञे विश्वजनीनस्य यो देवोमर्त्यां अति वैश्वानरस्य सुष्टुतिमा सुनोता परीक्षित: डॉ. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा द्वारा वैदिक राजनीति शास्त्र (बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना) में उद्धृत पृ 47.

2. ए.एस. अल्तेकर प्राचीन भारतीय शासन पद्धति (भारती भण्डार, प्रयाग), पृ 11.

एक नही आठ देवताओ के तत्त्व निहित हैं। मनु एक अन्य जगह राजा की अवज्ञा की अनुमति नहीं देते क्योंकि उसकी इच्छा ईश्वरीय इच्छा से प्रेरित है। स्पष्ट है कि मनु राज्य की दैविक उत्पत्ति के प्रबल समर्थक हैं।

प्रो विश्वनाथ प्रसाद वर्मा का तर्क यह है कि यह दैविक सिद्धान्त इस अर्थ मे नही है कि राज्य या राजा की उत्पत्ति स्वय ईश्वर ने की है। इसे दैविक सिद्धान्त इसलिये कहा जाने लगा कि ईश्वर और राजा के कार्यों में समानता है और इसलिये राजा के पद को वैधता मिल गयी। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है। कुल मिलाकर यही माना गया कि केवल अच्छा राजा ही ईश्वर का अंश है और राजा वंशानुगत अधिकार की वजह से नही बल्कि पूर्व जन्म मे अर्जित अपने पुण्यों के कारण शासन करता है। जनता का कर्त्तव्य केवल गुणी राजा की आज्ञा पालन करने से है जो कि धर्म की रक्षा करता है न कि ऐसे शासक की आज्ञा माने जो कि एक आततायी हो।

के एम पणिक्कर (ओरीजिन एण्ड इवोल्यूशन ऑफ किंगशिप इन एसियन्ट इण्डिया) एवं बी के सरकार इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राजा व्यक्ति के रूप में दैविक नहीं था बल्कि उसके द्वारा सम्पादित किये जाने वाले कार्यों की प्रकृति दैविक थी। कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि पश्चिम की भांति राज्य की उत्पत्ति दैविक का सिद्धान्त नहीं था। हिन्दू विचारक एक आततायी राजा की अवज्ञा को उचित ठहराते हैं और यहाँ तक कहते हैं कि ऐसा राजा त्याज्य है। एक विदेशी विद्वान सी. ड्रेकमेयर अपनी पुस्तक "किंगशिप एण्ड कम्युनिटी इन अरली इण्डिया मे प्रतिपादित करते हैं कि हिन्दू राजनीतिक चिन्तन में सामाजिक समझौते एवं दैविक अधिकार के सिद्धान्त एक रहस्यमय ढंग से जुड जाते हैं। इनका कथन है कि हिन्दू राजा को वे उन्मुक्तियाँ उपलब्ध नहीं थी जिनका कि पश्चिमी राजा दावा करता था। ड्रेकमेयर के अनुसार ब्राह्मण, जो कि धर्म का प्रतिनिधित्व करते थे मध्ययुगीन यूरोपीय चर्च की भाँति पद सोपान नियमो के अनुसार संगठित नहीं थे। यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्राचीन भारत मे राजा के पद मे ईश्वरीय गुणों के समावेश की कामना की गयी है ताकि वह सद्‌गुणी बनकर न्याय करे।

राजा का निर्वाचन : राज्य की उत्पत्ति

डी आर भंडारकर, ए के. कुमारस्वामी (स्प्रिचुएल अथोरिटी एण्ड टेम्पोरल पावर इन दि हिन्दू थ्योरी ऑफ गवर्नमेंट),सी. ड्रेकमेयर एवं कुछ अन्य विद्वानो का मत है कि वैदिक काल में राजा का निर्वाचन होता था। प्रोफेसर अल्तेकर का मत है कि 'प्राचीन भारत में राजा निर्वाचित होता था या नहीं इस पर बहुत मतभेद हैं। वैदिक काल के पूर्व भाग में अवश्य निर्वाचन के कुछ उल्लेख मिलते हैं। यहाँ ऋग्वेद में एक स्थल पर विशों द्वारा राजा के निर्वाचन का उल्लेख है। अथर्ववेद में भी एक स्थल पर विशों द्वारा राजा के वरण की कामना की गयी है पर सम्भवत. साधारण जनता निर्वाचन में सम्मिलित

नही होती थी। शतपथ ब्राह्मण में एक उल्लेख मे कहा गया है कि अन्य राजागण मानें वही राजा होता है दूसरा नहीं। राज्याभिषेक के एक मंत्र मे याचना की गयी है कि अभिषिक्त राजा अपने श्रेणी के व्यक्तियों मे प्रतिष्ठित हो। अतः अधिक सम्भव है कि जनता के नेता, कुलपति और विशपति ही राजा का वरण करते रहे हों और साधारण जनता अधिक से अधिक प्राचीन रोम की क्यूरिया (जनसाधारण) की भांति उनके निर्णय पर सहमति देती रही हो।

वैदिक काल मे राजा के बारे में पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है। राज्य की उत्पत्ति के बारे में कोई विशेष सिद्धान्त दृष्टिगोचर नहीं होता लेकिन चूँकि राजा के निर्वाचन का उल्लेख है इसलिये एक प्रकार से समझौता सिद्धान्त का उल्लेख किया जा सकता है। ऋग्वेद में वर्णित है कि जनता अपनी रक्षा हेतु दिव्य गुणों वाले व्यक्ति का चयन करती है।[1] (उसे शासन करने के लिए स्वेच्छा से आमंत्रित करती है) अथर्ववेद में भी ऐसा वर्णन आया है कि सम्राट को ब्राह्मणों ने चुना है अतः उसे आह्वान किया गया है कि वह राष्ट्र के कल्याण में संलग्न हो।[2] ऋग्वेद में ऐसा वर्णन आता है कि जिसमे प्रजा राजा को कहती है कि हे राजन हमने तुम्हें प्रजाओं में से बुलाया है, शासन करने के लिए राज्यचक्र के भीतर रहो, ध्रुव और अविचलित होकर सिंहासन पर बैठो, सारी प्रजायें तुम्हें चाहें और कभी राज्य तुम से अलग न हो।[3]

यजुर्वेद में वर्णित है कि राजा प्रजा से सत्ता माँग रहा है। 'अर्येत रथ राष्ट्र दा राष्ट्रं में दत्त स्वाहा'।[4]

हे प्रजाओं तुम अर्थ (ऐश्वर्य) को लक्ष्य में रखकर चलने वाली, व्यवहार करने वाली हो, तुम राष्ट्र देने वाली हो, मुझे राष्ट्र दो, मैं विधिपूर्वक वाणी से माँग रहा हूँ।"

अथर्ववेद के सातवें कांड के 12वें सूक्त में राजा सभा और समिति से अपनी रक्षा की याचना कर रहा है।

> सभा च मा समितिश्चावतां,
> प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।

---

1 विशं विशातोवसे देवं, भर्तास कतये।
अग्निं गीर्भिर्हवामहे। (ऋग्वेद 8, 11, 6)

2. त्वामहे वृणते ब्राह्मणा इमें
शिवो अग्ने संवरणे भवानः (अथर्ववेद, 2, 6. 3)

3 आत्वाहार्षमन्तार भू ध्रुवस्तिष्ठा विचा चलता, विशस्त्वा सर्वावाञ्छन्तु मात्वद्राष्ट्रमधि भ्रशतो। (ऋग्वेद 10, 173)
आचार्य नियत्रत वेदवाचस्पति द्वारा वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त, मीनाक्षी प्रकाशन में उद्धृत पृ 603.

4. यजुर्वेद 10 3 आचार्य, नियत्रत वेदवाचस्पति द्वारा उद्धृत वही पुस्तक पृ 597.

येना सग च्छा उपमास शिक्षा च्चारु
वदानि पितर सगतेषु ।[1]

सभा और समिति मेरी रक्षा करे । ये सभा और समिति मुझ प्रजापति की राजा की दुहिता है । राज्य सबन्धी बातो को पूरा करने वाली है । मैं इनके जिस भी सभासद से मिलूँ उसके किसी भी विषय मे मैं विचार जानना चाहूँ तो वह मुझे उचित बात की शिक्षा दे । उस विषय मे ज्ञान और अनुभव के आधार पर सत्य और हित की बात ही बताये । हे प्रजा के और मेरे पितृस्थानीय सदस्यो इन सभा और समिति के अधिवेशनो मे रोचक भाषण मैं करूँगा ।

अथर्ववेद मे उल्लेख है कि प्रजा राजा से यह अपेक्षा करती है कि वह उनके कल्याण के लिए कार्य करे ।

आरभस्वर जात वेदोस्माकार्थाय जज्ञिषे ।[2]

राष्ट्र मे धन व ज्ञान को बढाने वाले हे सम्राट तू हमारे कल्याण के लिए उत्पन्न हुआ है, तू पराक्रम के कार्य कर ।

ऋग्वेद मे वर्णन आता है जिसमे स्पष्ट है कि प्रजा राजा को चुनती है । विशो न राजानं वृणानं ।[3]

सम्बन्धित साहित्य के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि राजा के औपचारिक निर्वाचन की प्रथा धीरे धीरे समाप्त होती चली गयी । कई स्थानो पर यह उल्लेख मिलता है कि राजा के निर्वाचन को लेकर कुलपतियो और विशपतियो मे गुटबन्दी के कारण कभी कभी राजा को पद तक छोडना पडा है । अत अनुकूल अवसर पाकर राजाओ ने स्वय को सुदृढ करने का प्रयास किया जिसके परिणामस्वरूप निर्वाचन पद्धति का लोप हो गया ।

सामाजिक समझौते का सिद्धान्त

प्राचीन ग्रन्थों मे मत्स्य न्याय का वर्णन आता है । मत्स्य न्याय के मुख्य लक्षण हैं — मानव का निहायत स्वार्थी होना, लुटेरों एवं आततायियो के अत्याचार एव नृशंस कार्य, शक्तिशाली व्यक्तियों द्वारा निर्बल लोगो का दमन एवं पारिवारिक जीवन का अभाव ।

ऋग्वेद में भी मानव स्वभाव के क्रूर एवं स्वार्थी होने का उल्लेख अवश्य मिलता है यद्यपि मत्स्य न्याय का उसमें कोई सीधा उल्लेख नहीं है ।

1 अथर्व वेद वेदवाचस्पति द्वारा उद्धृत वही पुस्तक, पृ 206-7.
2 अथर्ववेद 1 7 6 अथर्व वेद वेदवाचस्पति, वही पुस्तक पृ 165
3 ऋग्वेद 10 124, 8

डी आर भडारकर ने राज्य की उत्पत्ति मे सामाजिक समझौते के सिद्धान्त को महत्वपूर्ण मानते हुए हाब्स, लॉक और रूसो के सिद्धान्तो से तुलना करते हुए हिन्दू चिन्तन के ठोस वैचारिक आधार को समझाने का प्रयास किया है लेकिन वह स्वय मानते है कि पश्चिमी सिद्धान्त से इसका तादात्म्य नहीं बैठता । यू एन. घोषाल इतना भी मानने को तैयार नहीं है । भडारकर के कथन के पीछे तर्क यह है कि धर्मसूत्र मे यह वर्णित है कि राजा का कार्य जनता की रक्षा करना है और इसके बदले पैदावार का 1/6 भाग उसे वेतन के रूप मे प्राप्त होगा । पी एन. बनर्जी (पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन एन्सियन्ट इण्डिया) ने इसका अर्थ यह निकाला है कि यह राजा और प्रजा के बीच स्पष्ट समझौता है । भडारकर इस बात से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यह एक तरफा समझौता नहीं है क्योंकि निर्वाचित राजा अपने कर्तव्य पालन करने का व्रत लेता है और जनता उसकी एवज मे अपनी कृषि का एक भाग देती है ।

महाभारत मे भी ऐसा वर्णन आता है कि स्थिति से उबरने हेतु लोग कुछ नियमो के पालन करने का सकल्प लेते है और राजा की आज्ञा मानना स्वीकार करते हैं । लेकिन राजा किसी प्रकार का कोई वचन नहीं देता । इसका अर्थ यह भी लगाया जा सकता है कि लोगों के कोई प्राकृतिक अधिकार नही थे । लेकिन यू एन घोषाल इस मत के हैं कि प्राचीन साहित्य में ऐसे बहुत से दृष्टान्त मिलते हैं जिनसे यह व्याख्या की जा सकती है कि निर्वाचन से ही राजतत्र के पद का सृजन हुआ है । आर. पी. काग्ले (कौटिल्याज अर्थशास्त्र, ए क्रिटिकल स्टडी) ने मध्यम मार्ग चुना है । उनका कथन है कि यद्यपि प्राचीन भारत मे राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक सविदा सिद्धान्त के रूप मे विकसित नहीं हो पाया था लेकिन फिर भी जैसा कि अर्थशास्त्र मे उपलब्ध है राजतत्र की स्थापना के पीछे सामाजिक समझौते की भावना अवश्य है ।

शक्ति सिद्धान्त

हिन्दू विचारको ने दण्ड के बारे मे बहुत लिखा है । राजनीति को दण्डनीति भी कहा गया है । बृहस्पति दण्डनीति के महत्व को स्वीकार करते हैं । शुक्र तो यहाँ तक कहते हैं कि समस्त ज्ञान दण्डनीति में ही निहित है । महाभारत में दण्डनीति की प्रकृति का विशद विवेचन है । मनु ने दण्ड के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए बताया है कि यदि राजा दण्ड का प्रयोग नहीं करे तो बलवान आदमी कमजोर पर दमन करेगा । मनु दण्ड को ही वास्तविक राजा, वास्तविक नेता और वास्तविक सरक्षक बताते हैं । यह ईश्वर त्त्व की ओर अग्रसर कदम है । दण्ड की अवधारणा पर यथा स्थान विस्तार से लिखा जा रहा है ।

दण्ड का दूसरा अर्थ शक्ति है जिसका राज्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान है । जे सेलनैन का मत है कि राज्य की उत्पत्ति के सैद्धान्तिक आधार के रुप मे शक्ति सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । के. वी कृष्णा (थ्योरीज ऑफ किंगशिप इन एन्सियेन्ट इण्डिया) का कथन

है कि हिन्दू विचारक दण्ड को ही राजनीतिक समाज का आधार मानते थे। राज्य, न्याय और समाज के विकास में यह मूल सिद्धान्त रहा है।

सार रूप में यही कहा जा सकता है कि राज्य की उत्पत्ति में शक्ति सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह तार्किक भी नजर आता है। शक्तिशाली व्यक्ति, परिवार या कुनबे ने अपनी शक्ति के आधार पर एक भू-भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और वहाँ रहने वालो को अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश कर दिया। उसने उनसे किसी रूप मे कर वसूल करना प्रारम्भ कर दिया और उन्होंने यह आशा रखी कि वह इसके बदले उन्हें संरक्षण प्रदान करेगा। यह विशुद्ध शक्ति सिद्धान्त है, इसमें इकरार नहीं है।

पितृ प्रधान सिद्धान्त

यद्यपि राज्य की उत्पत्ति के पितृ प्रधान सिद्धान्त के बारे मे ज्यादा सामग्री नहीं मिलती है, लेकिन यह विचार भी तर्कसंगत लगता है कि आर्य जातियों में पितृ प्रधान सम्मिलित कुटुम्ब पद्धति के बीज से ही राज्य रूपी संस्था का अंकुरण हुआ हो।

प्रोफेसर ए एस अल्तेकर ने इसके बारे में कुछ विस्तार से लिखा है। उनका कथन है कि तुलनात्मक भाषा विज्ञान से इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि आर्य सम्मिलित कुटुम्बों में ही रहते थे। समस्त आर्य जातियों मे परिवार के मुखिया के अधिकार प्रायः राजा के ही समान थे। बहुत सारे कुटुम्ब प्राय आसपास और एक साथ ही रहा करते थे। ऋग्वेद से मालूम होता है कि तत्कालीन आर्यों का समाज कुटुम्बों, जन्मनों, विशो और जनों में बँटा हुआ था। जन्मन् संभवत एक ग्राम होता था जिसमें एक ही पूर्वज के वंशज रहते थे। ग्रामों के समूह को विश और उसके मुखिया को विशपति कहते थे। अनेक विश मिलकर जन का निर्माण करते थे और इसके मुखिया को जनपति या राजा कहा जाता था। यह एक दिलचस्प बात है कि प्राचीन रोम और वैदिक समाज व्यवस्था मे बड़ी समानता थी। प्रोफेसर अल्तेकर के अनुसार स्पष्ट है कि 'अन्य आर्य जातियों की भाँति भारत मे भी प्रागैतिहासिक काल मे संयुक्त कुटुंब से ही शासन संस्था का विकास हुआ। कुटुम्ब के गृहपति का आदर और मान स्वाभाविक था। ग्राम के मुखिया और जनपति भी इसी परंपरागत सम्मान के पात्र हुए और कालांतर में ये ही सरदारों और राजाओं के पद पर प्रतिष्ठित हुए। राज्यो के विस्तार के साथ राजा के अधिकारो का भी विस्तार होता रहा।'[1]

राज्य के प्रकार

राज्य के प्रकारों को लेकर विद्वानों मे भी मतभेद है। यद्यपि अधिकांश विद्वान इसी मत के हैं कि प्राचीन भारत मे नृपतंत्र ही प्रचलित था तथापि अत्रेय ब्राह्मण एवं

---

1 ए एस अल्तेकर: वही पुस्तक, पृ 17

अन्य स्रोतों के आधार पर राज्य के छ प्रकार माने गये हैं, ये है- राज्य, स्वराज्य, भौज्य, वैराज्य, महाराज्य और साम्राज्य। इसके अलावा कुछ और भी राज्यों का वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ आचारंग सूत्र के अनुसार साधु साध्वियों को अराज्य, गणराज्य, युवराज्य, द्वैराज्य, वैराज्य और विरुद्‌राज्य में प्रवेश नहीं करना चाहिये। इन सब राज्यों के बारे मे विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं है। काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि भौज्य स्वराज्य और वैराज्य राज्यों की प्रकृति जनतांत्रिक थी। स्वराज्य में निर्वाचित राज्याध्यक्ष होता था जबकि वैराज्य मे संप्रभुता जनता मे निवास करती थी। वैराज्य के बारे में कुछ विद्वानों का मत है कि यह राजाविहीन राजनीतिक समुदाय था,लेकिन यू. एन. घोषाल की मान्यता है कि वैराज्य मे विदेशियो का शासन होता था। विरुद राज्य को लेकर घोषाल, जायसवाल और अल्तेकर पृथक् पृथक् मत रखते हैं। घोषाल के अनुसार विरुद राज्य वह है जहाँ दुश्मन का राज हो, जायसवाल के अनुसार यह एक दल का शासन है। अल्तेकर का मत है कि यह एक संयुक्त राज्य होता था जिसमे उन राजाओं के झगड़े के कारण इसे वैराज्य कहा जाता था। प्राकृत मे यह विरुद राज्य कहा जाता है। अल्तेकर के अनुसार संयुक्त राज्य के राजाओं में यदि मेल मिलाप होता था तो उसे द्वैराज्य कहा जाता था। अराजक राज्य के बारे में भी अल्तेकर और जायसवाल में मतभेद हैं। महाभारत में इसका उल्लेख मिलता है जिसके आधार पर जायसवाल कहते हैं कि यह एक आदर्श राज्य था जिसमे विधि का शासन था और जनता की सहमति ही इसका आधार था। अल्तेकर कहते हैं कि यह भ्रामक है। एन.एन. ला (एसपेक्टस ऑफ एंसियन्ट इण्डियन पोलिटी) एवं बी. ए. सेल्टोर भी अल्तेकर की राय से सहमत हैं।

राजा, महाराजा, सम्राट, विशपति, जनपति, स्वराज, भौज्य आदि उपाधियाँ राजाओं के पद, राज्य की सीमा, उनके गौरव या युद्ध मे प्राप्त विजय के आधार पर दी जाती थीं। ये उपाधियाँ कौन देता था या वे स्वयं ही ग्रहण कर लेते थे इसके बारे मे कहना मुश्किल है। वैसे सम्राट बहुत ही विशाल राज्य का अधिपति ही होता था, लेकिन साधारण राज्य के स्वामी भी किसी सामरिक विजय के उपलक्ष मे सम्राट का पद ग्रहण कर लेते थे। इस संबन्ध में प्रोफेसर अल्तेकर का यह कथन ठीक प्रतीत होता है। 'राज्याभिषेक मे कभी कभी कहा गया है कि इस संस्कार से शासक को एक साथ राज्य, स्वाराज्य, भौज्य, वैराज्य, महाराज्य और स्वराज्य पद प्राप्त होंगे। इससे संदेह होता है कि ये उपाधियाँ विभिन्न प्रकार के राज्यों की सूचिका है या नहीं। यह भी हो सकता है कि राज्याभिषेक संस्कार का महत्त्व दिखाने के लिए ही पुरोहित ने कह दिया हो कि इससे इन सब विभिन्न पदो की प्राप्ति हो सकती है। इस धारणा का समर्थन ऐतरेय ब्राह्मण के इस कथन से भी होता है कि देश के विभिन्न भागों में राज्य, भौज्य, वैराज्य और साम्राज्य आदि विविध प्रकार के राज्य थे।[1]

---

1 ए एस अल्तेकर; वही पुस्तक, पृ 18-19

यहाँ पर यह स्पष्ट करना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि ये राज्यो के प्रकार न होकर केवल भौगोलिक महत्त्व की अभिव्यक्ति हो । एन सी बदोपाध्याय (डवलपमेंट ऑफ हिन्दू पोलिटी एण्ड पोलिटिकल थ्योरीज) एव एन एन ला इसका समर्थन करते हैं । यू एन घोषाल का मत है कि यह केवल क्षेत्रीय वर्गीकरण का सूचक है जबकि *डी आर भंडारकर इसे राज्य के स्तर का सूचक भी मानते हैं ।*

राज्य के प्रकारो के बारे मे चर्चा करते हुए यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि राज्य सघ (जिसे आजकल सघात्मक राज्य कहा जाता है) एवं सम्मिलित राज्यो का भी वर्णन आता है । चूंकि चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य के पूर्व राज्यो का आकार बहुत विस्तृत नहीं होता था इसलिये देश मे प्राय एकात्मक राज्य व्यवस्था ही थी । लेकिन फिर भी यौधेय और लिच्छवि मल्ल सघ राज्यो का उल्लेख मिलता है । यौधेय गणराज्य तीन उप राज्यो का सघ था । लिच्छवि मल्ल सघ के मंत्रिमडल मे आधे आधे सदस्य दोनो राज्यो से लिये जाते थे । अल्तेकर का मत है कि सभवत राज्य सघो की केन्द्रीय सत्ता केवल परराष्ट्र नीति का सचालन और सधि विग्रह का निश्चय करती थी । अन्य विषयो मे राज्य स्वतत्र थे । युद्ध के लिए सघातरित राज्य अपनी सयुक्त सेना का एक ही सेनापति नियुक्त करते थे । सिकन्दर के आक्रमण के समय क्षुद्रक मालव राज्यो ने एक रणविशारद और वीर क्षुद्रक सेनानायक को ही सयुक्त सेना का अधिपति बनाया था जिसके शौर्य और कौशल का बोलबाला था ।[1]

राज्य

अवधारणा, उद्देश्य एव कार्य

उस समय जबकि समकालीन विश्व साहित्य मे राज्य की कोई स्पष्ट अवधारणा उपलब्ध नहीं थी भारतीयो ने राज्य को भली प्रकार समझ कर इसका समाज से अन्तर स्पष्ट किया । उदाहरणार्थ यूनानी विचारक राज्य और समाज मे कोई स्पष्ट अन्तर नहीं कर पाये ।

उन्होंने यही कहा कि परिवार का विकसित स्वरूप राज्य है । वैदिक और उत्तरवैदिक काल का यूनानी काल से बहुत पहले का है । भारतीयो ने राज्य के महत्त्व को समझा लेकिन इसे उन्होंने समाज के ऊपर या उसके समकक्ष नहीं माना । पश्चिमी विचारको की भांति उन्होंने कभी राज्य के सर्वाधिकारी स्वरूप को स्वीकार नहीं किया । मुसोलिनी और हिटलर जैसे तानाशाहो की बात को चाहे हम गम्भीरता से न ले, हीगल जैसे विचारक ने राज्य को पृथ्वी पर ईश्वर की गति मानकर उसके भीमकाय विराट और सर्वव्यापी स्वरूप को स्वीकार किया है । भारतीय चिन्तको ने कभी प्लेटो के राजा हुई चौदहवें की तरह यह

---

1 ए एस अल्तेकर, वही पुस्तक पृ 21

नहीं कहा कि 'मैं ही राज्य हूँ। मेरी इच्छा ही कानून है। मैं ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप मे ही पृथ्वी पर शासन करने आया हूँ।' इंग्लैंड का राजा जेम्स प्रथम भी स्वय को ईश्वर का प्रतिनिधि ही मानता था। कहने का अर्थ यह है कि भारतीयो के चिन्तन मे राज्य और समाज को लेकर किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं थी।

भारतीयों ने राज्य और समाज को पृथक्-पृथक् माना है और साफ तौर पर कहा है कि समाज धर्म की व्याख्या और उसका निर्धारण करता है जबकि राज्य का कार्य इसे कार्यान्वित करना है। दूसरे शब्दो मे, राज्य समाज का अनुचर है जिसका कार्य स्वामी की इच्छा का पालन करना है। प्रोफेसर बेनीप्रसाद के अनुसार प्राचीन भारतीय राज्य की प्रकृति बहुलवादी थी और यह अन्य सगठनो को अपने ढग से विकसित होने देना चाहता था और उनके लिए राज्य के प्रति वफादारी आवश्यक नहीं थी। अरविन्द का भी यह मत है कि समाज मे भिन्न भिन्न सगठनो, स्वायत्त समूहो को एक साथ बाधे रखना एव उनकी गतिविधियों के मध्य समन्वय स्थापित करने का कार्य राज्य का था। इस प्रकार सामुदायिक स्वतत्रता एव आत्म निर्णय का अधिकार सुरक्षित था।

जहाँ तक राज्य और समाज का सम्बन्ध है भारतीय चिन्तन और पश्चिमी चिन्तन मे जान लॉक के विचारो मे काफी समानता है। लॉक राज्य की उत्पत्ति के पूर्व एक सभ्य समाज का चित्र प्रस्तुत करते हैं और राज्य की शक्तियों का स्रोत समाज को मानते हैं। प्राचीन भारत मे राज्य और समाज में अन्तर स्पष्ट किया गया जो कि यूनानी चिन्तन मे भी नहीं हो पाया। दूसरी एक मुख्य बात यह थी कि राज्य को राजा से भी पृथक् किया गया। तीसरी मुख्य बात यह थी कि कानून को राज्य से ऊपर माना गया है। अतिम महत्वपूर्ण बात यह है कि राज्य या राजा कानून का निर्माता नहीं है। इनका काम तो उन कानूनों और नियमो को कार्यान्वित करना है जो समाज ने बनाये हैं या परम्परा से चलते चले आये है।

सार यह है कि समाज और राजा के बीच के सबन्धो को स्पष्ट करना प्राचीन भारतीय चिन्तन की विशेषता रही है। यह भारतीयो का योगदान माना जायेगा। दूसरे शब्दो मे यह अवधारणा राज्य को निरकुश होने से रोकती है क्योंकि उसका कार्य तो समाज द्वारा निर्धारित धर्म, मर्यादा, मूल्य और आयामो पर आधारित जीवन के समक्ष उपस्थित होने वाली बाधाओं को दूर करना है। राज्य एक गतिशील संस्था है। अरविन्द ने आदर्शवादी दृष्टिकोण रखा है। उनके अनुसार प्राचीन भारतीय राज्य सामूहिक आत्मा, शरीर और मस्तिष्कधारी सामाजिक अस्तित्व का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व करता था।[1] भडारकर का मानना है कि यह राजनीतिक चिन्तन को हिन्दुओ की विशिष्ट देन है।

---

1 उच मेहता और आर डैनियागन, पॉलिटिकल थट इन एंशियन्ट इण्डिया, ए सर्वे ऑफ रिसर्च इन पॉलिटिकल साइन्स, एलाइड पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ 63

राज्य के अंग

सप्तांग सिद्धान्त

आजकल हम राज्य के चार अंग भूमि, जनसंख्या, संप्रभुता और साकार मानते हैं, लेकिन प्राचीन काल मे राज्य के सात अंग माने जाते थे। यद्यपि अनेक विचारको ने राज्य के कई अंगो का उल्लेख किया है, लेकिन सप्तांग सिद्धान्त के प्रणेता अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य ही हैं। ये सात अंग हैं– स्वामी (राजा), अमात्य (मंत्रिमण्डल), जनपद (भूमि), दुर्ग (किला), कोष, दण्ड (सेना) और मित्र। दण्ड को कई पुस्तको में बल भी कहा गया है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में जो पाचवीं शताब्दी का ग्रंथ माना जाता है, दो नये तत्त्व दिये गये हैं और ये हैं साम (सुलह शांति की विधा) और दान। शांतिपर्व मे अष्टांगिका राज्य का उल्लेख आता है लेकिन आठवें तत्त्व का कहीं वर्णन नहीं है। कुल मिलाकर कौटिल्य का सप्तांग राज्य का सिद्धान्त ही सर्वाधिक प्रचलित और लोकप्रिय रहा है।

राज्य की सप्त प्रकृति अर्थात् सात अंगो का वर्णन करते हुए कौटिल्य राजा को सर्वाधिक महत्त्व देते है क्योंकि वह ही धर्म का संरक्षक है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि राजा निरंकुश या आततायी बन जाये। कौटिल्य ने राजा की योग्यताओं का वर्णन करते हुए स्पष्ट चेतावनी दी है कि उसे दूरदर्शी और ज्ञानी होना आवश्यक है तथा उसकी इन्द्रियाँ उसके नियंत्रण मे होनी चाहिये।

सप्तांग राज्य को आंगिक दृष्टि से भी समझा जा सकता है। राज्य एक जीवित प्राणी है जिसके पशु या पौधे की भाँति अंग हैं जो अपना अपना निर्धारित कार्य करते हैं। ये अंग एक दूसरे पर निर्भर और अस्तित्व के लिए जरूरी भी हैं।

इन सात अंगों का संक्षेप मे वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है। स्वामी अर्थात् राजा राज्य का मूलाधार है। कौटिल्य के अनुसार राजा मे अद्वितीय गुण होने चाहिये। उसे जनता की खुशी मे अपनी खुशी समझनी चाहिये। उसकी अपनी कोई खुशी नहीं है। प्रजा की खुशी मे ही राजा की खुशी है। उनके कल्याण मे उसका कल्याण निहित है। स्वयं जिससे खुश होता हो उसे वह अच्छा नहीं समझे।[1] राजा को संवेदनशील होना चाहिये, गरीबो, अपाहिजो, वृद्धो, महिलाओ, बच्चों, बीमारो, असहायो की देखभाल करने वाला, पशुओ और धर्मस्थानो की ओर ध्यान देने वाला, धर्म मे रुचि रखने वाला, दूरदर्शी, परिश्रमी, विद्वानों का सम्मान करने वाला, सहिष्णु, सद्गुणी, विषम परिस्थितियो में संतुलन बनाये रखने वाला, युद्ध विद्या मे पारंगत, मृदुभाषी लेकिन दूसरों की मीठी मीठी बातों से सतर्क रहने वाला होना चाहिये।

---

1 कौटिल्य का अर्थशास्त्र अनुवादक डॉ. श्याम शास्त्री, पुस्तक 1, अध्याय 19, पृष्ठ 38

राजा को महत्त्वाकांक्षी, गुणग्राही एव उत्साही होना चाहिये। व्यक्ति को समझने की उसमें क्षमता होनी चाहिये अन्यथा धोखा खा सकता है। कौटिल्य ने राजा की जो दिनचर्या निर्धारित की है उससे स्पष्ट है कि उसका प्रत्येक क्षण जनहित एवं प्रशासन में व्यतीत होना चाहिये। राजा के ऐश आराम को उसमें स्थान नहीं है। 24 घण्टों मे केवल 3 घड़ी अर्थात् 4-1/2 घण्टे निद्रा और मनोरंजन हेतु निर्धारित किये गये हैं। आगन्तुकों से उसे स्वयं को मिलना चाहिये यदि कहीं उसने यह कार्यवाही अधिकारियों पर छोड़ दी तो वह स्वयं संकट में पड़ जायेगा।

अन्य तत्त्वों में राजा के उपरान्त मंत्रीगणों अर्थात अमात्यों का स्थान है। कौटिल्य के अनुसार मंत्रियो का योग्य होना बहुत ही आवश्यक है। अमात्यों की नियुक्ति मे राजा को बहुत ही सावधानी बरतनी चाहिये अन्यथा राज्य और राजा दोनों के लिए ही संकट उत्पन्न हो जाएगा। मंत्रियों को राजा की आँख माना गया है। जनपद के सम्बन्ध में कौटिल्य भूमि की उपयोगिता का वर्णन करते हैं। वह उपजाऊ होनी चाहिये और साथ ही उसमें खनिज पदार्थ भी हों, पर्वतमालायें, नदी एवं वन भी होने चाहिये। जनता भी चरित्रवान हो, राज्य द्वारा लगाये जाने वाले करो का स्वेच्छापूर्वक भुगतान करने वाली हो ताकि राज्य समृद्ध रहे। दुर्ग राज्य की रक्षा के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने गये हैं। राज्य की सीमाओं पर दुर्गों का निर्माण आवश्यक है ताकि राज्य की शत्रुओ से रक्षा करने में सहायता मिल सके। कौटिल्य ने कई प्रकार के दुर्गों का वर्णन किया है जो कि भिन्न भिन्न परिस्थितियों मे काम में लिये जा सकें।

कोष

आचार्य कौटिल्य ने वित्त को बहुत महत्त्वपूर्ण माना है, इस पर सब कुछ निर्भर करता है। कोष की वृद्धि राज्य की समृद्धि है। जो अधिकारी आय कम करता है और खर्च बढ़ाता है उसे होने वाली क्षति से चार गुना दण्ड दिया जाना चाहिये। नियमानुसार कोष में जितना धन जाना चाहिये उतना नही पहुँचे तो दोषी अधिकारी को होने वाली क्षति का बारह गुना दण्ड दिया जाना चाहिये।[1] कौटिल्य ने कोष की वृद्धि हेतु प्रजा से अन्न का छठवाँ भाग, व्यापार लाभ का दसवाँ एवं पशु लाभ का पचासवाँ भाग तथा सोना कर के रूप में लेने की राय दी है।

दण्ड

कौटिल्य दण्ड को साध्य नहीं साधन मानते थे। अकारण दण्डित करना मूर्खता है। निर्दोष व्यक्ति को सजा देने पर राजा स्वयं अपराधी बन जाता है और ऐसा करने पर जितना उसने दण्ड दिया है उससे तीस गुनी राशि उसे वरुण देव को भेंट कर, पानी

1. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, अनुवादक डॉ. श्यामा शास्त्री, पृ 65-66

मे छोड देनी चाहिये और फिर यह ब्राह्मणो मे बॉट दिया जाय ।[1]

डॉ एस वी कृष्णराय एवं अन्य कुछ विद्वानो का मत है कि कौटिल्य प्रतिपादित दण्ड व्यवस्था को समाज की समृद्धि एव शांति हेतु आवश्यक मानते हैं। दण्डनीति सभी पुरुषार्थों का उद्गम है। दण्ड के द्वारा राजा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के उद्देश्य को प्राप्त करता है। यदि राजा यह क्षमता खो बैठता है तो पार्थिव एव अपार्थिव जीवन संकट मे आ जाएगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि कौटिल्य दण्ड व्यवस्था को 'सामाजिक व्यवस्था' के सदर्भ मे समग्र दृष्टि से देखते हैं। यह केवल सजा देना या कानून की व्यवस्था करना मात्र नही है बल्कि यह सम्पूर्ण सामाजिक सरचना का सूत्र है।

मनु ने भी दण्ड के महत्त्व को स्वीकारा है। राज्य का यह एक अपरिहार्य तत्त्व है जिसके बिना उसका अस्तित्व ही सभव नहीं है। दण्ड के अभाव मे राज्य का अस्तित्व ही संकट मे पड जायेगा। मनु के अनुसार दण्ड का धारक अर्थात् राजा असाधारण व्यक्ति ही होता है। उसके मर्यादित जीवन मे पवित्रता, श्रेष्ठता, निष्पक्षता एव उदात्त भाव होता है ताकि दण्ड का प्रयोग सार्वजनिक हित एव कल्याण के लिए हो सके।

मनु ने स्पष्ट कहा है कि दण्ड देना राजा के कार्यों में से एक है। यदि राजा विवेकपूर्ण एव न्यायोचित दण्ड नहीं देता है तो सब नष्ट हो जायेगा और यहॉ तक कि राजा स्वय नही बच पायेगा। यदि राजा दण्ड नहीं देता है तो भी खतरा उत्पन्न हो जाता है। ऐसा न करने पर बलवान दुर्बल की वह हालत कर देगे जो कि कढाई मे मछली की होती है। मनु राजा को चेतावनी देते हैं कि उसे अपनी इन्द्रियो का स्वामी होना चाहिये और केवल तब ही जनता उसकी आज्ञा पालन करेगी।

मित्र

मित्र भी कौटिल्य के अनुसार राज्य के सात अगो मे एक महत्त्वपूर्ण अंग है। सुख, दुख, शांति एव युद्ध, समृद्धि एवं विपदा सभी मे मित्र का होना आवश्यक है। जहॉं तक सभव हो मित्र आनुवशिक होना चाहिये न कि कृत्रिम। वैसे कौटिल्य का यह प्रसिद्ध कथन है कि स्थाई शत्रु और स्थाई मित्र नही होते, केवल हित स्थायी होते हैं। इसलिये मित्र ऐसा होना चाहिये जिससे हित न टकरावे ताकि कभी सम्बन्ध विच्छेद होने की सभावना ही न रहे। ऐसे सहज मित्र कहलाते हैं।

राज्य का उद्देश्य

प्रोफेसर ए एस अल्तेकर का कथन है कि वैदिक साहित्य मे यद्यपि राज्य के उद्देश्य के बारे में स्पष्ट तौर पर निरूपण नही मिलता है, लेकिन संबद्ध साहित्य मे राज्य

---

1 कौटिल्य का अर्थशास्त्र डॉ शामा शास्त्री, पुस्तक 4, अध्याय 13, पृ 2-65

का मुख्य उद्देश्य शांति व्यवस्था, सुरक्षा एवं न्याय की स्थापना करना है। राजा को कानून एवं व्यवस्था का संरक्षक माना गया है। राजा के मुख्य कर्त्तव्यों के अध्ययन से भी राज्य के उद्देश्यों का पता चलता है। प्रोफेसर आर. एस. शर्मा का कथन है कि राजा के मुख्य कर्त्तव्यों में चोरों को सजा देकर व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा और व्यभिचारियों को दण्डित कर पारिवारिक जीवन की पवित्रता की रक्षा करना है। शांतिपर्व, अग्नि पुराण और अपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार राजा की मुख्य जिम्मेदारी चोरी गयी सम्पत्ति को बरामद करना है। तमिल ग्रन्थों में भी वर्णन आता है कि राजा वह है जो धन को ग्रहण करके, सुरक्षित रखने और उचित वितरण करने में सक्षम हो। शांतिपर्व में राजा को गरीबों का हितैषी बताया गया है। मनु ने राजा को अठारह अपराधों के प्रति सचेत रहने को कहा है जिनमें दस अपराध सम्पत्ति और दो परिवार से सम्बन्धित हैं। कात्यायन ने दस अपराधों की ओर राजा का ध्यान आकर्षित किया है जिनमें पाँच संपत्ति और एक अपराध परिवार से जुड़े हैं। मृच्छकटिकम् और गरूड़पुराण में गरीबों को अधिकांश आर्थिक अपराध करने का दोषी बताया है।

संक्षेप में, यही कहा जा सकता है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की पालना ही राज्य का उद्देश्य है। ये चारों ही मानव जीवन में सन्तुलन बनाये रखने के लिए आवश्यक हैं। धर्म गुण और नैतिकता की वृद्धि करते हैं। अर्थ भौतिक जीवन के संचालन हेतु आवश्यक है। काम की रक्षा से शांति और व्यवस्था बनी रहती है ताकि निर्विघ्न प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को प्रसन्नता पूर्वक व्यतीत कर सके। मोक्ष अर्थात् जीवन मरण से मुक्ति मानव जीवन का ध्येय है। यहाँ मानव और राज्य दोनों के ध्येय एकाकार हो जाते हैं। आखिर राज्य मानव कल्याण हेतु ही तो है।

राज शक्ति पर नियंत्रण

राज शक्ति पर नियंत्रण से अभिप्राय राज्य और राजा दोनों पर ही अंकुश से है। प्राचीन भारत में यद्यपि शासन के कई प्रकार रहे हैं, लेकिन कुल मिलाकर राजतंत्र ही सर्वाधिक समय के लिए प्रचलित शासन प्रणाली रही है। राजा निरंकुश था अथवा नहीं इस पर अनेक मत मतान्तर रहे हैं। अधिकांश पश्चिमी लेखकों ने राजा को निरंकुश ही माना है, लेकिन अन्य विद्वानों जिनमें भारतीयों का बहुमत है ऐसा नहीं मानते। इस नियंत्रण को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। औपचारिक, संवैधानिक एवं संस्थागत और अनौपचारिक जिसमें परम्परा, नैतिक मूल्य सम्मिलित किये जा सकते हैं।

औपचारिक, संवैधानिक एवं संस्थागत नियंत्रण

राजा पर बहुत बड़ा नियंत्रण मंत्रिमण्डल का होता था। सभी विचारकों ने मंत्रिमण्डल की अपरिहार्यता पर बल दिया है। कौटिल्य ने तो यहाँ तक बताया है कि समस्त कार्य

मन्त्रिमंडल की राय से ही किये जाने चाहिये। राजा कितना ही बुद्धिमान क्यो न हो वह त्रुटि कर सकता है। अतः एक व्यक्ति के स्थान पर एक छोटे समूह द्वारा लिया गया निर्णय अधिक श्रेष्ठ, न्यायोचित एवं हितकारी होगा। यह अरस्तू के इस कथन से कितना मिलता जुलता है। अरस्तू का कथन है कि समिति अपने सर्वाधिक चतुर सदस्यों से ज्यादा चतुर होती है।

दीक्षितार ने मौर्य पोलिटी मे लिखा है कि मौर्यकालीन राजा इस अर्थ मे एक सवैधानिक राजा था कि उसे राज्य के कानून मानने पडते थे।[1] दीक्षितार ने उन सभी विद्वानो की कटु आलोचना की है जो इसे निरकुश मानते हैं। दीक्षितार का तर्क है कि यदि निरकुशता से अभिप्राय एक ऐसे निरंकुश शासन से है जहाँ शासक सर्वेसर्वा है और उस पर न किसी का प्रभाव है और न ही किसी का नियत्रण तो यह बात मौर्यकालीन राजाओ पर लागू नहीं होती। दीक्षितार ने स्पष्ट किया कि प्राचीन हिन्दू राजा विधि निर्माता नहीं थे।[2] कानून शाश्वत है और यह धर्मशास्त्रो मे श्रुति के आधार पर अंकित है। राजा को राज्य के कानून के मुताबिक चलना पडता था और विधि वेत्ताओ द्वारा निर्धारित व्याख्या को स्वीकार करते हुए आचरण करना पडता था। प्रचलित कानून का उल्लघन करना अधार्मिक आचरण माना जाता था। स्थापित विधि का उल्लघन करने पर जनता उसके विरुद्ध बगावत कर सकती थी और उसे गद्दी से उतार कर और दूसरे को राजा बना सकती थी। इस प्रकार विधि ग्रन्थो मे निहित कानून ही मे सप्रभुता निवास करती थी।[3] सार यह है कि राजा राज्य के लिए कानून बनाने मे अक्षम था। इ. बी हवैल[4] जनविधि के रूप निर्धारित ब्रिटेन की संसद को प्राचीन इन्डो-आर्यन व्यवस्था से अधिक कुशल नही मानते।

कौटिल्य ने मत्रिपरिषद के बहुत विस्तृत कार्य बताये हैं जिनमे प्रमुख हैं- नये कार्य को प्रारम्भ करना, चल रहे कार्यों को सम्पन्न करना, नये कार्यों के प्रारम्भ करने की संभावनाओ को ढूढना तथा प्रशासन मे चुस्ती और अनुशासन का संचार करना। राजा प्राय मंत्रिपरिषद के सदस्यो से मंत्रणा करके ही अपनी स्वीकृति या अस्वीकृति प्रदान करता था। संकटकालीन स्थिति में जहाँ तत्परता से काम करना होता मंत्रिपरिषद की तत्काल बैठक बुलाकर राजा मंत्रियों और सलाहकारों की मंत्रणा के अनुसार ही कार्य करता था। उपलब्ध सामग्री[5] से चार मुख्य तथ्य स्पष्ट होते हैं- (1) राजा के आदेशो को अधिकारियों के माध्यम से मंत्रिपरिषद कार्यान्वयन कराता था, (2) राजा आवश्यकतानुसार

1 वी आर आर दीक्षितार मौर्यन पोलिटी, पृ 90
2. वी आर आर दीक्षितार मौर्यन पोलिटी, पृ 91
3 वी आर आर दीक्षितार मौर्यन पोलिटी, पृ 91
4 इ बी हवैल हिस्ट्री ऑफ आर्यन रूल इन इण्डिया, इन्ट्रोडक्शन, xiii. xiv.
5 डी आर भंडारकर और मजूमदार शास्त्री इनस्क्रिप्शन्स ऑफ अशोक, पृ 59-62.

मंत्रि-परिषद की बैठक आहूत करता था (3) राजा तब ही हस्तक्षेप करता था जबकि मंत्रि-परिषद के सदस्यों में मतभेद हो, (4) मंत्रि-परिषद व राज्य के अधिकारियों पर नियंत्रण करता था। इन्हीं सभी तथ्यों पर विचार करने के उपरान्त काशीप्रसाद जायसवाल इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मंत्रिपरिषद इतनी शक्तिशाली होती थी कि सम्राट वास्तव मे अपनी सप्रभु शक्ति से वंचित ही रहता था।[1]

मंत्रि-परिषद कितनी शक्तिशाली थी इसके पक्ष मे कुछ अन्य ठोस प्रमाण उपलब्ध हैं। विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस मौर्यकालीन राज व्यवस्था[2] का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है। इसमे प्रधान मंत्री और मंत्रिपरिषद को प्रदत्त शक्तियों के संदर्भ में राजा द्वारा अफसोस जाहिर किया गया है कि उसके पास कोई शक्ति ही नहीं बच गई है।

दिव्यावदान में एक उद्धरण से स्पष्ट है कि राजा को उसके भृत्यों ने सत्ता से च्युत कर दिया है।[3] यूनानी लेखक अरियन का यह वक्तव्य भी महत्त्वपूर्ण है जो कि दिव्यावदान में उद्धृत है। यह है कि परामर्श दाताओ की सातवीं जाति है जिसके कार्य उन समस्याओ पर विचार करना है। इसका कौटिल्य के इस कथन से मेल खाता है कि एक सुनिर्मित कौंसिल द्वारा सभी प्रशासनिक कार्यों पर विचार किया जाता था।

डी. आर. भंडारकर एवं कुछ अन्य विद्वान इस बात से सहमत नहीं हैं कि प्राचीन भारतीय राजा और विशेष तौर पर मौर्यकालीन राजा केवल संवैधानिक सत्ता का उपयोग करते थे। भंडारकर का कथन है कि जिस प्रकार बच्चे पूर्णतया अपने माँ बाप पर निर्भर करते हैं उसी प्रकार प्राचीन भारत में प्रजा राजा पर आश्रित थी।[4] क्या माँ बाप निरंकुश होते हैं ? ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि माँ बाप बच्चे को दण्डित भी करते हैं तो भी उसका हित, उसकी प्रसन्नता, उसका विकास ही उनके मस्तिष्क मे सर्वोपरि होता है। माँ बाप और बच्चे के सम्बन्ध गहन स्नेह पर आधारित होते हैं। यदि प्राचीन भारत मे राजा और प्रजा के संबन्ध माँ बाप बेटे जैसे थे तो इससे अधिक मधुर बात और क्या हो सकती है ? अशोक के शिलालेख यह स्पष्ट करते हैं। 'समस्त प्रजा मेरे बच्चे हैं। उनकी ओर से मैं इच्छा प्रकट करता हूँ कि उन्हें सारे विश्व की प्रसन्नता हासिल हो, उनका कल्याण हो'। कौटिल्य ने भी यही बात कही है, वही राजा सुखी है जिसकी प्रजा सुखी है। अशोक ने प्रजा को सुखी बनाने के लिये ही तो युद्ध का रास्ता त्यागा था और अपनी और राज्य की सारी शक्ति उनके कल्याण के लिए अर्पित कर दी थी, जिनमें मनुष्यों और यहाँ तक कि पशुओ के लिए चिकित्सालय, विश्रामगृह, सड़कें, पेड़ पौधे, कुँओं,

---

1. डी. आर. आर. दीक्षितार द्वारा उद्धृत मौर्यन पॉलिटी, पृ. 96.
2. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया वॉल्यूम I, पृ. 467.
3. डी. आर. आर. दीक्षितार द्वारा उद्धृत मौर्यन पॉलिटी, पृ. 97
4. भंडारकर डी. आर. एवं मजूमदार शास्त्री: इन्सक्रिपसन्स ऑफ अशोक, पृ. 63.

सिंचाई के साधन यथा संभव मांसाहार निषेध एवं प्रजा के धार्मिक और नैतिक उत्थान हेतु अनेक कार्य सम्मिलित थे। अशोक ने तो घोषणा कर दी थी कि वह प्रजा के कार्य हेतु हरदम उपलब्ध रहेगा, चाहे वह स्नान या भोजन ही क्यों न कर रहा हो। एल. राइस[1] का मत है कि प्रजा की भलाई चाहे वे ऊँचे या नीचे वर्ग मे क्यो न हो राजा का पवित्र कर्त्तव्य था और भलाई का कार्य राजा के राज्य की सीमा तक ही सीमित न था।

मंत्रिपरिषद के अतिरिक्त पुरोहित का पद भी बहुत महत्त्वपूर्ण था। पुरोहित आध्यात्मिक एवं लौकिक दोनो ही विषयों मे राजा का अन्तरग परामर्शदाता होता था। पुरोहित का पद इतना महत्त्वपूर्ण माना गया कि कई शताब्दियो तक उसका स्थान मंत्रिपरिषद मे रहा। वैदिक काल के रत्नियो में भी उसे प्रमुख स्थान प्राप्त था। वह राजगुरु था। उसका प्रमुख कार्य राजा द्वारा किये गये अनिष्टकारक अनुष्ठानो का प्रतिकार करना था। वैदिक साहित्य में उसका उल्लेख इस प्रकार आता है कि वह युद्ध के समय राजा के साथ रहता था और उसका कार्य मंत्रो एवं स्तुतियो द्वारा देवताओं का विजयश्री के लिए आशीर्वाद प्राप्त करना था। वह शस्त्रो और शास्त्रो दोनो का ही ज्ञाता होता था, उसका इतना सम्मान था कि राजा के दीर्घकालीन यज्ञ की दीक्षा पर प्रस्थान करने पर राजा के पुनरागमन तक शासन सचालन का दायित्व उसका होता था। एक प्रकार से उसका पद प्रधान मंत्री से भी ऊँचा हो गया क्योंकि केवल उसका ही राजा के स्थान पर पद ग्रहण करना विधि विहित था। यह सच है कि उत्तर वैदिक काल और उसके बाद मे उसका पद कमजोर हो गया। उपनिषदो के बुद्धिवाद, बौद्ध और जैन दर्शन के प्रचार प्रसार के परिणामस्वरूप यज्ञों का कराना कम हो गया और उससे पुरोहित के पद की महिमा को झटका लगा। गुप्तकाल तक आते आते उसका सरकारी प्रभाव क्षीण होने लगा और मंत्रिपरिषद में उसका स्थान लुप्त हो गया। मंत्रिपरिषद में चाहे उसका स्थान समाप्त हो गया हो, लेकिन राजा पर उसका नैतिक प्रभाव करीब करीब अक्षुण्ण रहा। शुक्रनीति में यही वर्णित है कि आदर्श पुरोहित की कोप दृष्टि राजा को सही रास्ते पर लाने में पर्याप्त है।[2]

सार यह है कि राजा निरंकुश नहीं था, मंत्रिपरिषद का उस पर नियंत्रण था। ऐसा माना जाता था कि मंत्रिपरिषद की एकमत राय उत्तम होती है और इसका बड़ा महत्त्व था। कौटिल्य ने तो यहाँ तक कहा है कि गंभीर परिस्थितियों में भी राजा को सामान्यतौर पर मंत्रिपरिषद के बहुमत की राय माननी चाहिये यद्यपि वह उससे अलग भी जा सकता था।

---

1 मस्की एण्ड कुर्ग प्रथम इन्सक्रिप्शन्स, पृ 14 दीक्षितार द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 101

2. यत्कोपदृष्ट्या राजा हि धर्मनीतिरतो भवेत्, शुक्र 2 99

डॉ अनन्त सदाशिव अल्तेकर द्वारा उद्धृत प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ 117

राजा पर एक बड़ा नियंत्रण धर्म का था। राजा धर्म के अधीन है और धर्म विरुद्ध आचरण उसके लिए अवांछनीय माना जाता था। साधारण व्यक्तियों की भांति उसे भी दण्ड भोगना पड़ता था। एक प्रकार से उसकी स्थिति ज्यादा दयनीय थी। जहाँ एक साधारण आदमी को एक पण दण्ड दिया जाता था, राजा को सहस्त्र पण दण्ड भोगना पड़ता था। ऐसा मनु का मत है।

राजा की दिनचर्या, उसको दिया जाना वाला प्रशिक्षण एवं उसके लिए निर्धारित योग्यता भी उस पर भारी नियंत्रण थे। प्राचीन काल के सभी विचारकों ने कहा है कि राजा को गुणी, धर्मात्मा, अव्यसनी, इंद्रियों का स्वामी, वेदों का ज्ञाता, विनम्र एव लोकप्रिय होना चाहिये। जो स्वयं पर नियंत्रण नहीं कर सकता वह दूसरों पर क्या नियंत्रण करेगा?

कौटिल्य ने बताया है कि राजा को अपनी इंद्रियों पर नियंत्रण रखते हुए दूसरों की महिलाओ और सम्पत्ति का आदर करते हुए, झूठ, कपट और कामुकता का स्वप्न मे भी विचार न करते हुए शासक के रूप में आचरण करना चाहिये।

सार-रूप में राजा के कर्त्तव्य

प्राचीन भारतीय राज्य पुलिस राज्य नहीं था। एन. सी. बन्दोपाध्याय ने ठीक ही लिखा है कि हिन्दुओं ने सरकार के संरक्षणात्मक एवं अनुशासनात्मक कार्यों के साथ कुछ ऐसे सक्रिय कर्त्तव्यों पर भी जोर दिया है जो कि जनता के मानवीय अस्तित्व हेतु भौतिक आदर्शों की प्राप्ति की दिशा में अग्रसर हो।[1] इसका अर्थ यह हुआ कि रोजमर्रा के कामों के अलावा राजा को अधिक महत्त्वपूर्ण और जिम्मेदार कार्य करने पड़ते थे। संक्षेप में इनमे से मुख्य कार्य ये थे —

स्वधर्म की अनुपालना

प्रथम महत्त्वपूर्ण कार्य परम्पराओं, जातियों के नियमों एवं व्यवस्थाओं एवं वैदिक साहित्य मे निहित निर्देशों के अनुसार प्रजा के लिए उन परिस्थितियो का निर्माण करना है जिनके अनुसार वे स्वधर्म की पालना कर सके। स्वधर्म का सरल भाषा में अर्थ प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने कर्तव्य की पालना करना है। स्वधर्म की पालना न करने पर सामाजिक व्यवस्था डाँवाडोल हो जाती है और शक्तिशाली दुर्बल पर हावी हो जाता है। अतः इस मत्स्य न्याय से प्रजा की रक्षा करना राजा का प्रथम महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है।

प्रजा के जान माल की रक्षा दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है। राज्य की प्रगति बहुत कुछ सुशासन पर निर्भर करती है। व्यापार एवं व्यवसाय को बढ़ावा देना भी एक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है। इसके बिना राज्य की आर्थिक स्थिति क्षीण हो जायेगी। न्याय प्रक्रिया का

---

1. एन. सी. बंद्योपाध्याय, कौटिल्य, पृ 107.

उचित सचालन भी अन्य महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है। नियमो, कानूनो एव व्यवस्थाओ के अनुकूल न्याय हो और इसमे किसी प्रकार का भेदभाव न हो। अर्थशास्त्र मे तो यहाँ तक लिखा हुआ है कि न्याय करते समय राजा को अपने पुत्र और शत्रु के बीच कोई अन्तर नहीं करना चाहिये। अपराध की गभीरता को देखते हुए बिना अपने और पराये मे भेद किये राजा को दण्ड देना चाहिए।

सन्यासियो के आचरण की ओर भी ध्यान देना राजा का कर्त्तव्य बताया गया है। चूँकि राज्याश्रय उन्हे मिलता है, अत. आचरण भ्रष्ट होने पर उन्हे दण्डित करने का भी राजा को अधिकार है।

विपदाओ से रक्षा करना भी राज्य का एक मुख्य कार्य है। बाढ, अग्नि, अकाल महामारियाँ, जगली जानवरो के उत्पात आदि अनेक विपदाओ से रक्षा करना भी राजा का कार्य है। कौटिल्य का कथन है कि इन सब मुसीबतो मे राजा का प्रजा को सरक्षण इसी प्रकार मिलना चाहिये जैसा कि एक पुत्र को पिता से मिलता है।

राजा के अनन्त कार्यों का वर्णन अर्थशास्त्र में किया गया है। राज्य का कार्यक्षेत्र इतना विस्तृत है कि प्रजा के सभी दैहिक, दैविक, भौतिक तापो का निवारण करना इसकी परिधि मे आता है। सक्षेप मे कला कौशल एवं शिक्षा को सरक्षण एव सवर्धन, स्वास्थ्य, चिकित्सा सहायता, सफाई, गरीबो की सहायता, अपाहिजो की देखभाल, विश्रामगृहो, अस्पतालो का निर्माण, विद्वानो को प्रोत्साहन, विधवाओ, अनाथो की सहायता एवं अनेक परोपकारी कार्यों का सम्पादन करना राज्य का कार्य है।

चाणक्य इस बात से सुपरिचित थे कि राज्य मे आन्तरिक शाति और समृद्धि तब तक संभव नहीं है जब तक कि पड़ौसी और नजदीक के राज्यों की कुदृष्टि न पडे। इसके लिए उन्होने मण्डल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसका उल्लेख सविस्तार यथा स्थान इस पुस्तक मे किया गया है। अर्थशास्त्र में इसका उल्लेख किया गया है कि एक बुद्धिमान राजा को उस नीति का अनुसरण करना चाहिये जिससे कि किलो एवं भवनो एवं नगरो का निर्माण हो सके, व्यापार के रास्ते खुले रहे, लकड़ी, खानो एवं जंगलो का सरक्षण हो सके और शत्रु राज्य में इन कार्यों के संपादन मे बाधा उत्पन्न न कर सके।[1]

सार रूप में, राजा का सबसे बडा धर्म अपनी प्रजा की रक्षा करना है। मनु के अनुसार यही सबसे बडा धर्म है। गौतम का भी यही कथन है कि राजा का धर्म सभी प्राणियो की रक्षा करना, उचित दण्ड देना है ताकि न्याय की स्थापना हो सके। धर्म की रक्षा करने वाला वास्तविक आनन्द को प्राप्त करता है। नारद का भी यही मत है कि राजा का धर्म प्राणियो की रक्षा, वृद्धों एवं विद्वानों की बात सुनना, लोगों के झगडों को

1 अर्थशास्त्र बुक IX, अध्याय - 3

सुलझाना एवं अपने कार्यो के सम्पादन हेतु जागरूक रहना है। शुक्र ने तो बहुत ही संक्षेप मे कह दिया कि राजा का कार्य साधु की रक्षा और असाधु का दमन करना है। राजा जनता का स्वामी और सेवक दोनों ही है।

बाह्य आक्रमणों से जनता की रक्षा करना राजा का प्रमुख कार्य है। मनु राजा से यह अपेक्षा रखते हैं कि युद्ध मे पीठ दिखाने से अच्छा यही है कि वह युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त करे। अपने घर में किसी बीमारी से मरने के स्थान पर किसी धर्म युद्ध में मरना राजा के लिए श्रेयस्कर माना गया है।

कामन्दक एक बहुत ही गहरी बात कहते हैं। राजा का काम भ्रष्ट सरकारी अधिकारियो एवं कर्मचारियो, चोरों, राजा के शत्रुओं, चाटुकारों और स्वयं के लोगों से प्रजा को बचाना है। राजा का कर्तव्य यह भी है कि वह विद्यार्थियों, विद्वान ब्राह्मणों की मदद करे। शुक्र का कथन है कि राजा स्वय दौरा करके मालूम करे कि उसकी प्रजा मे किसने किसको सताया है। राजा को चाहिये कि वह अपने भ्रष्ट अधिकारियों को दण्डित करे।

राजा को लोक कल्याणकारी कार्यों में भी प्रवृत्त होना चाहिये। केवल जानमाल की सुरक्षा और शांति स्थापना ही राजा का कार्य नही है। असहाय, वृद्ध, अंधे, अपग, विधवायें, अनाथ, रूग्ण एव भौतिक विपदाओं से त्रस्त लोगों की मदद करना भी उसका कार्य है। पवित्र महिलाओं की रक्षा और सम्मान करना भी राजधर्म में सम्मिलित है। यह सर्वविदित है कि एक धर्म प्रवर्तक के रूप में अशोक ने मनुष्यों, जानवरों के अस्पताल, आरामगृह बनवाये एवं सड़को पर वृक्ष लगवाये तथा मनुष्यों की अकाल एवं अन्य विपदाओं से रक्षा की।

न्यायकर्त्ता के रूप में राजा का बहुत बड़ा कार्य है। न्याय की स्थापना हेतु दोषी को दण्ड देना चाहिये ताकि राज्य में शांति और व्यवस्था बनी रह सके। दण्ड का न्यायोचित प्रयोग से समाज सुखी होता है और ऐसा न करने अथवा निष्क्रिय बने रहने पर शक्तिशाली दुष्ट लोग श्रेष्ठ इन्सानों पर जुल्म ढहायेंगे। मनु इसलिये बार बार राजा को यह चेतावनी देते हैं कि उसे अपनी इन्द्रियों का स्वामी होना चाहिये और केवल तब ही वह प्रजा से उसकी आज्ञा का पालन करा सकेगा।

धर्म रक्षक के रूप मे राजा के कार्य की बात कही गयी है। वेदो ने राजा को धृतवत कहा है जिसका अर्थ यह हुआ कि विधि और न्याय के प्रति समर्पित। राजा को प्रथम नागरिक कहा गया है और अन्य लोग उसका अनुसरण करते हैं। जातक कथाओं में ऐसा वर्णन आता है कि जब राजा अन्यायी हो जाता है कि तब चीनी और नमक का भी स्वाद बदल जाता है।

शांतिपर्व मे स्पष्ट चेतावनी दी गयी है कि धर्म की रक्षा और अनुपालना करना राजा का कर्तव्य है।

राज्य की सम्पत्ति राजा की सम्पत्ति नहीं है। राजा पर होने वाला खर्च एक प्रकार से उसका मिलने वाला वेतन है। वह अपने पर अनाप शनाप खर्च नहीं कर सकता क्योंकि राजकोष पर उसका निजी स्वामित्व नहीं है। वह तो केवल ट्रस्टी है स्वामी नहीं। राजकोष पब्लिक ट्रस्ट है जिसका उपयोग केवल जनहित के निमित्त है। यह प्राचीन भारतीय विचारकों का महत्त्वपूर्ण योगदान है कि उन्होंने राजकोष और राजा की व्यक्तिगत सम्पत्ति में अन्तर किया है।

कौटिल्य ने राजा की जो दैनिक चर्या निर्धारित की है उससे लगता है कि राजा का करीब करीब सारा समय ही राजकार्य हेतु है, उसका निजी जीवन करीब करीब नहीं के बराबर है। दिन के बारह घण्टों में केवल 1-1/2 घटा (1-1/2 बजे से 3 बजे तक) उसके मनोरंजन के लिए है। रात्रि को कौटिल्य ने आठ भागों में बाटा है जिसमे केवल एक भाग अर्थात 1-1/2 घटा उसे व्यक्तिगत जीवन के लिए है। राजा के सोने और आराम के लिए कौटिल्य ने केवल 3 घण्टे निर्धारित किये हैं। दूसरे शब्दों में राजा का सम्पूर्ण जीवन ही जनहित के लिए है।

राजा का पद, योग्यतायें एवं शिक्षा

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के केन्द्र में राजतंत्र है यद्यपि शासन के अन्य प्रकार भी दृष्टिगोचर होते हैं। यही कारण है कि राजा पर सभी प्रमुख विचारकों का ध्यान केन्द्रित हुआ है और प्लेटो के दार्शनिक राजा की भांति उसको शिक्षा दीक्षा के द्वारा एक सुपरमैन बनाने का प्रयास किया गया है ताकि वह जनहित में संलग्न रहे।

प्राचीन साहित्य में राजा के वंशानुगत एवं निर्वाचित होने दोनों ही प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। लेकिन उसका वंशानुगत होना ही ज्यादा प्रचलित था। शक्ति द्वारा सिंहासन पर कब्जा कर लेने के तो बहुत ही उदाहरण मिले हैं। वैदिक काल के प्रारम्भिक भाग में राजा के निर्वाचित होने का उल्लेख मिलता है। संभव है कि समाज के प्रतिष्ठित और शक्तिशाली आदमी सर्वाधिक शक्तिशाली व्यक्ति को अपना नेता स्वीकार कर लेते होंगे और इसे निर्वाचित की संज्ञा दे दी जाती होगी। फिर धीरे धीरे यह पद वंशानुगत हो गया होगा, लेकिन निर्वाचन का अर्थ यह भी नहीं लिया जाना चाहिये कि समस्त जनता द्वारा यह चुना जाता था। लगता यही है कि वह उच्चवर्गीय कुलपतियों एवं विशपतियों के सहयोग एवं समर्थन पर ही अधिक निर्भर करता था। प्रामाणिक रूप से यही कहा जा सकता है कि उत्तर वैदिक काल के पूर्व ही राजा का पद आनुवंशिक बन गया था। प्रोफेसर ए. एस. अल्तेकर का कथन है कि "ईसा की आठवीं सदी तक राजपद के निर्वाचित होने के पक्ष में जो प्रमाण दिये जाते हैं वे बहुत स्पष्ट नहीं हैं। अथर्ववेद में उल्लिखित राजकृत (3, 6, 7) और रामायण में उल्लिखित 'राजकर्तारं' राजा के निर्वाचक नहीं वरन् राज्याभिषेक करने वाले ब्राह्मण हैं। जब अपने ज्येष्ठ पुत्रों की उपेक्षा करके राजा प्रतीप ने अपने छोटे पुत्र शांतनु को और ययाति ने पुरु को राज्य दिया तो

प्रजा ने महल के सामने एकत्र होकर प्रतिवाद किया परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि राजा के निर्वाचन मे उन्हे भी बोलने का अधिकार था। इक्ष्वाकु वश की वशावली से भी यही ज्ञात होता है कि श्री राम के कई पीढ़ियो पूर्व और बाद भी राजपद आनुवशिक था और प्रजा को राजा चुनने का अधिकार न था" ।[1]

जैसा कि पूर्व मे कहा गया है कि प्लेटो की भाति प्राचीन भारतीय विचारक भी शिक्षा पर बहुत जोर देते थे। वैसे राजपुत्रो की शिक्षा दीक्षा की व्यवस्था पृथक् और विशेष रूप से ही हुआ करती थी, लेकिन तक्षशिला, नालन्दा जैसे विश्वविख्यात विश्वविद्यालयो मे सामान्य विद्यार्थियो के साथ भी उनकी शिक्षा के उदाहरण मिलते हैं। यह शिक्षा सर्वांगीण होती थी और राजा के पूर्ण विकास पर केन्द्रित होती थी। शरीर, बुद्धि और आत्मा तीनो ही के लिए शिक्षा आयोजित की जाती थी। वेद, तत्त्व ज्ञान, शास्त्र विद्या, युद्ध कौशल, धनुर्वेद, रथसचालन, हस्ति विद्या, शासनकला, लोक व्यवहार आदि से सबन्धित शिक्षण राजा के पाठ्यक्रम मे हुआ करते थे।

राजकुमारो के अतिरिक्त राजकुमारियो की भी सर्वांगीण शिक्षा की व्यवस्था थी। रानियो और राजकुमारियो द्वारा आवश्यकता पड़ने पर शासन और युद्ध की बागडोर सभालने के सबन्ध में भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। दक्षिण भारत मे विशेषतया चालुक्यो और राष्ट्रकूटो के समय मे राजकुमारियो को उच्च पद दिये जाने के अनके उदाहरण मिलते हैं।

आचार्य कौटिल्य का कथन है कि राजा समुचित शिक्षा द्वारा ही काम, क्रोध, लालच, अहकार, मद और अतिहर्ष के वेगों पर नियत्रण कर सकता है। कौटिल्य इन छ: वेगो को शत्रु मानते हैं और उनका मत है कि इन शत्रुओं को नियत्रित करने में असमर्थ होने के कारण अनेक राजा और उनके राज्य नष्ट हो गये ।[2]

सामान्य तौर पर राजा के लिए चारो विद्याओं मे निष्णात होना आवश्यक माना जाता था। ये हैं – अन्वीक्षिकी (तर्क और दर्शन का अध्ययन), त्रयी (तीनो वेदों का ज्ञान), वार्ता (कृषि मे व्यापार विज्ञान) एवं दण्डनीति (शासन, प्रशासन विज्ञान)।

अग्निपुराण मे वर्णन है कि राजा को अच्छा धनुर्धर, हाथियों और घोड़ा का निपुण सवार होना चाहिये। उसे विभिन्न कलाओ मे भी दक्ष होना चाहिये।

लेकिन व्यवहार मे शायद राजा इतनी विद्याओं में पारंगत नहीं हो पाता। शुक्र त्रयी के अन्तर्गत धर्मशास्त्र, मीमांसा और पुराणों को भी सम्मिलित करते हैं। सभवत: राजा का त्रयी का अध्ययन इतना गहन नहीं होता होगा। इसलिये राजा की शिक्षा में दण्डनीति, वार्ता और सैनिक विज्ञान में निष्णात होना ज्यादा स्वाभाविक लगता है।[3] ऐसे

1. ए एस अलोकर, वही पुस्तक, पृ 49-50.

2. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, अनुवादक डॉ. आर. श्यामा शास्त्री, पृ. 11.

3 परमा बी. उरमानन्का: दि पोलिटिकल इन्स्टीट्यूशन्स एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, मोतीलाल बनारसीदास पृ. 44.

आठों दिग्पालों के शरीर का अंश लेकर उसके शरीर का निर्माण किया है।[1] विष्णु पुराण और भागवत में कहा गया है कि राजा के शरीर में अनेक देवता निवास करते हैं। शुक्र भी कहते हैं कि राजा इन्द्र के समान धन की रक्षा करता है। वायु की भांति वह अच्छे और बुरे कार्यों का कारण बनता है, यम की भांति वह दण्डित करता है, अग्नि की भांति वह पवित्र करने और भोगों को प्राप्त करने वाला है, वरुण की भांति वह अपनी प्रजा को पालने वाला और चन्द्रमा की भांति अपने सुकृत्यों से सबको प्रसन्न करने वाला होता है।[2]

अग्नि पुराण भी राजा के देवत्व को समर्थन देता है। इसके अनुसार राजा में सूर्य, चन्द्र, वायु, यम, अग्नि, कुबेर, वरुण और पृथ्वी के रूप विद्यमान हैं। मत्स्य, पद्म और मार्कण्डेय पुराणों में भी अनेक देवताओं के गुणों का राजा में समावेश माना गया है।

राजा के देवत्व के संबन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि अधिकांश विचारक राजा और देवताओं के विभिन्न कार्यों की समता पर ही जोर देते हैं। वे राजा के कार्यों की देवताओं के कार्यों से केवल तुलना मात्र करते हैं पर इस बात को स्वीकार नहीं करते कि राजा स्वयं देवता है। यदि राजा देवता होता तो उसे शिक्षा, प्रशिक्षण और ज्ञान की आवश्यकता ही क्यों पड़ती? इस प्रकार हिन्दू ग्रन्थकारों ने न राजपद को दैवी बताया है न ही किसी राज व्यक्ति को। यूरोप में राजा के देवत्व का सिद्धान्त मुख्यतः निरंकुश राजसत्ता के समर्थन के लिए ही प्रतिपादित किया गया था। प्राचीन भारत में नारद ही एकमात्र ऐसे ग्रन्थकार हैं जिन्होंने यह कहने का साहस किया कि दुष्ट राजा पर भी प्रहार करना पाप है क्योंकि उसमें देवता का अंश है।[3] परन्तु दूसरे किसी ने भी उनकी बात नहीं मानी। दुष्ट राजा वेण ने अपने देवत्व की दुहाई देकर दण्ड से बचना चाहा पर क्रुद्ध ऋषियों ने उसकी एक न सुनी और उसे तत्काल मार डाला। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि प्राचीन भारत में केवल अच्छे और धार्मिक राजा ही देवतुल्य माने जाते थे। दुष्ट और दुराचारी राजा तो राक्षसावतार माना जाता था।[4]

---

1 यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभिनिर्मितोनृप,
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा, मनु, 8 5

2 शुक्र 1, 73-77.

3 राज्ञि प्रहरेयन्नु कृतागस्यपि दुर्मति. शूले तमग्नौ विपचेद ब्रह्म हत्याशताधिकम ए एस अल्तेकर द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 59

4 दुष्टिस्तु यो राजा स ज्ञेयो देवतांशके : ।
निरतिमृ स्तोऽशं सर्वे नरक भाजन ॥
ए एस अल्तेकर (वही पुस्तक) द्वारा उद्धृत, पृ 59

ऐसे दुष्ट राजा की आज्ञा पालन तो दूर उसके विरूद्ध बगावत करने, उसे पदच्युत कर देने और यहाँ तक कि ऐसे आनतायी का वध कर देने की बात भी कही गयी है। शुक्र लिखते हैं कि दुष्ट, दुराचारी राजा की अवज्ञा ही नहीं बल्कि उसके विरूद्ध षड्यन्त्र रचा जाकर उसे पदच्युत कर दिया जाना चाहिये।

राजा का पद प्राय वशानुगत ही होता था। पद को सीमित अर्थ मे सवैधानिक भी कहा जा सकता है जिसमे नियत्रण और सन्तुलन की प्रक्रिया निहित थी। ऐतिहासिक तथ्य इस बात की पुष्टि करते हैं। उदाहरणार्थ मौर्यकालीन राजतत्र वशानुगत ही था। चन्द्रगुप्त के बाद बिन्दुसार और फिर अशोक। लेकिन एक प्रक्रिया भी चयन के समय काम में लिये जाने का जिक्र है। प्लिनी का कथन है कि जनता द्वारा राजा और तीस सभासदों का चयन किया जाता था।[1] इस बडे अवसर पर जनता के साथ साथ राज्य के अधिकारी, पौर, जनपद एव अन्य सस्थाओ के प्रतिनिधि भी उपस्थित रहते थे।[2] दीक्षितार ने स्पष्ट लिखा है कि जनता के द्वारा राजा का चयन एक महत्त्वपूर्ण जनतात्रिक प्रक्रिया थी।[3]

दीक्षितार के अनुसार जनता की सामान्य इच्छा प्राचीन भारतीय राजनीति के मूल में थी। लेकिन कुल मिलाकर यह स्वीकार कर लिया जाना चाहिये कि राजा का बडा बेटा प्राय. सिहासनारूढ होता था और दूसरे बेटे प्रातो के राज्यपाल या अन्य बड़े पदो पर आसीन होते थे।

भारतीय परम्परा मे मोक्ष पर बल है। वैराग्य, त्याग और गैर सांसारिकता इसके लक्षण हैं। अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ कि राजाओ ने अपने पुत्रों के पक्ष मे राजसिहासन छोड दिए थे। चन्द्रगुप्त ने चौबीस वर्ष राज करने के बाद अपने पुत्र बिन्दुसार को राज्य की बागडोर सौंप दी थी। इस प्रकार अशोक भी अपने जीवन के सध्या काल में सिहासन त्याग कर सुवर्ण गिरि पर्वत पर रहने लगा था।

प्राचीन भारतीय राजतत्र की प्रकृति क्या थी इस पर गहरा विवाद रहा है। अधिकांश पश्चिमी लेखको ने राजा को निरंकुश बताया है। मौर्य शासको के बारे मे तो और भी ज्यादा जोर देकर कहा गया है कि वे निरंकुश थे, लेकिन यह सत्य पर आधारित वक्तव्य नहीं है।

सर्वप्रथम यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि राजा विधिवेत्ता नहीं था। विधि सनातन थी जो कि धर्मशास्त्रों एवं विधि ग्रन्थो मे निहित थी। राजाओ को इन विधिवेत्ताओ द्वारा निर्धारित विधि के अनुसार ही चलना पडता था और वह उनका उल्लंघन नही कर सकता

1-3 दीक्षितार मौर्यन पॉलिटी, पृ 85

था। स्थापित विधि के प्रतिकूल कार्य पाप समझा जाता था। ऐसा किये जाने पर उसे सिंहासन से च्युत भी किया जा सकता था। इसके विरुद्ध बगावत भी की जा सकती थी। इसका अर्थ यह निकला कि विधि ग्रन्थ और धर्म शास्त्रों में वर्णित विधि में ही सम्प्रभुता निहित थी। स्पष्ट शब्दों में यह कहा जा सकता है कि राजा ने कभी कोई कानून नहीं बनाया और न वह इसका निर्माण ही कर सकता था। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है कि इ बी हवैल की हिस्ट्री ऑफ आर्यन रूल इन इण्डिया में परिचयात्मक टिप्पणी ध्यान देने योग्य है। उन्होंने जो लिखा उसका सार यह है कि भारतीय इतिहास के विद्यार्थी के लिए यह विचारणीय विषय है कि क्या इंग्लैण्ड की संसद एक मशीनरी के रूप में इन्डो-आर्यन पोलिटी की दार्शनिक योजना से अधिक कुशल है। इन्डो-आर्यन पोलिटी की विशेषता यह रही है कि इसमें देश की सामान्य विधि जिसका निर्माण जन प्रतिनिधियों ने किया है, उसकी धार्मिक एवं कानूनी मान्यता है और यह ही राज्य की सर्वोच्च शक्ति है जिसके समक्ष यहाँ तक कि राजा और उसके मंत्रियों को नतमस्तक होना पड़ता था। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि पश्चिमी संसदों की जननी (ब्रिटिश संसद) और प्राचीन आर्यन व्यवस्था में बड़ी समानता थी।

दीक्षितार इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राचीन हिन्दुओं की शासन व्यवस्था में राजा किसी भी स्थिति में निरंकुश नहीं बन सकता था क्योंकि उस पर अनेक नियंत्रण थे। नियंत्रण और सन्तुलन का सिद्धान्त व्यवस्था में अन्तर्निहित था। परिषद और एसेम्बली में भिन्न भिन्न समुदायों के लोग बैठकर राज्य के मसलों पर चर्चा करते थे। एक मंत्रिपरिषद थी जिसके अन्य सदस्यों में एक पुरोहित भी होता था जो लौकिक और आध्यात्मिक विषयों में राजा का मुख्य सलाहकार होता था। राजा के आदेशों का परिषद अधिकारियों के माध्यम से क्रियान्वयन करती थी। राजा परिषद की बैठक आहूत करता था और सदस्यों के मध्य मतभेद होने पर ही राजा उनके कार्य में हस्तक्षेप करता था। अधिकारियों पर परिषद का नियंत्रण रहता था। प्रोफेसर काशीप्रसाद जायसवाल इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मंत्रि-परिषद इतनी शक्तिशाली थी कि सम्राट के पास कोई प्रभावी शक्तियाँ नहीं बच पाती थी।

विशाखदत्त के प्रसिद्ध ग्रन्थ मुद्राराक्षस में ऐसा उल्लेख मिलता है कि राजा पश्चाताप के स्वर में कहता है कि उसके पास सिवाय मुख्यमंत्री और मंत्रिपरिषद के प्रस्तावों को स्वीकार करने के अलावा और कोई कार्य ही नहीं है। दिव्यावदान में ऐसा उल्लेख मिलता है कि राजा के कर्मचारियों (नौकरों) ने उसे सत्ता से पृथक् कर दिया।

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है डॉ.डी. आर. भंडारकर का मत कुछ भिन्न है। उनका कहना है कि जिस प्रकार बच्चे मा बाप पर पूर्णतया निर्भर रहते हैं और वे जो चाहे उनके साथ कर सकते हैं ठीक उसी प्रकार प्रजा भी राजा की कृपा पर आश्रित

थी और वस्तुत राजा निरकुश था।[1] दीक्षितार और अन्य विद्वानो ने भडारकर की आलोचना करते हुए कहा है कि यदि राजा और प्रजा के सबन्ध पिता पुत्र के हैं तो राजा निरकुश कैसे हुआ ?

राज धर्म

राजधर्म पर प्राचीन भारत मे बहुत साहित्य उपलब्ध है। महाभारत धर्मशास्त्र और मनुस्मृति मे इसका विशेष उल्लेख है। राजधर्म का अर्थ राजा के कर्तव्य एवं कार्य से है। राजधर्म का व्यापक अर्थ यह है कि इसके पालन करने से ही चतुष्कोणीय सामाजिक व्यवस्था बनी रहती है। राज धर्म का इतना महत्त्व है कि मनु के अनुसार इसकी अनुपालना न करने पर दण्ड का प्रकोप होता है और अन्ततोगत्वा राजा मृत्यु को प्राप्त होता है। शाति पर्व के अनुसार सारे धर्म राजधर्म मे समा जाते हैं। महाभारत के अनुसार राजधर्म विश्व का सबसे बडा धर्म है क्योंकि इसमे सभी धर्मों के नियम समाहित हैं। महाभारत मे वर्णित है कि राजा वस्तुत अपने युग का निर्माता होता है। वह कलयुग को सतयुग मे बदल सकता है।

धर्म की अवधारणा

धर्म की अवधारणा समस्त हिन्दू चिन्तन के मूल मे है और इसे परिभाषित करना जितना आसान है उतना मुश्किल भी है। सामान्य दृष्टि से धर्म का अर्थ उन समग्र कर्तव्यो से है जो ईश्वर, देश, समाज और परिवार के प्रति व्यक्ति से अपेक्षित हैं। वेदो को ईश्वरोक्त माना जाता है और इनमे निहित कर्तव्यो एवं दायित्वों को वैदिक धर्म कहा गया है। इसे श्रुतधर्म भी कहा जाता है। चूँकि वेदो को समझना सामान्यजन के लिए संभव नहीं था, इसलिये इस श्रेष्ठ ज्ञान को जनसाधारण तक पहुँचाने हेतु प्राचीन विचारको ने सकल व्याख्या की। धर्मसूत्रों और धर्मशास्त्रों के विभिन्न लेखको ने इनकी व्याख्या की। विधि ग्रन्थो को दो भागों मे विभाजित किया जा सकता है– राजधर्म और प्रजाधर्म। प्रजाधर्म समाज के प्रत्येक नागरिक सदस्य का स्वधर्म है जो नियमो द्वारा निर्धारित किया गया है। यह सनातन धर्म ही है जो सभी स्थानो एवं कालो मे एक सा ही है। राजधर्म अपने मे साध्य नहीं है। यह तो सनातन धर्म की प्रगति एवं संसार की प्रसन्नता एव समृद्धि मे आने वाली विपदाओ को दूर करने का साधन है। धर्म राजा और प्रजा सबको बांधता है, न कोई इससे ऊपर है और न ही इससे स्वतंत्र ही। भारत अनेक धर्मों की जन्मस्थली है, उनमे कुछ कुछ अन्तर भी आये हैं, लेकिन मौलिक सिद्धान्त करीब करीब सब ही के समान हैं। उदाहरणार्थ हिन्दू, बौद्ध और जैन साहित्य में धर्म की अवधारणा को लेकर कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं है। सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ हरमन जकोबी ने अनेक उदाहरण देकर यह निष्कर्ष निकाला है कि बौद्ध और जैन धर्म तत्काल सुधार के प्रतिफल न होकर,

---

1 डी आर भडारकर अशोक, पृ 63

पर्याप्त काल से चलते चले आये धार्मिक आन्दोलन के माध्यम से ब्राह्मनिज्म से ही विकसित हुए धर्म हैं।[1] उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि राजधर्म का सबन्ध किसी धर्म विशेष से नहीं है, राजा का व्यक्तिगत धर्म राज्य में रहने वाले अधिकांश नागरिको के धर्म से पृथक् भी हो सकता है। चन्द्रगुप्त के बारे मे कहा जाता है कि वह जैन बन गया था जबकि अधिकांश प्रजा हिन्दू थी। ऐसी ही बात अशोक के बारे मे भी कही जाती है, वह प्रथम जैन धर्म की ओर आकृष्ट हुआ और फिर बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। सार यह है कि राजधर्म राजा का व्यक्तिगत धर्म नहीं है, उसका व्यक्तिगत धर्म कोई भी हो प्रजा को उससे कोई सरोकार नहीं, राजधर्म तो राजा के रूप मे प्रजा के प्रति अपने कर्तव्य एव दायित्वों का निर्वाह है। उन नियमो की अनुपालना है जो शास्त्रों द्वारा उसे निर्देशित हैं। इस रूप में धर्म की भारतीय अवधारणा अद्भुत है। धर्म सर्वोपरि है यह राज्य की सर्वोच्च शक्ति है, जिसके अधीन राजा स्वय भी है। वह तो केवल धर्म की प्राप्ति के ध्येय तक पहुँचने का साधन है। धर्म की अनुपालना करना तो एक बड़ा सामाजिक और धार्मिक आदर्श है क्योंकि इसके बल पर ही तो एक दुर्बल व्यक्ति शक्तिशाली से लोहा ले सकता है।

आज जबकि हम धर्म निरपेक्षता की बात करते हैं हमे प्राचीन भारत के धर्म और राजधर्म की अवधारणाओं को समझने का प्रयास करना चाहिये। यह आज के सदर्भ मे विशुद्ध धर्मनिरपेक्ष चिन्तन है। अत: धर्म का अर्थ यदि नैतिकता है, कर्तव्यों एवं दायित्वों का निर्वाह है, सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता, सद्भाव एवं सम्भाव है तो इसका सार्वजनिक एवं राजनीतिक जीवन मे प्रवेश अभिनन्दनीय है। मोहनदास करमचद गाँधी इसी अर्थ मे धर्म को राजनीति से जोडते हैं। वह कहते हैं कि "जो यह कहते हैं कि धर्म का राजनीति से कोई संबन्ध नहीं है वे न तो यह जानते है कि धर्म क्या है ? और राजनीति क्या है ? मैं तो चाहता हू कि धर्म राजनीति मे प्रवेश करे।"

अर्थशास्त्र की ही बात करें। इसके अनुसार राज्य का कार्य समाज की स्थिति को बनाये रखना है। तत्कालीन समाज जातियो और वर्गों मे बटा हुआ था। लेकिन जातियाँ श्रम विभाजन एवं आर्थिक वर्गीकरण के आधार पर निर्मित थीं। सामाजिक स्थिति को बनाये रखने के पीछे देश की आर्थिक प्रगति को भी बनाये रखना था। इसलिये स्वधर्म की पालना करना बहुत आवश्यक था। कौटिल्य ने स्वधर्म की अवधारणा पर ही तो राज्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। राजा का स्वधर्म है जनता की धर्म या विधि के अनुसार रक्षा करना है। धर्म शास्त्रों एवं धर्म सूत्रों में भी यही बात वर्णित है। राज्य प्रत्येक नागरिक से यही अपेक्षा करता है कि वह स्वधर्म का पालन करे। सार रूप में यही कहा जा सकता है कि स्वधर्म की अनुपालना सभी के लिए अनिवार्य है — चाहे वह राजा हो अथवा प्रजा।

---

1. डैसिार. मैर्थन पेलिटी से उद्धृत, पृ 244

महाभारत ने राज्य धर्म अथवा क्षात्र धर्म को अन्य धर्मों से ऊँचा माना है। लेकिन यह अपने मे साध्य नही है, इसको इसलिये अधिक महत्त्व दिया है कि यदि राज्य दुष्टों के दमन हेतु दण्ड का प्रयोग नहीं करेगा तो समाज मे अराजकता फैल जायेगी और मनुष्य अपने जीवन के उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर पाएगा। जीवन का उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति करना है। प्राचीन साहित्य मे त्रिवर्ग और तमिल साहित्य में मुप्पाल की प्राप्ति का जिक्र आता है। यह है धर्म, अर्थ और काम। त्रिवर्ग के सिद्धान्त के पीछे यही दर्शन निहित है।

यहाँ यह आलोचना की जा सकती है कि सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने की आड मे राज्य उन जातियो और वर्गों का दमन कर सकती है जो अपने जातीय व्यवसायो को छोडना चाहे। सच तो यह है कि श्रम विभाजन के नाम पर शूद्रो, श्रमिकों एवं दस्तकारो की जातियाँ ही बन गयी जो धीरे धीरे वंशानुगत हो गयी। शूद्रो, श्रमिको, किसानों और दस्तकारो की कालान्तर मे दुर्गति होती चली गयी और राजनीतिक एवं आर्थिक सत्ता उच्च कही जान वाली जातियो के हाथों में सिमट कर रह गयी। इस प्रकार अल्पसख्यक ऊँची जातियो ने बहुसंख्यक नीची और मध्यम जातियों पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। लौकिक और पारलौकिक दोनो ही शक्तियों पर यह छोटा सा वर्ग काबिज हो गया।[1] ब्राह्मण धर्मगुरू बना, क्षत्रिय ने राज्य पर कब्जा किया और वैश्य अर्थ व्यवस्था का स्वामी बन बैठा। अब चौथा वर्ग तो सेवको का रहा जिसका जो चाहे शोषण करे, अपमानित करे। इतिहास साक्षी है कि समाज के बहुसंख्यक लोगों की यही दुर्दशा बनी रही जो 1947 तक करीब करीब बनी रही। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कुछ परिवर्तन अवश्य आया, लेकिन राजनीतिक और आर्थिक सत्ता पर उच्च जातियों का वर्चस्व न्यूनाधिक बाकरार है। अर्थशास्त्र की रचना के समकालीन भारत मे जातियाँ वंशानुगत हो गयी थीं, नीची जातियो की दुर्दशा थी। यद्यपि कौटिल्य इस बात के पक्षधर नहीं हैं कि ऊंची जातियो के हाथ मे सत्ता केन्द्रित रहे, लेकिन जब वह यथास्थिति या सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने की बात करते हैं तो यहाँ इस बात की आशंका से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि राज्य के माध्यम से सत्ता सम्पन्न एवं साधन सम्पन्न व्यक्ति दलितों, पिछडो एवं विपन्नो का दमन एवं शोषण करेंगे।

❑❑❑

1 वैनिगर मैदेन वैनेटी, पृ 248-249

3

प्राचीन भारत के प्रमुख विचारक

मनु

मनु को प्रथम विधिवेत्ता और मानव जाति का जनक कहा गया है। ऋग्वेद से लेकर बाद के अनेक ग्रन्थों मे मनु का उल्लेख आता है। कुछ स्थानों पर इस प्रकार का वर्णन आया है कि महाप्रलय के बाद केवल एक पुरूष ही बचा और वह मनु थे। तैतरीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण, पुराणों आदि ग्रन्थो में भी मनु का वर्णन मिलता है। मनु महाभारत के बहुत पहले हुये थे ऐसा कई स्थानों पर वर्णन आया है। यदि वह आदि पुरुष और सभ्यता के सृजक हैं तो यह मानना अनुचित भी नहीं है। प्राचीन हिन्दू परम्पराओं के अनुसार मनु को मानव समाज का प्रथम राजा माना गया है। जब मत्स्य न्याय से समाज दुखी होने लगा और सामाजिक व्यवस्था टूटने लगी तो ब्रह्मा ने मनु को पृथ्वी का राजा बनाया। लेकिन मनुस्मृति के रचयिता के रूप में वह इतने पुरातन नहीं हो सकते क्योकि मनुस्मृति मानव समाज का प्रथम ग्रन्थ नही है। मनुस्मृति में जो सामाजिक व्यवस्था मिलती है वह बहुत बाद की है। इसलिये हो सकता है कि बाद के लोगों ने मनु के नाम से जोड दिया हो। यह व्यवस्था भी रही है कि शिष्य गुरु की परम्परा को बनाये रखने के लिये ऐसा कर दिया करते थे।

राजा, राज्य एवं राजनीति

मनु ने राजनीति का बहुत ही वृहत रूप हमारे समक्ष रखा। राजनीति को सामाजिक स्वरूप प्रदान किया। राजनीति के बिना समाज का सचालन ही मुश्किल है। राजा के बिना अराजकता आजायेगी। लेकिन यह केवल कानून और व्यवस्था ही नहीं है बल्कि इसका लोककल्याणकारी स्वरूप उन्होंने प्रस्तुत किया है। मनुस्मृति के अनुसार राज्य का कार्य समाज के सभी घटकों को समन्वित रूप से संगठित करना है। राज्य का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमे पशु पक्षी, पर्यावरण भी शामिल हैं। राज्य का कार्य समाज में इतना सन्तुलन बनाये रखना है कि कोई एक दूसरे को दबोच न सके। मनु की मान्यता है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्य का पालन करता रहे तो उसमे उसका स्वयं का ही नही सम्पूर्ण समाज का हित निहित है। इसलिये अच्छा राज्य केवल वही नही है जो प्रजा की सेवा करता है बल्कि उसकी अच्छाई का एक मापदण्ड यह भी है कि उसमें अच्छे लोग निवास करे। मनु का कथन है कि अच्छा राज्य वह है जिसमें बड़ी संख्या में संत पुरुष निवास करें, जिसमें कोई बीमारी न हो तथा निवासी विनम्र और निर्भीक

हो, अच्छी खेती हो और साथ मे अच्छा वाणिज्य भी । राजा का कार्य अच्छे लोगो की रक्षा और दुष्टो का दमन करना है । निर्बल लोगो, विधवाओ और वृद्धो की रक्षा करना भी राज्य का कार्य है ।

मनु एक प्रकार से लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना करते है जिसमे राजा प्रजा का सेवक है, वह न्याय करता है, एक ऐसे समाज की स्थापना करता है जिसमे शाति, विकास, वैभव, सुरक्षा एव एकता है । उस राजा का राज्य नष्ट हो जाता है जो अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता और राज सत्ता का न्यायोचित ढग से प्रयोग नहीं करता । ऐसा राजा स्वय ही अपने पतन के लिए जिम्मेदार होता है ।

राजा के अच्छे सलाहकार हो यह भी जरूरी है । बुद्धिमान पुरुषो की राय राजा के लिये आवश्यक है । राजा को चाहिये कि वह आश्वस्त हो कि उसके मत्री श्रेष्ठ आचरण के एवं सत्यनिष्ठ हैं । प्लेटो की भाति मनु ने राजा के लिए एक श्रेष्ठ शिक्षा पद्धति की भी व्यवस्था की है । यह शिक्षा केवल ज्ञानोपार्जन हेतु ही नहीं है बल्कि राजा के चरित्र निर्माण हेतु भी है । मनु के कथन का आशय यही है कि वह राजा जो अपनी इन्द्रियो का स्वामी नहीं है वह प्रजा पर कैसे नियत्रण स्थापित करेगा ।

मनु किसी भी स्थिति मे राजा को अनैतिक कार्य करने की आज्ञा नहीं देते क्योंकि अन्ततोगत्वा यह कष्टदायक ही होता है । यदि कभी राज्य के हित मे कुछ ऐसे साधन अपनाने भी पडे तो भी राजा को सतत इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि विजय सत्य की ही होती है । यद्यपि मनु राजतंत्रवादी हैं लेकिन वह जनमत की उपेक्षा नहीं करते । उनका मत है कि जब लोग अपनी बात नहीं कह पाते हैं तो सत्य का गला घोट दिया जाता है, सच्चे तथ्यो के अभाव मे राजा सही निर्णय नहीं कर पाता है और अन्ततोगत्वा राजा का विनाश हो जाता है । मनु की तो स्पष्ट चेतावनी है कि उसे अपनी पत्नी, बच्चों और परिवार के लिए भी सत्य का मार्ग नहीं छोडना चाहिये । यद्यपि उस जमाने मे आजकल की विधायिका तो नहीं थी लेकिन दो बाते राजा की शक्तियो को नियत्रित करती थीं । प्रथम यह कि जिस उद्देश्य को लेकर राज्य की स्थापना की गयी है वह राजसत्ता को नियत्रित करता है, दूसरा यह कि राजा के प्रति आज्ञापालन इस बात पर निर्भर करता है कि वह अपने दायित्व का निर्वाह किस प्रकार करता है ।[1]

मनुस्मृति के अध्ययन से राज्य के संगठन, कर, वेतन और प्रशासन के बारे में भी पता चलता है । प्रशासन की इकाई के रूप में मनु ने ग्राम, जिला और प्रांत का उल्लेख किया है । एक महत्वपूर्ण बात यह है कि ग्राम की समस्या मे जिले का हस्तक्षेप तब ही आवश्यक है जबकि ग्राम स्तर पर उसका समाधान न हो पाये और इसी प्रकार जिला स्तर पर प्रांत के हस्तक्षेप की बात कही है । यह एक प्रकार से विकेन्द्रित व्यवस्था है । सार

---

1 दी आर मेहता , वही पुस्तक, पृ 27

यह है कि राज्य के संगठन मे विकेन्द्रीकरण और लोक कल्याण के सिद्धान्त को महत्व दिया गया है। मनु द्वारा प्रतिपादित राज्य पुलिस राज्य नहीं है।[1] राजा से यही अपेक्षा की गयी है कि वह राज्य को धनधान्य पूर्ण बनाये और उस वृद्धि का प्रजा मे न्यायोचित वितरण करे। जनता पर करो का भार न हो इसलिए मनु ने कहा कि राजा को सोने का 1/50, अनाज का 1/6 और वाणिज्य का 1/12 भाग ही लेना चाहिये। वह सम्पन्नता के लिए ज्यादा स्वतंत्रता देने के पक्षधर है, लेकिन असामाजिक तत्त्वो के दमन की अनुशसा भी करते हैं।

वस्तुत मनु राजतंत्रवादी हैं। उनका राजा देवत्व लिये हुए भी है। मनुस्मृति में तो यहाँ तक वर्णन आता है कि विभिन्न देवता राजा के शरीर मे निवास करते हैं और इस प्रकार वह स्वय एक बडे देवता का रूप ग्रहण कर लेता है, लेकिन जैसा कि उल्लेख किया भी जा चुका है मनु राजा को निरंकुश नहीं बनाते। राजा के अनगिनत कार्य बताये गये हैं, जिनमे प्रमुख प्रजा की रक्षा करना, वर्णाश्रम धर्म की पालना करना, न्याय करना, राज्य की आन्तरिक कलह एव बाह्य आक्रमणो से रक्षा करना, आर्थिक विकास करना, ब्राह्मणो, गुणियों, विद्वानो का सम्मान करना, असहायो, वृद्धों, अपाहिजो, विकलांगों, विधवाओ एवं गर्भवती स्त्रियो की रक्षा करना, दुष्टो को दण्डित करना आदि शामिल है। प्रजा को नैतिक बनाना भी राजा का कर्त्तव्य है और इसलिये जुआ, मद्यपान, पर स्त्री गमन, नाचगान, पराये धन का अपहरण, ईर्ष्या आदि से प्रजा को बचाये।

मनु ने राजा से अपेक्षा की है कि वह न्यायपूर्ण कर प्राप्त करे एव शासन करे। नियमित रूप से यज्ञ कराना एवं धर्म मे प्रजा की रुचि में अभिवृद्धि करना भी उसका कार्य है। उसे शक्तिशाली होना चाहिये, शत्रुओं का दमन करने की उसमें शक्ति होनी चाहिये एवं उसके पास सुसज्जित सेना होनी चाहिये। उसे समय समय और आवश्यकता पड़ने पर अपनी सामरिक शक्ति का प्रदर्शन भी करते रहना चाहिये ताकि शत्रु डरते रहें और अपनी प्रजा मे राजा के प्रति सम्मान बना रहे। उसको कूटनीतिज्ञ भी होना चाहिये और गोपनीयता बनाये रखना चाहिये। गोपनीय एवं अन्य नीतिगत बाते केवल अपने विश्वस्त लोगो के साथ ही करनी चाहिये। राजा के लिए कहा गया है कि उसमे बगुले की भांति अर्थ चिन्तन करने, शेर की तरह शक्ति प्रदर्शन की क्षमता, भेडिये की भांति शत्रु का नाश एवं खरगोश के समान शत्रु के चंगुल से बाहर निकलने की फुर्ती होनी चाहिये। उसमे आवश्यकता पड़ने पर कठोर और कोमल दोनों ही बने रहने की भी क्षमता होनी चाहिये। शक्ति और सतर्कता दोनो ही राजा के लिए नितान्त आवश्यक हैं।

मनु न्याय व व्यवस्था के लिए सर्वाधिक जाने जाते हैं। उन्होंने राजा के न्यायपूर्ण

1 वी. आर. मेहता : वही पुस्तक, पृ 28

आचरण को अत्यन्त आवश्यक माना है। दण्ड शक्ति पर ही राज्य स्थिर रह पाता है लेकिन इसका दुरुपयोग करने पर राज्य नष्ट भी हो जाता है। मनु त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) की रक्षा पर जोर देते हैं और समुचित दण्ड व्यवस्था के अभाव मे अराजकता फैल जाती है।

मनु ब्राह्मणवादी अवश्य हैं। न्याय व्यवस्था मे भी ब्राह्मणवाद झलकता है। उनका कथन है कि यथासम्भव मुकदमो का फैसला स्वयं राजा को ही करना चाहिये, लेकिन आवश्यकता पडने पर यह कार्य वह विद्वान ब्राह्मणो को सौंप सकता है। कहने का अर्थ यह है कि आज की भाषा मे केवल ब्राह्मण ही न्यायाधीश हो सकते हैं, शूद्र नहीं। लेकिन मनु इस बात को बार बार दोहराते हैं कि जिस न्यायालय मे सत्य असत्य से आक्रान्त हो वह पाप का केन्द्र बन जाता है। मनु ने न्याय करते समय गवाह, प्रमाण, तथ्य आदि की आवश्यकता पर बल दिया है लेकिन शूद्रो की तरह स्त्रियो के प्रति भी उनका पूर्वाग्रह है। वह जहाँ तक संभव हो स्त्रियों को साक्षी बनाने के विरुद्ध हैं क्योंकि उनके अनुसार स्त्रियो की बुद्धि स्थिर नही होती। वह परम्परा, धर्म, रीतिरिवाज आदि को भी किसी मामले को निर्णीत करने मे आवश्यक मानते हैं।

मनु ने कर सिद्धान्त भी दिये हैं। वह कर वसूली को सहज रूप देना चाहते हैं ताकि प्रजा को यह वसूली भार न लगे। कर लेने का उद्देश्य केवल प्रजा की रक्षा एवं उसका उन्नयन है न कि शासकों की मौजमस्ती और ऐश आराम। मनु बहुत ही संतुलित ढंग से कहते हैं कि कर न लेने से राजा का क्षय होता है और अधिक कर जनता की कमर तोडता है। अत जैसे मधुमक्खी पुष्प से मधु संचय करती है वैसे राजा को कर लेना चाहिये। जैसे गाय का मालिक दूध भी निकालता है और बछड़े के लिए भी दूध छोड़ता है। लोभ करने पर गाय लात मारेगी और दूध के स्थान पर खून आयेगा। अभिप्राय यह है कि लोभी राजा जनता के आक्रोश को निमंत्रण देगा और राज्य के अस्तित्व को ही खतरा उत्पन्न हो जायेगा। मनु चेतावनी देते हैं कि ऐसे राजा का यह लोक और परलोक दोनों ही नष्ट हो जायेंगे। मनु ने कर सिद्धान्त का केवल मानवीकरण ही नहीं किया बल्कि उसका सरलीकरण भी किया है। करदाता की क्षमता और राज्य की आवश्यकता को ध्यान में रखकर कर लिया जाना चाहिये। व्यापारियों से उनकी आय और व्यय को ध्यान मे रखकर कर लिया जाना चाहिये। पशु और स्वर्ण पर 50वाँ भाग, जमीन की उर्वरकता को देखते हुए अनाज का छठा, आठवाँ और बारहवाँ भाग कर के रूप में लिया जाना चाहिये। अत्यधिक वृद्धों, अपाहिजों, निर्धनों, अंधों एवं विकलांगों से *कोई कर नहीं लिया जाना चाहिये।*

मूल्यांकन

मनु के महान विचारक होने के अधिकार से उन्हें कोई वंचित नहीं कर सकता

लेकिन भारत मे ज्यो ज्यों पिछड़े और दलित वर्गों का समाज मे प्रभाव बढ़ने लगा है मनु की आलोचना तीव्र होती जा रही है । उन्हे पुरातनवादी, कट्टरपंथी और ब्राह्मणी संस्कृति और जीर्ण-शीर्ण परम्परा का पोषक कहा जाने लगा है । उन्हे घोर राजतंत्रवादी, ब्राह्मणवादी एव दकियानूसी कहा गया है । उन्हें स्त्री और शूद्र विरोधी एवं उच्च जातियों का पक्षधर कहा गया है । सामाजिक व्यवस्था का निर्माण असमानता के सिद्धात पर करने का उन्हे दोषी बताया गया है । मनुस्मृति से कुछ उद्धरण देकर इस आरोप को स्थापित किया जाता है -

सृष्टि के विकास हेतु ब्रह्मा ने ब्राह्मण को अपने मुँह से, क्षत्रिय को अपनी भुजाओं से, वैश्य को अपनी जघा से और शूद्र को अपने पाँव से जन्म दिया (अध्याय 1 श्लोक 31)

शूद्र के केवल एक शूद्र पत्नी ही हो सकती है जबकि वैश्य की पत्नी वैश्य के साथ साथ शूद्र भी हो सकती है, क्षत्रिय की पत्नियाँ तीन हो सकती हैं, एक शूद्र, एक वैश्य और एक क्षत्रिय औरत जबकि ब्राह्मण की चार पत्नियों मे एक ब्राह्मण महिला के अतिरिक्त शूद्र, वैश्य और क्षत्रिय तीन महिलायें और भी हो सकती हैं । (अध्याय 3, श्लोक 13)

ब्राह्मण को न मारा जाय चाहे उसने सभी अपराध किये हों । (अध्याय 3, श्लोक 380)

ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य सभी व्यभिचारियों को मृत्यु दण्ड दिया जाना चाहिये । (अध्याय 8, श्लोक 359)

नारी कभी स्वतंत्र होने लायक नहीं होती, इसलिये बचपन मे पिता, जवानी में पति और वृद्धावस्था मे पुत्र उसका संरक्षक है । (अध्याय 9, श्लोक 3)

ब्राह्मण की सेवा करना शूद्र का सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य है । (अध्याय 9, श्लोक 334)

तीनों उच्च वर्णों को वेद पढ़ने का अधिकार है लेकिन पढ़ाने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही है । (अध्याय 10, श्लोक 1)

मनु के आलोचको ने मनुस्मृति को एक असमान, पुरुष एवं ब्राह्मण प्रधान, अलोकतांत्रिक, सामन्तवादी, सामाजिक व्यवस्था की पोषक पुस्तक बताया है, जिसका बदलते संदर्भ में कोई अर्थ नही है ।

निःसंदेह मनु अपने युग से बहुत प्रभावित हैं और उन पर ब्राह्मणी संस्कृति की वकालत का आरोप सही भी है । शूद्र और नारी के प्रति उनका पूर्वाग्रह भी स्पष्ट है, लेकिन उनके मौलिक विचारक होने के यथार्थ को भी नहीं भुलाया जा सकता । उन्होंने राज्य और राजा के पद का जो निरूपण किया वह बहुत ही संतुलित, आदर्श और यथार्थ का समन्वित स्वरूप है । मनु का राजा प्लेटो के दार्शनिक शासक की भाँति आदर्शवादी

भी है और साथ ही व्यावहारिक भी । मंत्रिपरिषद की प्रस्तुत अवधारणा बहुत ही प्रशसनीय है । राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद का सामजस्य एक अद्भुत देन है जो तत्कालीन समाज की सरचना एवं चिन्तन से कही बहुत ही आगे है । विधि और न्याय व्यवस्था को मनु की देन तो उनके आलोचको ने भी स्वीकार की है ।

प्रो वी आर मेहता का कथन है कि मनु की एक विशिष्ट देन यह है कि उन्होने राजा को विधि के अधीन माना है । विधि का निर्माण राजा नही करता बल्कि विद्वान करते हैं और जो कोई भी उसका उल्लघन करेगा, दण्ड का भागी होगा । राजा के धर्म विरुद्ध जाने और मत्रियो और सलाहकारो की संयुक्त राय के विपरीत आचरण करने पर जनता द्वारा उसका वध किया जाना भी उचित है ।[1]

प्रो यू एन घोषाल के अनुसार मनु ब्राह्मण और राजा को श्रेष्ठ मानते हुए कहते हैं कि उन्हें ईश्वर ने अन्य लोगो पर शासन करने का दैविक आदेश प्रदान किया है ।[2] यही पूर्वाग्रह मनु की आलोचना का गभीर विषय बन जाता है ।

वाल्मीकि और व्यास

राम और कृष्ण ने भारतीय मानस को अप्रत्याशित रूप से प्रभावित किया है । यद्यपि राम और कृष्ण अवतार माने जाते हैं, लेकिन पुरुष के रूप मे उनके द्वारा किये गये लौकिक कार्यों मे जो अलौकिकता है उससे समाज चमत्कृत हुआ है और चिरन्तन मूल्यों का प्रवाह अबाधित गति से चलता चला आ रहा है । सत्व, राजस और तामस से निर्मित इस संसार के कार्यकलापो का किस प्रकार संचालन हो इस पर इन दोनो युग निर्माताओं ने अपने संदेश दिये हैं जिन्हे क्रमश वाल्मीकि और व्यास ने अपने ढंग से प्रस्तुत किया है । रामायण और महाभारत मे लौकिक समस्याओ, सत्य और असत्य, ज्ञान और अज्ञान, चेतना और अंधकार के मध्य अनवरत संघर्ष का निरुपण है, लेकिन अन्ततोगत्वा विजयश्री उन्हीं के हाथ लगती है जो सत्य, ज्ञान और चेतना के पक्षधर हैं । कुत्सित राजनीति, कूटनीति, षड्यंत्र, स्वार्थपरता, अबाधित महत्वाकांक्षा, आसुरी शक्ति, छलकपट आदि सभी पस्त होते नजर आते हैं और अन्त मे दिव्यता, शुचिता, चिरन्तनता का बोध होता है । रामायण और महाभारत महाकाव्य हैं, जिनमे एक प्रमुख ~था है और उस के इर्दगिर्द अनेक उपकथायें घूमती हैं । इनमें राजनीतिक चिन्तन उभर कर हमारे समक्ष आता है । कौटिल्य का अर्थशास्त्र विशुद्ध राजनीति, कूटनीति, लोक प्रशासन एवं अन्तर्राष्ट्रीय संबन्धों पर रचित व्यवस्थित ग्रन्थ है, लेकिन उसमें भी इन सभी को नैतिक पक्ष से जोड़ा है । रामायण और महाभारत में क्रमश राम और कृष्ण दो महानायक हैं जिनके जीवन के इर्दगिर्द गुथी गाथाओं, घटनाओं से धर्म, संस्कृति, मर्यादा, ज्ञान चेतना,

1 डी आर मेहता वही पुस्तक, पृ 27
2 यू एन घोषाल . वही पुस्तक, पृ 184

जीवन दर्शन का सदेश मिलता है, लेकिन राजनीति पर भी हमें पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। सर्वप्रथम हम रामायण के रचयिता वाल्मीकि का अध्ययन प्रस्तुत करते हैं।

वाल्मीकि

वाल्मीकि और व्यास दोनो ही ऐतिहासिक पुरुष नहीं हैं और न ही रामायण और महाभारत ऐतिहासिक ग्रन्थ ही हैं। यह पूर्व ऐतिहासिक काल कहा जा सकता है, लेकिन इनका सदेश और समस्याओ का निरूपण इतना सामयिक और जीता जागता है कि ऐसा लगता है कि मानो हमारे जीवन को स्पर्श करती हुई ये घटनायें हो। इनमे निरन्तरता और चिरन्तनता प्रवाहित होती है।

वाल्मीकि के प्रारम्भिक जीवन के बारे में अधिक ज्ञात नहीं है। लोक कथाये इस प्रकार हैं कि वह प्रारम्भिक जीवन में डाकू थे, लेकिन उनके जीवन मे बड़ा परिवर्तन आया और वह संन्यासी बन गये। ऐसा कहा जाता है कि महर्षि भृगु के आग्रह पर जब उनके परिवार के सदस्यो ने यह कहा कि वे उनकी पाप की कमाई में भागीदार हैं, लेकिन उनके पापों में नही, तो वाल्मीकि मे ज्ञान उत्पन्न हुआ और वह संन्यासी हो गये। इस एक घटना ने उनके जीवन को बदल दिया और वह विश्व के एक अत्यन्त लोकप्रिय और प्रभावशाली महाकाव्य के रचयिता बनकर सदा के लिए अमर हो गये। ऐसा भी कहा जाता है कि उनके पूछने पर कि आदर्श राजा कैसा होना चाहिये, सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा ने राम के जीवन से जुड़ी सभी घटनायें बहुत पहिले ही बता दी और इसलिये कहा जाता है कि वाल्मीकि ने राम के जन्म के कई हजार वर्ष पूर्व ही रामायण की रचना कर दी। ऐतिहासिक, पूर्व ऐतिहासिक या कपोलकल्पित कुछ भी हो वाल्मीकि की रामायण एक अद्‌भुत ग्रन्थ है जिसने युगों युगो तक मानव को अनुप्राणित किया है और तुलसीदास ने हिन्दी में रामायण की रचना कर कोटि कोटि जनो को राम के जीवन से प्रेरणा लेने का संदेश दिया है। कुछ प्रसंगों को छोड़कर तुलसीकृत रामायण वाल्मीकि के महाग्रन्थ पर ही आधारित है और इस प्रकार प्राचीन काल के महानायक और उनके जीवन पर आधारित प्रेरक घटनाओ और संदेश को लिपिबद्ध कर इस अमूल्य धरोहर को अक्षुण्ण बनाये रखने का महान कार्य वाल्मीकि द्वारा सम्पन्न हुआ है।

प्रो. वी. आर. मेहता[1] के अनुसार रामायण ने एक व्यापक वैश्विक दृष्टिकोण को प्रतिपादित किया जिसका प्रचण्ड प्रभाव भारत मे सामाजिक संबन्धो पर पड़ा। द्वितीय, रामायण के राम आदर्श राजा के रूप मे चित्रित किये गये जो आज भी राजनीति के विद्यार्थी के लिए प्रेरणा के स्रोत है। आज भी कोटि कोटि भारतीय राम जैसे शासक को आदर्श के रूप मे प्रस्तुत करते हैं। तृतीय, जनमत का राजा के लिए कितना महत्त्व है, यह शासक के रूप में राम के जीवन से सीखा जा सकता है। केवल एक धोबी के कहने

---

1. वी. आर. मेहता : वही पुस्तक, पृ 33-34

से सीता को वनवास भेज देना जनमत के महत्त्व को दर्शाता है। राजा द्वारा जनमत का सम्मान किये जाने का यह एक अद्भुत उदाहरण है। प्रजा के सुख मे ही राजा का सुख है, उसका स्वय का न कोई स्वार्थ है और न ही कोई पृथक् अस्तित्व है– यही एक अनूठा आदर्श है जो राम के जीवन मे प्रतिलक्षित होता है। यहाँ राजा और प्रजा एकाकार हो जाते हैं। राम कैसे थे इसके बारे मे रामायण से एक उद्धरण प्रस्तुत किया जा रहा है। उनकी सम्यक् दृष्टि है, अपने वचन का पालन करते है, विनम्र और कानून के सरक्षक हैं। उनका चरित्र पवित्र और उच्च है। वह प्रसिद्ध व्यक्ति हैं, बुद्धिमान हैं और ज्ञानवान हैं, सबके सरक्षक, धर्म एवं जाति के रक्षक हैं, वह अपने स्वजनो और मित्रो के सहायक हैं। वह स्वय प्रजापति की भाँति हैं। वह सबके रक्षक हैं, लेकिन शत्रुओ का नाश करने वाले हैं। वह अपने अनुयायियों को सदा शरण देने वाले हैं। वह वेदो के ज्ञाता हैं व धनुर्विद्या में पारंगत हैं और मृत्यु को प्राप्त होने वाले शत्रु भी उनके पराक्रम का लोहा मानते हैं। वह बड़े साहसी हैं। वह वास्तव मे महान हैं और सुसंस्कृत हैं और गाथाओ के परम विद्वान हैं। वह बुद्धिमान, दयावान और पराक्रमी योद्धा हैं। उनको प्रत्येक व्यक्ति प्यार करता है और वह मित्रों और शत्रुओं सभी के प्रति समान व्यवहार करते हैं।[1]

वाल्मीकि राज्य को आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार मनुष्य की वास्तविक इच्छाओ की पूर्ति हेतु ही राज्य का जन्म हुआ है। यद्यपि समाज राज्य के पूर्व का है, लेकिन राज्य के बिना समाज अपनी मर्यादा और शांति खो देगा, वैसे वाल्मीकि राज्य और समाज दोनों मे कही विरोध नहीं देखते हैं। उनके विचार मे दोनो ही धर्म पर आधारित हैं और दोनों का उद्देश्य सत्य की खोज करना है। राज्य एक व्यवस्था है, धर्म के बिना न राज्य चल सकता है और न ही कोई व्यवस्था ही। अत धर्म दोनो के लिए नितान्त आवश्यक है।

नीति और राजनीति का सम्बन्ध

रामायण मे वर्णित राजनीति नीति का एक अंग है। राजा अपनी इच्छा से कुछ भी करने को स्वतंत्र नहीं है। जब कैकेयी के आग्रह पर दशरथ ने राम को अनिच्छापूर्वक बनवास दिया तो राम के भाई लक्ष्मण और माता कौशल्या ने राम को पिता की आज्ञा न मानने की सलाह दी और आग्रह किया कि वह तो राजगद्दी सभाले। राम ने इसे अस्वीकार करते हुए कहा कि यह प्रस्ताव राजनीति और क्षात्रविद्या से दूषित है और इसलिये इसके स्थान पर वह धर्म की पालना करते हुए पिता की आज्ञा को मानेंगे। जब भरत राम को लिवाने जंगल में जाते हैं तो भी वह अस्वीकार कर देते हैं। ऋषि जाबालि भी भरत का समर्थन करते हैं और कहते हैं कि मनुष्य को अनुभव से काम लेना चाहिये जो कि सर्वोपरि

---

1 एम एन सेन दि रामायण ऑफ वाल्मीकि, देहली युनिवर्सिटी, पृ 2, वी आर मेहता (वही पुस्तक) द्वारा उद्धृत, पृ 3।

है। जाबालि भौतिकवादी थे और मानते थे कि मृत्यु के बाद कोई जीवन नहीं होता और न इन्हें प्राप्त करने का ही कोई साधन है। लेकिन राम ने जाबालि की बात को ठुकरा दिया और कहा कि धर्म अनुभव से ऊपर है और मनुष्य के कर्म ही उसके भाग्य को निर्धारित करते हैं। केवल सत्य का अनुसरण करने से ही संसार में भौतिक और आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति हो सकती है। राम ने धर्म से विरोध होने पर क्षात्र धर्म को छोड़ने की भी बात कही। राम का कथन है कि क्षात्र धर्म, धर्म से विपरीत नहीं जा सकता। उन्होंने कहा कि क्रूर, नीच, लोभी और पापी लोगों ने क्षात्र धर्म को दूषित कर दिया है। अतः उन्होंने क्षात्र धर्म के स्थान पर सात्वव्रत[1] की बात कही जिसमें सत्य और करुणा है और इसलिये राज्य सत्य पर ही आधारित है। कहने का अर्थ यह है कि वाल्मीकि राजनीति को नीतिशास्त्र से कहीं भी पृथक् नहीं होने देते और राजा अपने कार्यों के संचालन में कहीं भी अनैतिक नहीं हो सकता।

राजा, राजतंत्र एवं राजधर्म

वाल्मीकि राज्य और राजा दोनों को ही अपरिहार्य मानते हैं। जब राम बन को चले जाते हैं और दशरथ की मृत्यु हो जाती है तो सभी ब्राह्मण एकत्रित होकर राजपुरोहित वशिष्ठ से निवेदन करते हैं कि वह तत्काल राजपरिवार के किसी सदस्य का राजतिलक करें क्योंकि राजा विहीन देश (अराजक जनपद) में बादल स्वर्गीय वर्षा नहीं करते, बीज उगते नहीं, व्यापारी एक स्थान से दूसरे स्थान पर व्यापार हेतु जाते नहीं। ऐसे राज्य में पुत्र पिता की, पत्नी पति की और शिष्य गुरु की आज्ञा नहीं मानते। ऐसे राज्य में पत्नी और सम्पत्ति खतरे में पड़ जाती हैं, मनुष्य स्वयं का भी स्वामी नहीं रह पाता, उच्च वर्ग के लोग यज्ञ नहीं कर पाते, ऋषि मुनि तपस्या नहीं कर पाते, न कोई उत्सव मनाया जाता है और न ही कोई सामाजिक समारोह ही, अच्छे परिवारों की महिलाएँ भी निर्भीक होकर बाहर चल नहीं पाती, प्रेमी प्रेमिकाओं के साथ उद्यानों में विचरण नहीं कर पाते, धनी लोग अपने खुले दरवाजों में सो नहीं पाते। कहने का अर्थ यह है कि राजा विहीन भूमि सूखी हुई नदी की भांति निर्जीव हो जाती है, जंगल घास रहित हो जाते हैं।

राजा के पद, गुण और ऐश्वर्य का भी वाल्मीकि ने वर्णन किया है। राजा सत्य, धर्म और मर्यादा को सतत ध्यान में रखता है, वह उच्च कुल में जन्मा होता है, प्रजा के लिए वह माता पिता तुल्य होता है, वह प्रजा के हित को सतत ध्यान में रखता है। वह गुणों में यम, कुबेर, इन्द्र और वरुण से भी बढ़कर है। राम भरत को कहते हैं कि जिस प्रकार वरुण वर्ष में चार मास वर्षा करता है उसी प्रकार राजा को प्रजा पर निरन्तर स्नेह की वर्षा करते रहना चाहिये। जिस प्रकार सूर्य वर्ष में आठ महिने अपनी किरणों से पानी ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा को विधि के अनुसार कर लेना चाहिये। जिस प्रकार

1-2. यू. एन. घोषाल : वही पुस्तक, पृ. 272.

वायु सभी में व्याप्त है उसी प्रकार राजा को अपने गुप्तचरों के माध्यम से सब जगह की खबर लेते रहना चाहिये, जिस प्रकार यम अपने मित्रों और शत्रुओं को मर्यादा में रखता है उसी प्रकार राजा को चाहिये कि वह भी मित्र और शत्रु दोनों के प्रति समान व्यवहार करे, जिस प्रकार चन्द्र सभी को प्रसन्न करता है वैसे ही राजा को भी चाहिये कि वह प्रजा को समान रूप से प्रसन्न रखे। जैसे पृथ्वी बिना किसी भेदभाव के सभी प्राणियों का पालन करती है वैसे ही राजा को भी समस्त प्रजा का लालन पालन करना चाहिये। कहने का सार यह है कि राजा का पद परिवार, सम्पत्ति की सुरक्षा करता है और व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में सुख समृद्धि एवं आनन्द का संचार करता है।

वाल्मीकि एक ओर राजा में देवत्व देखते हैं लेकिन किंकर्तव्य विमूढ़ होने पर राजा को चेतावनी भी देते हैं। यह यूरोप का दैविक सिद्धान्त नहीं है जहाँ राजा कुछ भी करने का अधिकारी है। वाल्मीकि का राजा स्वामी भी है तो सेवक भी है। दूसरे शब्दों में, वह सेवक है इसलिये स्वामी है। यदि वह सेवक नहीं रहेगा तो स्वामी इसलिये नहीं बन सकता चूंकि वह राजा है। बाली घायल होकर राम को कहते हैं कि यह उन्होंने घृणित कार्य किया है क्योंकि राजा के वध करने वाले को नरक भोगना पड़ता है। इस पर राम ने बाली को यह ही कहा कि राजा को मर्यादा में रहना चाहिये और जनता की प्रसन्नता और सुरक्षा के कार्य करने चाहिये। वाल्मीकि राजा की निरंकुश सत्ता के पक्षधर नहीं हैं। राजा के मर्यादा च्युत होने पर वह दण्ड से भी उन्मुक्त नहीं है।

यद्यपि वाल्मीकि सामाजिक समझौते के सिद्धान्त[1] की तो वकालत नहीं करते, लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से इसकी झलक मिलती है। राम सीता को कहते हैं कि क्षत्रिय इसलिये शस्त्र धारण करते हैं ताकि आर्त शब्द ही उनके राज्य में न रहे। दण्डक वन में ऋषिगण राम को कहते हैं कि चूंकि वे लोग उनके राज्य में रहते हैं और उन्होंने क्रोध, वासना एवं रसिक वृति त्याग दी है अतः राजा के आश्रय के अधिकारी हैं। अन्य स्थल पर ऋषिगण राम से कहते हैं कि राजा पाप का भागी है यदि वह 1/6 कर तो वसूल कर लेता है और प्रजा की रक्षा करने में असमर्थ है। अपने पुत्र की अकाल मृत्यु पर एक वृद्ध ब्राह्मण राम को कहता है कि राजा की त्रुटि के कारण यदि प्रजा को उचित संरक्षण प्राप्त नहीं होता तो राजा दोष का भागी है। ब्राह्मण की इस दलील को आगे बढ़ाते हुए नारद राम को कहते हैं कि यदि कोई व्यक्ति गैर कानूनी और अनैतिक कार्य करता है तो वह और राजा दोनों ही नरक जाते हैं। यू. एन घोषाल यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इन उदाहरणों से तीन सिद्धान्त बनते हैं। नैतिक, धार्मिक, दैविक और अर्द्ध अनुबन्धीय। सार यह है कि रामायण में वर्णित राज-व्यवस्था यद्यपि राजोन्मुख है, लेकिन राजा प्रजा के दैहिक, दैविक और भौतिक तापों का निवारण करने एवं उन्हें सुख, शान्ति

---

1 यू. एन घोषाल उपर्युक्त पुस्तक, पृ 274

समृद्धि प्रदान करने हेतु ही बना है और इसी उद्देश्य हेतु नियमानुसार कार्य करना ही राजधर्म है।

व्यास
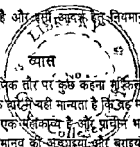
व्यास के बारे में भी प्रामाणिक तौर पर कुछ कहना मुश्किल है। वह एक ऋषि, चिन्तक और व्याख्याकार हैं। उनके बारे में यही मान्यता है कि वह महाभारत के रचनाकार हैं। महाभारत रामायण की भांति एक महाकाव्य है और प्राचीन भारत का अनुपम ग्रन्थ है जिसमें जीवन का निरुपण है। मानव की अच्छाइयाँ और बुराइयाँ, समाज की स्थिति, राजनीति, कूटनीति, शांति, युद्ध, सन्धि, नैतिकता, न्याय, अन्याय, व्यक्ति की कुत्सित मनोवृति और महत्त्वाकांक्षा, शासन और प्रशासन, ऊँच नीच, नारी की स्थिति, जनसाधारण की स्थिति, आर्थिक दशा एवं सांस्कृतिक परम्परा आदि अनेकानेक विषय महाभारत की अध्ययन सामग्री में सम्मिलित हैं। जहाँ रामायण में वर्णित कृषि प्रधान ग्रामीण समाज है वहाँ महाभारत में बदलते समाज का दिग्दर्शन है, जिसमें शहरी सभ्यता का बोध होता है; जहाँ रामायण में आदर्श और मूल्यों का दिग्दर्शन है वहाँ महाभारत यथार्थवादी समाज का महाकाव्य है। महाभारत को पढ़ने से लगता है कि मानो यह हमारे जीवन की ही कहानी हो। ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत में वर्णित द्वन्द्व जैसे हमारे अन्दर ही चल रहा है।

राजधर्म और दण्डनीति[1]

युधिष्ठिर एक सत्यवादी आदर्श राजा के रूप में चित्रित किये गये हैं। उनके अनुसार राजधर्म सभी प्राणियों की रक्षा करता है, यह उनकी शरणस्थली है, यह केवल इस लोक की भौतिक और सांसारिक समस्याओं का ही निदान नहीं है बल्कि मुक्ति का द्वार भी है। युधिष्ठिर के अनुसार धर्म एक अत्यन्त व्यापक अवधारणा है जिसमें राजा और प्रजा सभी आबद्ध हैं। लेकिन राजधर्म अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जब राजा अपने धर्म से च्युत हो जाता है तो समाज में अव्यवस्था छा जाती है और सर्वत्र कोलाहल व्याप्त हो जाता है। जिस प्रकार सूर्य अंधकार को विदीर्ण कर सबको प्रकाशवान बनाता है उसी प्रकार राजधर्म के उचित प्रयोग द्वारा राजा प्रजा के हृदय को आलोकित करता है। राजधर्म समस्त बुराइयों को नष्ट कर देता है। व्यास का कथन है कि राजधर्म अन्य धर्मों के मूल में है। राजधर्म में सभी धर्म समाहित हैं। जबकि अन्य धर्म साधारण शांति और सुविधा ला पाते हैं, क्षात्र धर्म संपूर्ण समाज और प्राणियों को व्यापक शांति और सुख प्रदान करता है। जैसे हाथी के पाँवों में सबके पाँव आ जाते हैं वैसे क्षात्रधर्म में सभी समा जाते हैं। पूजा-पाठ, यज्ञ-हवन, जप-तप, चिन्तन-मनन तब ही संभव है जबकि राजधर्म प्रज्वलित रहता है। वर्णाश्रम धर्म भी तब ही सुरक्षित रह पाता है। भीष्म के अनुसार

---

1 यू एन घोषाल, वही पुस्तक, पृ 188-93

क्षात्र धर्म सबसे पहले आता है और चूँकि अन्य धर्म इसमे समाहित हैं इसलिये यह सर्वोच्च धर्म है। इसके बिना सर्वनाश हो जायेगा। भीष्म राजधर्म को सर्वोपरि मानते हुए कहते हैं कि राजा जब अपने कर्तव्य का पालन करता है तो उसे उन संन्यासियों से भी सौ गुना ज्यादा यश मिलता है जो कि जंगलो मे रहते हैं। युधिष्ठिर को आश्वस्त किया गया है कि राजधर्म की पालना/अनुपालना से जिसमे प्रजा की रक्षा सर्वोपरि है राजा यह लोक और परलोक दोनो ही सुधार लेता है। राजधर्म की अनुपालना होने पर अपने प्राणो की आहुति दे देना सर्वोच्च क्षात्रधर्म है। यू. एन. घोषाल[1] के अनुसार राजनीति (राजधर्म) वस्तुत. मौलिक सामाजिक और राजनीतिक सिद्धान्त है जो मानव के उद्देश्यों की पूर्ति और शाश्वत सुरक्षा प्रदान करती है। यह सर्वाधिक विस्तृत और गुणात्मक दृष्टि से मानव गतिविधियो का सर्वोच्च नैतिक दर्शन है। यह सार्वजनिक सुरक्षा और सामाजिक व्यवस्था के स्थायित्व पर आधारित नियम है। इसका औचित्य इस बात से है कि राजा करुणा और त्याग के द्वारा सद्गुण पर आधारित मापदण्डो की स्थापना करता है। इसके द्वारा सदाचारी को सम्बल मिलता है और दुराचारी को कष्ट, दूसरे शब्दो मे, दुराचारी सदाचार की ओर प्रवृत्त होने लगता है। दूसरे शब्दों मे, राजनीति व्यक्ति और सामाजिक नैतिकता की ही एक विस्तृत शाखा है। भीष्म कहते हैं कि यदि दण्डनीति नष्ट होती है तो तीनो वेद लुप्त हो जायेंगे और कर्त्तव्यों की दुनिया में कोलाहल मच जायेगा। राजा के आततायी होने पर असमंजस की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। केवल दण्डनीति के प्रयोग से ही पुण्यात्मायें दुष्टात्माओं को वश मे कर पायेंगी और धर्म का क्षय नहीं होगा। समाज मे सुख समृद्धि और शांति और प्रसन्नता केवल दण्डनीति के समुचित प्रयोग द्वारा ही संभव है। दण्डनीति का क्षेत्र इतना व्यापक है कि केवल इसके माध्यम से ही राजा अप्राप्त वस्तु को प्राप्त कर सकता है और प्राप्त की हुई को सुरक्षित रख सकता है। सार यह है कि व्यास के अनुसार राजधर्म और दण्डनीति एकाकार हो जाते हैं।

राज्य और राजा

व्यास राज्य की उत्पत्ति के बारे मे भी प्रकाश डालते हैं। वह राजा को अद्भुत शक्तियों का धारक मानते हैं। भीष्म एक प्रश्न के उत्तर में युधिष्ठिर को बताते हैं कि एक ऐसा व्यक्ति जिसका आध्यात्मिक खजाना खाली हो जाता है वह स्वर्ग से उतर कर पृथ्वी पर आता है और राजा बनता है। वह राजनीति में दक्षता और विष्णु की कृपा से बुद्धि बल प्राप्त करता है। देवतागण उसे स्थापित करते हैं, कोई उससे बढ़कर नहीं हो सकता। हर व्यक्ति उसे स्वीकार करता है, उसके अच्छे कार्य अच्छे परिणाम लाते हैं यद्यपि वह संसार के अन्य प्राणियों की भाँति ही है, लेकिन देवकृपा और सद्गुणों के। मनुष्यों के लिए वह देवतुल्य बन जाता है।[2]

---

1 यू एन घोषाल वही पुस्तक, पृ 191
2 यू एन घोषाल वही पुस्तक, पृ 196

व्यास राज्य की उत्पत्ति का जो सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं उसमें दैविक और आनुबन्धिक दोनों ही तत्वों का सम्मिश्रण है। महाभारत में राज्य की उत्पत्ति से संबन्धित दो प्रसिद्ध सिद्धान्त स्पष्ट होते हैं। राज्य विहीन प्राकृतिक राज्य भयावह था। भीष्म के कथनानुसार ऐसे राज्य मे डाकुओं का प्रकोप था, मनुष्य एक दूसरे के प्राणों के प्यासे बन गये जिससे न परिवार और न ही सम्पत्ति की रक्षा हो पाई। व्यक्तियों को बलात गुलाम बनाया जाने लगा, औरतों का अपहरण होने लगा, शक्तिशाली दुर्बलजनों को मछली की भांति भूनने लगे, ऐसे राज्य में धर्म नष्ट होने लगा और अग्नि के द्वारा देवताओ को आहुति देना भी संभव नहीं था। अत: इस स्थिति से उबारने हेतु ब्रह्मा ने राजा का निर्माण किया। दैविक सिद्धान्त यहाँ समाप्त हो जाता है। अब राजा और प्रजा के बीच एक प्रकार का अनुबन्ध हो जाता है जिसके अनुसार प्रजा उसे कर देना स्वीकार करती है और राजा इसके एवज में संरक्षण प्रदान करता है।

यहाँ भीष्म राजा के पद की महता पर प्रकाश डालते हैं। यह महत्त्व व्यक्ति और समाज दोनो के ही लिये है। राजा की आवश्यकता समाज के अस्तित्व एवं उसकी समृद्धि हेतु है। राजा के होने पर लोग सुरक्षित अनुभव करते हैं, महिलायें बिना किसी के संरक्षण के स्वतंत्रतापूर्वक भ्रमण करती हैं, वर्णाश्रम धर्म सुरक्षित रहता है, तीनों वर्ण वेदो का अध्ययन करते हैं, त्रयी और वार्ता (अर्थशास्त्र) सुरक्षित है। इस प्रकार राजा देवताओ के कार्य करता है। वह अग्नि बनकर अपनी प्रचण्ड शक्ति से पापियों को नष्ट करता है, सूर्य बनकर अपने गुप्तचरों के माध्यम से सब पर नजर रखता है और प्रजा की भलाई करता है। यमराज का रूप ग्रहण कर वह दुष्टो को गंभीर दण्ड देता है और अच्छे लोगों को प्रोत्साहित करता है और कुबेर के रूप में राजा श्रेष्ठ लोगों को धन- धान्य से भरपूर करता है और दुर्जनों से उनकी सम्पत्ति छीन लेता है।

भीष्म एक अनूठी बात और कहते हैं। चार युग क्रेता, त्रेता, द्वापर और कलियुग राजा की शासन कला के मुताबिक ही बनते हैं। दूसरे शब्दो में, दण्डनीति का प्रयोग ही युगों की स्थापना करते हैं। दण्डनीति का सम्पूर्ण और समुचित प्रयोग, तीन चौथाई प्रयोग, आधा प्रयोग तथा सम्पूर्ण निषेध इन चारों युगो का प्रतीक है।[1]

प्रजा द्वारा राजा की आज्ञा का पालन भी जरूरी है। भीष्म का कथन है कि किसी राष्ट्र (देश) के लोगों का प्रथम कार्य राजा का राज्याभिषेक करना है। फिर उसकी निरन्तर आज्ञा मानना, उसे भेंट देते रहना, प्रजा का दूसरा कर्तव्य है। भीष्म यह बात कहकर राजा और प्रजा दोनों को ही चेतावनी दे रहे हैं। चेतावनी यह है कि राजा का यदि उसकी प्रजा सम्मान करती है तो शत्रु भी उसका सम्मान करेंगे। जनता यदि उसे सम्मान नहीं देती तो शत्रु उस पर विजय प्राप्त कर लेंगे। यदि राजा शत्रु द्वारा जीत लिया गया तो सब लोग दुखी हो जायेंगे।

---

1 यू एन घोषाल वही पुस्तक, पृ 199

लेकिन राजा पर भी प्रतिबन्ध जबर्दस्त हैं। व्यास भीष्म के माध्यम से यही कहते हैं कि राजा धर्मानुसार आचरण के लिये है, मनमानी करने के लिये नहीं। सत्ता का प्रयोग श्रेष्ठ आदमियों की रक्षा और दुष्टों के दमन हेतु है और इस प्रकार राजधर्म उच्चतम ध्येय की प्राप्ति के लिये है। यही राजा पर बहुत बड़ा बंधन है और सच तो यह है कि सप्रभुता धर्म में निवास करती है। पृथ्वी पर वस्तुतः धर्म ही राज करता है, व्यक्ति नहीं। राजा चूँकि व्यक्ति है अतः धर्मानुसार आचरण करता है तो वह देवतुल्य है अन्यथा उसे नरक प्राप्त होगा। जिसके व्यक्तित्व में धर्म प्रज्वलित होता है वही वस्तुतः राजा है। राजा का सर्वोच्च कर्तव्य है कि वह अपने मनोविकारों को नियंत्रण में रखकर, धर्म का अनुसरण करे। अहंकार को नियंत्रण में रखकर वह राजा बनता है और उसका शिकार बनकर गुलाम बन जाता है। राजा का श्रेष्ठ आचरण हो, वह इन्द्रियों का स्वामी हो, विवेकशील हो, संवेदनशील हो, उदात्त एवं कृपालु हो– यह उससे अपेक्षा की गयी है। राजा वेन को मार दिया गया क्योंकि वह पापी और विलासी था। उसके स्थान पर पृथु राजा बनाया गया जिसने प्रजा की रक्षा का वायदा किया। इस प्रकार यहाँ सामाजिक समझौते का सिद्धान्त स्पष्ट होता है।

राजा द्वारा किये गये कार्य कितने नैतिक हों इस पर भी महाभारत में वर्णन किया गया है। वैसे भारतीय परम्परा में अनेक स्थानों पर राजा द्वारा किये जाने वाले अनैतिक कार्यों को भी स्वीकृति मिली है। वेदों में भी वर्णन किया गया है कि जहाँ जीवन खतरे में है, शादी बन्धन में विघ्न उपस्थित हो गया है, जहाँ राजकोष खतरे में है या अन्य लोगों को धर्म की परिधि में बांधे रखना है वहाँ असत्य वचन बोले जा सकते हैं। युधिष्ठिर के यह कहने पर कि राजधर्म की अनुपालना में वह आध्यात्मिक विकास नहीं कर पा रहे हैं और वन को प्रस्थान करना चाहते हैं, भीष्म उन्हें ताड़ना देते हैं। भीष्म का कथन है कि राजा के रूप में उन्हें जो कार्य करने पड़ सकते हैं वे सभी नैतिक नहीं हो सकते, लेकिन वे करने पड़ते हैं अतः राजधर्म से बड़ा कोई धर्म नहीं है। ऐसा न करने पर वह अपने कर्तव्य से विमुख हो जाएगा और राज्य में विद्वान, श्रेष्ठ लोग और अन्य प्रजाजन संकट में पड़ जायेंगे, भीष्म एक व्यावहारिक और यथार्थवादी के नाते युधिष्ठिर को राय देते हैं कि अपने कर्तव्यों के पालन में कोई भी नैतिकता का पूरा पालन नहीं कर पाता है चाहे राजा हो, गृहस्थ हो या वैदिक विद्वान हो। भीष्म इसको विस्तार से समझाते भी हैं। वह कहते हैं कि कुछ कर्तव्य सत्य पर, कुछ तर्क (उपपत्ति) पर एवं अन्य श्रेष्ठ परम्पराओं (सदाचार) और उपाय पर आधारित होते हैं। भीष्म कुछ उदाहरण भी देते हैं। मानों डाकुओं ने राज्य को घेर लिया है और शत्रुता का व्यवहार करते हैं तो राजा कोई भी चालाकी कर सकता है। जब शत्रुओं द्वारा उसके राज्य में असंतोष उत्पन्न किया जा रहा है तो वह उनके विरुद्ध कोई भी धोखेबाजी कर सकता है।

भीष्म परिस्थितियों के मुताबिक निर्णय लेने की सलाह देते हैं और आवश्यक

नहीं कि यह निर्णय स्थापित नैतिक मापदण्डो के अनुकूल ही हो। इसलिये वह राजा को धर्म, बुद्धि और सदाचार पर आधारित निर्णय लेने की सलाह देते है। वह अनुभव पर भी जोर देते हैं। भयंकर संकट की स्थिति में जबकि अपरिहार्य कारणों से राजा का कोष खाली हो जाये और उसका जीवन ही खतरे मे पड़ जाय, वह ब्राह्मणों और साधुओं के अतिरिक्त सबकी सम्पत्ति जब्त कर सकता है। भीष्म यह राय अवश्य देते हैं लेकिन वह यह कह कर अनैतिकता की स्वीकृति नहीं दे रहे हैं। यह केवल राजधर्म को जीवित रखने और अत्यन्त विषम परिस्थितियों मे ही स्वीकृत है क्योंकि राजधर्म के अभाव में समाज मे अराजक स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। यहाँ यह भी स्मरणीय रहे कि राजा को यह कठोर कदम केवल राज्य और प्रजा के हित मे ही उठाने की अनुमति है। अपने हित और स्वार्थ की पूर्ति हेतु कदापि नहीं। दूसरे शब्दों में, राजा जनहित में जो करे वह अनैतिक नहीं है। वैसे यह सिद्धान्त खतरनाक सिद्ध हो सकता है। जनहित की आड़ में राजा मनमानी भी कर सकता है फिर जनहित क्या है इसको परिभाषित करना भी मुश्किल है। अनैतिक कार्य करने की छूट फिर अपवाद नहीं, स्वविवेकी शक्ति भी बन जाती है जिसका राजा दुरुपयोग कर सकता है।

महाभारत में वर्णित गणराज्य

यद्यपि राजतंत्र ही प्राचीन भारत की प्रमुख शासन प्रणाली रही है, लेकिन गणराज्यो के अस्तित्व के बारे में भी पर्याप्त अध्ययन सामग्री उपलब्ध है। महाभारत का शान्तिपर्व प्रकरण इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। एक प्रश्न के उत्तर में भीष्म नारद की वासुदेव कृष्ण से हुई वार्ता के प्रसंग में कहते हैं। कृष्ण दो गणराज्यों-अंधक और वृष्णि के संघ मुख्य थे। कृष्ण बड़े ही दयनीय भाव से नारद को कहते हैं कि उनकी स्वजातीय बन्धुओं के समक्ष गुलाम जैसी स्थिति बन जाती है। उन्हें उनकी प्रशंसा करनी पड़ती है, भोग्य पदार्थों का उनके साथ बराबरी का बंटवारा करना पड़ता है, उनके कटुवचनों को भूल जाना पड़ता है। कुछ उनका साथ दे और अन्य विरोध करें तो भी स्थिति मे परिवर्तन नहीं आता। आहुक और अक्रूर जैसे दो वीरो के मध्य उनकी स्थिति उस माँ जैसी हो जाती है जो एक की विजय चाहते हुए भी दूसरे की हार नहीं चाहती।[1] कृष्ण नारद की राय लेते हैं कि ऐसी स्थिति मे गणराज्य का संचालन किस प्रकार किया जाय। नारद उत्तर देते हुए कहते हैं कि कृष्ण को चाहिये कि वह स्वजातीय बन्धुओ की जबान को ठीक करने के लिए ऐसे हथियार को काम मे ले जो नम्र हो और फिर भी हृदयो को चीरता हुआ चला जाये। यह हथियार अपनी योग्यता, आत्म संयम, साहस एवं सम्मान का प्रतीक हो। केवल बड़ा आदमी ही ऐसा कर सकता है। जो ऐसा नहीं है जिसमें आत्म संयम नहीं है और जिसके मित्र नहीं है, बड़े बोझ के नीचे दबा रहेगा। भीष्म के अनुसार

---

1. यू. एन. घोषाल - वही पुस्तक, पृ. 237

नारद पुन कृष्ण को कहते हैं कि आन्तरिक विग्रह ही सघो (गणराज्यो) के विघटन का कारण बन जाता है और गणराज्य केवल उसी के काबू में आते हैं जिसमे बुद्धिमत्ता, धैर्य, आत्म सयम, दानशीलता हो और वासुदेव कृष्ण को ऐसी तरह से काम करना चाहिये ताकि उनके स्वजातीय लोगो की बर्बादी न हो।

भीष्म पितामह को युधिष्ठिर पुन एक सीधा प्रश्न पूछते हैं कि गणराज्य टूटने के बजाय किस प्रकार प्रगति कर सकते हैं और किस प्रकार वे शत्रुओं पर विजयी होकर मित्रो की सख्या मे वृद्धि कर सकते हैं। युधिष्ठिर अपने प्रश्न को स्पष्ट करते हुए यह भी कहते हैं कि सामवत आपसी कटुता की वजह से गणराज्य नष्ट हो जाते हैं। भीष्म इस प्रश्न का विस्तृत उत्तर देते हैं। उनका कथन है कि गणराज्यो मे समाज के करीब करीब सभी वर्गों और विशेष तौर पर शासकों में लोभ और अहंकार से कटुता बढ जाती है। मूल मे लोभ है और जब इसकी पूर्ति नहीं होती तो क्रोध आता है। जिन्हे जन और धन की हानि होती है वे अपने विरोधियो को धोखेबाज शक्ति और चालाकी के माध्यम से हानि पहुँचाना चाहते हैं। गणराज्यो में रिश्वत का बोलबाला रहता है और असंगठित और निरुत्साहित होकर गणराज्य भय के कारण शत्रुओं के अधीन हो जाते हैं। भिन्न-भिन्न मत मतान्तरो के कारण वे विभाजित हो जाते हैं और प्रजा का हित ताक मे रख दिया जाता है। गणराज्यो मे सब अपने को बराबर समझते हैं और इसलिये एक दूसरे की सत्ता को आसानी से स्वीकार करना ही नहीं चाहते, लेकिन बुद्धिमता, त्याग और बहादुरी में सभी एक से नहीं होते।

भीष्म का कथन है कि गणराज्य तभी प्रगति और समृद्धि को प्राप्त होते हैं जब कि बुद्धिमान और बहादुर लोग निर्णय प्रक्रिया से जुड़े रहें और उनका सम्मान हो। यह चेतावनी देते हैं कि गणराज्य पतनोन्मुख होगे यदि चन्द परिवारो का उन पर वर्चस्व आच्छादित रहे, परिवारों का सघर्ष गोत्रो के संघर्ष के रूप मे परिवर्तित हो जाता है और अन्ततोगत्वा गणराज्य सबका राज न होकर कुछ जातियो, परिवारों और गोत्रों के शासन के रूप में बदल जाता है और इसके परिणाम हितकारी नहीं होते। भीष्म इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गणराज्यों की रक्षा और समृद्धि तब ही सम्भव है जबकि बुद्धिमान और वीर पुरुष सत्ता में रहें, वे चरित्रवान भी होने चाहिये ताकि लालच और प्रलोभन में आकर कोई सौदेबाजी न करे। पारिवारिक बंधनों को राजकार्य में विघ्न डालने से रोकें, अपने पुत्रों और पौत्रों को अनुशासन मे रखें अन्यथा वे बदनामी का कारण बन जायेंगे। गणराज्य तब ही सुरक्षित रह पायेंगे जबकि उनका कोष भरा हुआ हो, शत्रु की चाल को नाकाम करने का उनमे सामर्थ्य हो, जनता शासक वर्ग की समर्थक हो और आन्तरिक शांति और प्रसन्नता हो।

भीष्म और भी गहराई में जाकर कहते हैं कि समाज में जितनी अधिक बौद्धिक, नैतिक और भौतिक असमानता होगी उतनी समाज में अशांति होगी, यदि इस पर नियंत्रण

नहीं हो पाया तो गणराज्यों का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा। भीष्म एक और महत्वपूर्ण बात की ओर संकेत करते हैं कि गोपनीयता बनाये रखने में असमर्थता के कारण शासक वर्ग गणराज्य को संकट में डाल देते हैं। इसलिये उनका सुझाव है कि राज्य की गोपनीय नीतियाँ सार्वजनिक न हो, वह केवल बुद्धिमान, चरित्रवान, ज्ञानवान और कुलीन परिवार के लोगों तक ही सीमित रहे और विशेषतौर पर जहाँ पर यह दायित्व रहे। भीष्म यह भी सुझाव देते हैं कि नागरिक विद्वानों का आदर करें, वे ईमानदार रहें, श्रेष्ठ रीति रिवाजों का पालन करें, युवा वर्ग के लिए प्रशिक्षण हो, राज्य के विरुद्ध किये जाने वाले षडयंत्रों के प्रति सतर्क रहें एवं राज कोष का ध्यान रखा जाये।[1]

कौटिल्य और उनका अर्थशास्त्र

प्राचीन भारत के राजनीतिक विचारकों में कौटिल्य का नाम सर्वोपरि है। यद्यपि मनु, शुक्र, वृहस्पति एवं अन्य कई विचारक हुए हैं लेकिन उनके काल, योगदान आदि के बारे में बड़ा विवाद है। कौटिल्य ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और उनकी अमर कृति अर्थशास्त्र सर्वमान्य ग्रन्थ है। यह प्रथम भारतीय ग्रन्थ है जिसमें आध्यात्म, धर्म आदि परम्परागत प्रभावों से मुक्त होकर राजनीति, शासन, प्रशासन, आर्थिक एवं समाजशास्त्रीय तत्त्वों, कूटनीति, पराराष्ट्र सम्बन्धों आदि पर वैज्ञानिक और व्यावहारिक दृष्टि से लिखा गया है।

कौटिल्य के जीवन एवं उससे जुड़ी घटनाओं के बारे में अनेक मतमतान्तर हैं और ठोस ऐतिहासिक प्रमाणों का अभाव है। फिर भी सामान्य तौर पर यही माना जाता है कि ईसा की कुछ शताब्दियों पूर्व तक्षशिला में उनका जन्म हुआ और वहाँ के विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण की। उस समय नन्द वंश का शासन था जिसके अत्याचारों से प्रजा दुखी थी। उससे निजात पाने के लिए उन्होंने चन्द्रगुप्त नामक युवक को सम्राट बनाने का संकल्प लिया। यद्यपि चन्द्रगुप्त नीची जाति का था, लेकिन उसमें अद्भुत प्रतिभा थी जिससे प्रभावित होकर कौटिल्य ने एक विशाल साम्राज्य के निर्माण एवं संचालन का उसे दायित्व सौंपा। यह भारतवर्ष का प्रथम विशाल सुसंगठित और सुदृढ़ मौर्य शासन था जिसकी स्थापना और नियोजित कार्यप्रणाली के केन्द्र में कौटिल्य की विलक्षण बुद्धि, सूझबूझ एवं दृष्टि थी। चन्द्रगुप्त मौर्य को सम्राट बनाकर कौटिल्य ने स्वयं प्रधानमंत्री पद सम्भाला। कौटिल्य पर कुछ विस्तार से आगे के पृष्ठों में लिखा गया है।

हिन्दू काल के प्रतिनिधि विचारक और ग्रन्थ के रूप में आचार्य कौटिल्य और उनके अमर ग्रन्थ अर्थशास्त्र पर एक संक्षिप्त टिप्पणी आवश्यक प्रतीत होती है।

अब यह विवाद से परे है कि राजनीति और प्रशासन पर प्रथम व्यवस्थित और ऐतिहासिक ग्रन्थ अर्थशास्त्र के रचयिता आचार्य कौटिल्य ही थे। उनके दो और चर्चित

---

1 यू एन घोषाल : वही पुस्तक, पृ 239

नाम भी हैं चाणक्य और विष्णुगुप्त। लेकिन कौटिल्य और चाणक्य नाम अधिक प्रसिद्ध है। कौटिल्य के दो अमर कार्य नन्द वंश का नाश कर चन्द्रगुप्त को सिंहासन पर बिठाना और अर्थशास्त्र की रचना कहे जा सकते हैं। चन्द्रगुप्त को 321 ईसा पूर्व राजा बनाया गया था और अर्थशास्त्र की रचना 321 और 300 ईसा पूर्व हुई है।[1] यह ग्रन्थ 15 भागो मे विभाजित किया गया है एवं इसमे कुल 150 अध्याय एव 6000 श्लोक हैं।

दण्डनीति

कौटिल्य के अनुसार अन्वीक्षिकी, त्रयी (तीनो वेद), वार्ता (कृषि, पशुपालन और व्यापार) और दण्डनीति (शासन विज्ञान) कुल मिलाकर चार विज्ञान हैं। मनु ने अन्वीक्षिकी को वेदो की एक विशिष्ट शाखा माना है। अन्वीक्षिकी मे साख्य, योग एव लोकायत का दर्शन निहित है। कौटिल्य ने अन्वीक्षिकी को बहुत ही उपयोगी ज्ञान माना है, यह मस्तिष्क को सभी परिस्थितियो मे शान्त रखता है, मन, वचन और कर्म मे एकाग्रता और स्थितप्रज्ञता प्रदान करता है।

कौटिल्य यथार्थवादी विचारक थे। उन्होने सभी विद्याओ, कलाओ और विज्ञानों का ध्येय वार्ता और दण्डनीति मे देखा। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है कृषि, पशु पालन और व्यापार वार्ता की परिधि मे आते हैं। अनाज, पशु, सोना, जगल, उत्पादन और श्रम से कोष भरता है और इसके परिपूर्ण होने से राजा सेना की व्यवस्था करता है तथा अपने राज्य और शत्रु पक्ष पर नियत्रण कर पाता है। अन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता का सीधा सम्बन्ध दण्ड से है। आचार्य कौटिल्य के अनुसार यह दण्ड ही सजा देने की विधि है और इसे शासन विज्ञान अथवा दण्डनीति भी कहा गया है।[2] इससे स्पष्ट है कि कौटिल्य दण्डनीति को सारी विद्याओ के मूल में मानते हैं। वह दण्डनीति को अपने में साध्य तो नहीं मानते, लेकिन इसे आधार मानते हैं। इसके बिना राज्य अव्यवस्थित हो जायेगा, अराजकता फैल जायेगी और ऐसी स्थिति मे सांख्य, योग्य एवं लोकायत की प्रगति, त्रयी (तीनों वेदो) का अध्ययन, कृषि, पशुपालन, व्यापार (वार्ता) की उन्नति असम्भव हो जायेगी। कोष खाली हो जायेगा, राजा सेना नहीं रख पायेगा, राज्य कर्मचारियो और अधिकारियों को वेतन नहीं मिल सकेगा और सामाजिक जीवन अस्तव्यस्त हो जायेगा। यही कारण है कि दण्डनीति का सुचारु रूप से पालन राज्य और समाज की समस्त गतिविधियों के केन्द्र में है।

दण्डनीति भी स्वतंत्र नहीं है। दण्ड जीवन में सुरक्षा लाने हेतु अनिवार्य है, लेकिन दण्ड अनुशासन (विनय) पर आश्रित है। अनुशासन दो प्रकार का होता है– कृत्रिम और प्राकृतिक। विद्याओं का अध्ययन केवल उन्हीं को संस्कारित कर सकता है जिनमे

---

1 डॉ आर शमा शास्त्री द्वारा अंग्रेजी में अनुवादित अर्थशास्त्र दीबेस।
2 डॉ आर श्यामा शास्त्री द्वारा अनुदित कौटिल्य का अर्थशास्त्र, पृ 8

कुछ मानसिक गुण विकसित हों अन्यथा नहीं। इन गुणों में कौटिल्य आज्ञापालन, समझने की शक्ति, स्मरण शक्ति, नीर क्षीर विवेक शक्ति, वक्तृत्व शक्ति सम्मिलित करते है।[1] विद्याओं का अध्यापन गुणी, अनुभवी और विशेषज्ञों द्वारा किये जाने का प्रावधान किया गया है। राजा को सलाह दी गयी है कि उसे वृद्ध प्रोफेसरों की संगत करनी चाहिये क्योंकि ये ही इन विद्याओं के पारंगत ज्ञाता हैं।

राजा

राजा से अपेक्षा है कि वह पूर्वाह्न काल सैनिक शिक्षा जैसे घोड़ों, हाथियों, रथों एवं हथियारों के प्रयोग के प्रशिक्षण में बिताये। दोपहर बाद का समय इतिहास सीखने में व्यतीत करे। आचार्य कौटिल्य ने पुराण इतिवृत्त (इतिहास), आख्यायिका (कहानियाँ), उदाहरण, धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र को इतिहास में ही सम्मिलित किया है, शेष दिन और रात्रि में वह नये-पाठ पढ़े और पुराने याद करे और जो स्पष्ट नहीं हुआ उसे समझे। आचार्य कौटिल्य का कथन है कि सुनने (श्रुत) से ज्ञान की वृद्धि होती है और ज्ञान के निरन्तर कार्यान्वयन से योग सिद्धि प्राप्त होती है और योग द्वारा आत्म विश्वास आता है। चाणक्य स्पष्ट करते हैं कि सुशिक्षित, अनुशासित और विद्याओं का ज्ञाता राजा सुशासन देता है और निष्कंटक राज कर सकता है।

कौटिल्य इन्द्रियों पर नियंत्रण रखने वाले राजा को ही सफल मानते हैं, इन्द्रियों के वशीभूत राजा नष्ट हो जाता है और इसके लिए उन्होंने छठे अध्याय में बहुत उदाहरण दिये हैं। उन्होंने[2] राजा के छः शत्रु माने हैं —— काम, क्रोध, लोभ, अहंकार (मन), मद, और अत्यधिक हर्ष।

कौटिल्य का मत है कि राजत्व (संप्रभुता) सहायकों के बिना संभव नहीं है। एक पहिये से गाड़ी चलती नहीं है। अतः राजा को मंत्रियों एवं अन्य अधिकारियों की आवश्यकता पड़ती है।

कौटिल्य मंत्रियों के लिए निम्नांकित योग्यताएँ निर्धारित करते हैं[3] —— स्थानीय, व्यक्ति, उच्च परिवार में उत्पन्न, प्रभावशाली, कलाओं में निपुण, दूरदर्शी, बुद्धिमान, अच्छी स्मरण शक्तिवाला, निर्भीक, अच्छा वक्ता, चतुर, उत्साही, गरिमापूर्ण, सहिष्णु, शुद्ध चरित्र वाला, प्रसन्न मुख, स्वामीभक्त, शुद्ध आचरण, दृढ़ निश्चय वाला होना चाहिये।

यथार्थवादी चिन्तन : अर्थशास्त्र की व्यापक विषय सामग्री

कौटिल्य ने दसवें अध्याय (बुक 1) में राजा के प्रति वफादारी की परीक्षा के कुछ

---

1 डॉ. आर. श्यामा शास्त्री, वही पुस्तक, पृ. 9

2 डॉ. श्यामा शास्त्री, वही पुस्तक, पृ. 10

3 डॉ. श्यामा शास्त्री, वही पुस्तक, पृ. 14

सुझाव दिये हैं जो लगते अजीब हैं लेकिन उस समय की परिस्थितियों को देखते हुए यथार्थोन्मुख है। किसी जाति से बहिष्कृत व्यक्ति को वेद पढ़ाने के आदेश की अनुपालना न करने पर राजा किसी पुरोहित को नौकरी से निकाल दे और फिर यह व्यक्ति राजा के खिलाफ मंत्रियों को बरगलाये और कहे कि इसके स्थान पर एक धर्मात्मा राजा की नियुक्ति होनी चाहिये। यदि कोई मंत्री इस पुरोहित के बहकावे मे नहीं आये तो वह राजा के प्रति वफादार है। इसी प्रकार कोई महिला गुप्तचर प्रधानमंत्री को बरगलाये कि महारानी उस पर मुग्ध है और अपने महल मे उसे आमन्त्रित करना चाहती है जिससे उसे महारानी से व्यक्तिगत मैत्री के साथ साथ अपार धन भी मिलेगा, यदि प्रधानमंत्री इस निमंत्रण को अस्वीकार कर दे तो वह राजा के प्रति वफादार है।[1] कौटिल्य ने इस प्रकार गुप्तचरों के माध्यम से वस्तुस्थिति का पता लगाने और राजा के प्रति निष्ठावान लोगों की परीक्षा लेने के अनेक उपाय बताये हैं। इससे लगता है कि कौटिल्य यद्यपि नैतिक *मापदण्डों, आदर्शों की बात करते हैं, लेकिन मानव स्वभाव के पारखी और अध्येता के* रूप मे वह घोर यथार्थवादी भी हैं। शासन एक कला है और इसमे पारगत होने के लिये मानव स्वभाव का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्य का विकृत स्वरूप क्या हो सकता है वह क्या क्या षड्यन्त्र कर सकता है, सत्ता उसे कितना बदल देती है, उसके अमानवीय स्वरूप पर राजा किस प्रकार नियंत्रण स्थापित करे इसको समझने के लिए अर्थशास्त्र एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। गुप्तचरों के बारे में अर्थशास्त्र मे विशद वर्णन है। राज्य में अराजक स्थिति से बचने, जनहित के लिए राजा द्वारा कठोर कदम उठाये जाने, सुदृढ़ और लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना मे आने वाली बाधाओ का निर्धारण करने, राजा के कार्यों का जनता पर अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रभाव जानने, मंत्रियों और अधिकारियों के कृत्यों अथवा कुकृत्यों का पता लगाने, राजा के प्रति वफादार अथवा विरुद्ध लोगों का पता लगाने, मंत्रियों एवं अधिकारियों के पारस्परिक झगड़ों के कारणों एवं उनसे उत्पन्न प्रतिकूल प्रभावों का पता लगाने एवं अनेक अन्य कार्यों हेतु विशद गुप्तचर प्रणाली की व्यवस्था का अर्थशास्त्र में प्रावधान है।

कौटिल्य की इतनी पैनी दृष्टि है कि उन्होंने राजमहल के निर्माण, राजा की जीवन शैली, राजमहल मे होने वाले संभावित षड्यंत्रों एवं खतरों, *राजा की व्यक्तिगत सुरक्षा*, उसके अन्त पुर (हरम) के गठन आदि के बारे में विशद वर्णन किया है। राजा को कितने और किस किस प्रकार के संभावित खतरे हो सकते हैं इन सबका कौटिल्य ने वर्णन किया है। राजा का पद कितना कण्टकाकीर्ण है, राज धर्म का पालन कितना दुरूह है, मानव स्वभाव कितना अविश्वसनीय है, मानव की महत्त्वाकांक्षा एवं षड्यंत्रकारी प्रवृत्ति कितनी *प्रबल है। इन्हीं सब बातों का बड़ा सांगोपांग वर्णन हमें अर्थशास्त्र में उपलब्ध होता है।*

---

1 डॉ श्याम शर्मा, वही पुस्तक, पृ 16

बुक-2 में गाँवों के निर्माण, भूमि विभाजन, दुर्गों के निर्माण, राजस्व वसूली, हिसाब किताब की व्यवस्था, राजस्व की चोरी को रोकने के उपाय, सरकारी कर्मचारियों के आचरण, उनकी ईमानदारी, राज्य के प्रति निष्ठा, कार्य कुशलता आदि का वर्णन है। कौटिल्य का मानव स्वभाव का अध्ययन कितना पैना और यथार्थवादी है उसका दिग्दर्शन बुक-2 के अध्याय 9 में वर्णित है।

'जिस प्रकार जिव्हा पर रखे बिना शहद या जहर का पता नहीं लगाया जा सकता, उसी प्रकार यह असम्भव है कि सरकारी कर्मचारी सरकारी राजस्व का कुछ न कुछ दुरुपयोग न करे। जिस प्रकार पानी मे रहने वाली मछली ने पानी पिया अथवा नही पिया यह मालूम करना मुश्किल है ठीक उसी प्रकार राज कर्मचारी द्वारा सरकारी धन का खुर्द बुर्द किये जाने को मालूम करना मुश्किल है।'[1]

कौटिल्य का कथन है कि आसमान में पक्षियों की ऊँची उड़ान को पहचान पाना आसान है लेकिन सरकारी कर्मचारियों के गुप्त इरादों को समझ पाना मुश्किल है।

करों के बारे में विशद वर्णन मिलता है। वाणिज्य, जंगलात, नाप तोल, बाट, चुंगी, कृषि, आबकारी, वेश्यालयों, जहाजों, गोधन, घोडों, हाथियों, नगर प्रशासन आदि के बारे में समझौतों के वैधिक स्वरूप, न्याय आदि के बारे मे सांगोपांग वृतान्त मिलता है। न्याय करना राजा का परम कर्त्तव्य है। इस सबन्ध में कुछ बहुत ही दिलचस्प और उपयोगी उद्धरण अर्थशास्त्र मे मिलते हैं। कुछ यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं –

धर्म के विपरीत आचरण को रोकना राजा का पुनीत कार्य है। राजा न्याय का स्रोत (धर्म प्रवर्तक) है।

पवित्र कानून (धर्म), प्रमाण (व्यवहार), इतिहास (चरित्र) एवं राज्यादेश (राजशासन) कानून के चार स्तम्भ हैं।

न्याय की स्थापना करना, राज्य में व्यवस्था बनाये रखना, प्रजा की रक्षा करना, इन कर्तव्यों की पालना करने से राजा को स्वर्ग की प्राप्ति होती है, जो अपनी प्रजा की रक्षा करने में असमर्थ है अथवा सामाजिक व्यवस्था को भंग करता है वह व्यर्थ ही में दण्डधारी है।[2]

शादी विवाह, स्त्री सम्पत्ति, पुनर्विवाह के बारे में भी हमें पर्याप्त सामग्री मिलती है। नारी के अधिकारों से सम्बन्धित अनेक प्रावधान अर्थशास्त्र में हैं और आज से करीब अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व नारी स्वातंत्र्य की बात कौटिल्य ने कही है। उनके अनुसार यदि पति दुश्चरित्र बन गया है या लम्बे समय के लिए विदेश चला गया है या राजद्रोही बन गया है या पत्नी के लिए खतरा बन गया है, जाति से बाहर कर दिया गया है या नपुंसक

---

1. डॉ. आर. श्यामा शास्त्री, वही पुस्तक, पृ 70
2. डॉ आर श्यामा शास्त्री, वही पुस्तक, पृ 170-171.

हो गया है तो पत्नी को ऐसे पति को छोड देने का अधिकार है। नारी के अधिकारो के बारे मे अनेक और भी प्रावधान हैं लेकिन दुष्चरित्र औरत के लिए सजा की भी व्यवस्था है। उत्तराधिकार के नियमो का भी उल्लेख है। सम्पत्ति के अधिकार सबन्धी नियमों का भी वर्णन है। ऋण वसूली, श्रम कानून, स्वामी का नौकर पर अधिकार, खरीद फरोख्त से जुडे नियमो का भी उल्लेख है। अर्थशास्त्र मे ऊँची और नीची जाति के मध्य प्रचलित भेदभाव का भी वर्णन मिलता है।

अर्थशास्त्र की बुक-4 मे पृथक् पृथक् व्यवसायो के संरक्षण एव उन्नयन से सम्बन्धित नियमो का भी विशद वर्णन है। प्राचीन भारत मे केवल कृषि ही नहीं बल्कि कला कौशल के विकास के लिए भी पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। सगीतज्ञो, वैद्यो, सफाई कर्मियो, जुलाहो, व्यापारियो को संरक्षण है, लेकिन साथ ही उनके द्वारा व्यावसायिक कोताही करने पर दण्डित किये जाने का भी प्रावधान है। बुक – 4 के चतुर्थ अध्याय मे सामाजिक व्यवस्था एव शाति भग करने वालो से निपटने की भी व्यवस्था की गयी है।

बुक-5 मे राज दरबारियो एवं अन्य अधिकारियों के आचरण की जानकारी प्राप्त करने हेतु गुप्तचरो की विशद व्यवस्था की गयी है। योग्य एवं निष्ठावान कर्मचारियो को मिलने वाले वेतन एवं अन्य सुविधाओ का भी वर्णन है।

बुक-5 के छठे अध्याय मे राज्य की सुरक्षा एवं इसके लिये निरंकुश सप्रभुता का वर्णन है। मैकियावली की भाँति कौटिल्य भी इस साध्य हेतु कोई भी साधन अपनाने की सलाह देने से नहीं चूकते। शत्रु राजा के मंसूबो को ध्वस्त करने के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद सभी का उपयोग करने की कौटिल्य सलाह देते हैं। धोखा और विश्वासघात भी किया जा सकता है यदि इससे राजा और राज्य की सुरक्षा संभव हो.।

बुक-6 में संप्रभु राज्यों के बारे मे वर्णन मिलता है। इसके प्रथम अध्याय में ही संप्रभुता के तत्वो का निरूपन किया गया है। राजा, मंत्री, देश, दुर्ग, कोष, सेना और मित्र संप्रभुता के तत्त्व हैं। इसे सप्ताग राज्य भी कहा जाता है।

इसके दूसरे अध्याय मे चाणक्य ने राज्यों के सर्किल की बात की है जो मंडल सिद्धान्त के नाम से विख्यात है। विजेता राजा का पडौसी राजा शत्रु है और उसका पडौसी मित्र है जो कि पडौसी राजा का शत्रु है। पडौसी राजा यदि इतना ही शक्तिशाली और प्रतापी एवं उच्च खानदान का है तो वह सहज शत्रु है और इन दोनों के बीच स्थित राजा जो दोनों की ही सहायता या विरोध करने की स्थिति मे है वह मध्यम राजा कहा जाता है। ऐसा राजा जिसका राज्य इन राजाओं की भूमि से दूर स्थित है और जो बहुत शक्तिशाली है और जो विजेता राजा शत्रु राजा एवं मध्यम राजा की सहायता अथवा विरोध करने की स्थिति में है वह तटस्थ अथवा उदासीन राजा कहलाता है।

कौटिल्य के अनुसार विजेता राजा उसका मित्र और उसके मित्र का मित्र मिलकर एक सर्किल बनाते हैं। चूँकि इस सर्किल के तीनों राजाओं के पास संप्रभुता के पाँचो तत्त्व मंत्री, देश (भूमि) दुर्ग, कोष एवं सेना विद्यमान है, जिससे एक सर्किल में कुल मिलाकर 18 तत्त्व होते हैं। विजेता का शत्रु मध्यमा राजा और तटस्थ अथवा उदासीन राजा विजेता राजा के तीन सर्किलों के केन्द्र के रूप में भिन्न होंगे। इस प्रकार राज्यों के चार सर्किल, बारह राजा, संप्रभुता के साठ तत्त्व और राज्यों के 72 तत्त्व हुए। इस प्रकार बारह राजाओं को सप्रभुता, सत्ता एवं ध्येय सभी प्राप्त हैं। शक्ति ही सत्ता है और आनन्द की प्राप्ति ध्येय है।[1] कौटिल्य के अनुसार शक्ति तीन प्रकार की होती है- धन धान्य पूर्ण कोष, सुदृढ़ सेना जो कि सप्रभुता की परिचायक है और शारीरिक शक्ति।[2]

बुक-7 में राज्यो के लिए छ: सूत्री नीति का उल्लेख है। शांति (सन्धि), युद्ध (विग्रह), तटस्थता (आसन), प्रयान (यान), समझौता (समश्राय), एक के साथ शांति एवं दूसरे के साथ युद्ध राज्य नीति के ये छ: प्रकार हैं।

इसमे युद्ध, शांति, तटस्थता, युद्ध संचालन, समझौते, सन्धि आदि के बारे मे खुल कर वर्णन किया गया है। कौटिल्य सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी थे– शासन प्रशासन, नीति, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, समाजशास्त्र, परिवार, समूह, समाज, राज्य, शासक, युद्ध, शांति, सन्धि, सैन्य सचालन, कूटनीति, रणनीति आदि अनेकानेक विषयो का विद्वतापूर्ण ढग से उन्होंने प्रतिपादन किया है। मैकियावली के समय जो इटली की स्थिति थी करीब करीब वैसी ही स्थिति चाणक्य के समय उत्तरी भारत और विशेष तौर पर मगध की प्रतीत होती है। इस अव्यवस्था, कुव्यवस्था और आराजक स्थिति से निबटने के लिए एक सुदृढ़ राज व्यवस्था की आवश्यकता थी और इसके लिए उन्होंने ऐसे साधन अपनाने को भी उचित ठहराया जिन्हे सामान्य तौर पर नैतिक नही कहा जा सकता। चूँकि अपनाये जाने वाले ये साधन राज्य की एकता, अखण्डता, सुदृढ़ता एवं जनहित के लिए हैं न कि राजा के व्यक्तिगत हित या ऐश आराम के लिए। अत. इनके औचित्य को स्वीकार कर लिया जाता है। बुक-7 मे 18 अध्याय है जो आज के अन्तर्राष्ट्रीय संबन्धों एवं अन्तर्राष्ट्रीय विधि की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उस समय के भारतवर्ष मे छोटे छोटे बहुत से राज्य थे अत: अन्तर्राष्ट्रीय संबन्धों से अभिप्राय उन राज्यो के पारस्परिक संबन्धो से है। कौटिल्य का शिष्य चन्द्रगुप्त मौर्य भारत का प्रथम चक्रवर्ती सम्राट था जिसने विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी।

बुक-8 में व्यसनों एवं विपदाओं का वर्णन है। कौटिल्य के अनुसार छ: सूत्री नीति से च्युत होने पर सप्रभुता के सात तत्त्वो मे से किसी एक या अधिक तत्त्वों के

---

1 डॉ० आर. श्यामा शास्त्री, वही पुस्तक, पृ 290-91

2 डॉ० आर. श्यामा शास्त्री, वही पुस्तक, पृ 291

अभाव मे, स्थानीय या विदेशियो के असतोष के कारण, औरतबाजी, जुआ खेलने आदि से व्यसन उत्पन्न होते हैं, अग्नि, बाढ़ अथवा अन्य प्रकार की विपदाये आती हैं। जो मनुष्य की शाति को भग करती हैं यही व्यसन हैं।

बुक-9 मे आक्रान्ता के बारे मे वर्णन है। इसमे सेना की व्यूह रचना के बारे मे बडी उपयोगी सामग्री है। बुक-10 मे युद्ध का वर्णन है। बुक-11 में निगमो का वर्णन है। डॉ श्यामा शास्त्री ने पुस्तक के शीर्षक मे "दी कन्डक्ट ऑफ कारपोरेशन्स" मे लिखा है "आज जिस अर्थ मे निगम (कारपोरेशन) शब्द का प्रयोग किया जाता है वह यह नहीं है। यहाँ इसका अभिप्राय गणराज्य से लगता है। उदाहरणार्थ कौटिल्य ने लिच्छवी, वृजिका, मल्लका, मद्रका, कुकुशकुरु, पांचाल राज्यो का जिक्र किया है, जिनके शासकों को राजा का खिताब था। ये सारे गणराज्य थे।" कौटिल्य का कथन है इनमें जो अनुकूल हो राजा को चाहिये कि उनसे मैत्री करे, अन्यथा सभी उचित या अनुचित साधनो का उपयोग कर उन्हे नस्ट कर दे। गुप्तचरो, महिलाओं, गणिकाओ आदि की सेवाओ का उपयोग करे।

बुक-12 मे शक्तिशाली शत्रु से निबटने के उपायो का वर्णन किया गया है। बुक-13 में दुर्ग जीतने के साधनो की रणनीति का वर्णन है। बुक-14 मे गुप्त साधनों की चर्चा है। तत्काल और धीमी मृत्यु कैसे हो सकती है उसके लिए कौटिल्य ने बहुत उपाय सुझाये हैं।

पुन यहाँ यह उल्लेख करना पिष्टपेषण का दोषी होना नहीं होगा कि कौटिल्य के समकालीन समाज मे अराजक स्थिति थी जिससे निबटने हेतु एक सुदृढ़ राज व्यवस्था की आवश्यकता थी। इसके लिए राजा को बन्धन मुक्त कर दिया गया है, लेकिन यह तब ही तक है जहाँ कि राजा का यह कृत्य प्रजा के हितार्थ राज्य को सुदृढ़ करने के लिए हो। युद्ध जीतने के लिए कौटिल्य सभी साधनों के प्रयोग को उचित ठहराते हैं। बुक - 15 मे कौटिल्य ने इस ग्रन्थ की योजना का वर्णन किया है। इसमें कौटिल्य की विनम्रता झलकती है। इसमें उन्होंने लिखा है कि यह अर्थशास्त्र अर्थात राज विज्ञान उन सभी अर्थशास्त्रों का सार है जो प्राचीन काल के मनीषियों ने राजाओं के निर्देशार्थ एवं वसुधा के पालनार्थ रचे हैं।[1]

इस शास्त्र की रचना लौकिक और पारलौकिक जीवन को सफल और सुगम बनाने हेतु की गयी है। इस शास्त्र के प्रकाश में एक व्यक्ति न केवल नैतिक, आर्थिक और कलात्मक जीवन ही व्यतीत कर सकता है बल्कि अनैतिक, अनार्थिक एवं क्रूर कृत्यों का दमन भी कर सकता है। इस शास्त्र की रचना शास्त्र और शास्त्र विज्ञान की रक्षा हेतु की गयी है जो नन्द राजा के क्रूर हाथों में जा रहा था।[2]

1 डॉ आर श्यामा शास्त्री, वही पुस्तक, पृ 459
2. डॉ आर श्यामा शास्त्री, वही पुस्तक, पृ 463

केन्द्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय सरकारें

निम्नलिखित अर्थशास्त्र में वर्णित व्यवस्था पर अधिकांशत: आधारित है। प्रो. दीक्षितार एवं अन्य कई विद्वानों ने अन्य कई स्रोतों के आधार पर इस पर सविस्तार प्रकाश डाला है। यहाँ इसका संक्षेप में वर्णन किया जाता है और वह भी यह स्पष्ट करने के उद्देश्य से कि प्राचीन भारत में व्यवस्थित सरकारें एव संस्थायें थीं और समकालीन विचारकों को शासन और लोक प्रशासन का पर्याप्त ज्ञान था। यह वर्णन अधिकांशत: मौर्य शासनकाल से सम्बन्धित है।

मंत्रिपरिषद एक प्राचीन हिन्दू संस्था रही है। मंत्रिपरिषद के सदस्यों की संख्या निर्धारित नहीं थी, यह राज्य की आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों पर निर्भर करती थी।

मंत्रिपरिषद में राज्य संबन्धी सभी मामले विचारार्थ रखे जाते थे। अशोक के सरकारी आदेशों के अनुसार परिस्थितियों के मुताबिक राजा मौखिक आदेश भी प्रेषित करता था, जिन्हें मंत्रिपरिषद में विचारार्थ रखा जाता था। शुक्र नीतिसार में मौखिक आदेश देने वाले राजा को कानून की नजर में चोर कहा गया है।

मंत्रियो के कार्यकाल के बारे में भी भिन्न भिन्न मत रहे हैं। कलिंग आदेश में पाँच वर्ष के कार्यकाल का उल्लेख मिलता है। मंत्रिपरिषद सरकारी नीति का निर्धारण करती थी। विशेष तौर पर शत्रु की सीमा पर आक्रमण के बारे में निर्णय लेना, राज्य की आन्तरिक और बाह्य नीतियों के क्रियान्वयन हेतु व्यक्तियों और संसाधनों की व्यवस्था करना, राज्य पर आने वाली संभावित विपदाओं को टालने का प्रयत्न करना मंत्रिपरिषद के विशेष कार्यों मे सम्मिलित थे।

मंत्रि परिषद एक प्रभावी संस्था थी। यह एक सर्वसम्मत परम्परा रही है कि राज्य के कार्यों एवं नीतियों में बुद्धिमान, चरित्रवान एवं अनुभवी व्यक्तियों की सहभागिता हो। महाभारत में उल्लेख मिलता है कि राजा की अपने मंत्रियों पर निर्भरता उतनी ही है, जितनी कि ब्राह्मणों की वेदों पर और स्त्रियों की अपने पतियों पर। शुक्र स्पष्ट कहते हैं कि चाहे कितना भी योग्य राजा क्यो न हो वह राज्य की सब बातें नहीं समझ सकता। अत: योग्य मंत्रियों की सहायता के बिना राज्य का पतन निश्चित है। कौटिल्य ने बताया है कि सारे प्रशासनिक कार्य एक सुसंगठित मंत्रिपरिषद में चर्चा के लिए रखे जाने चाहिये। विभागाध्यक्षों एवं अन्य महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्ति भी मंत्रिपरिषद की मंजूरी से ही की जानी चाहिये। इससे स्पष्ट है कि चाहे वह राजा हो अथवा मंत्री किसी अकेले के हाथ में निर्णय लेने की शक्ति नहीं थी।

मौर्य कालीन प्रान्त

मौर्य कालीन प्रान्तीय शासन के बारे में अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। चन्द्रगुप्त के अनेक प्रान्तों में से एक प्रान्त की राजधानी गिरनार थी और उसके राज्यपाल को राष्ट्रीय कहा जाता था। उसका पुत्र बिन्दुसार दक्षिणी प्रान्तों का वायसराय था। तक्षशिला और

उज्जैन प्रान्तीय राजधानियाँ थी। अन्य स्थानो पर बिन्दुसार ने अपने पुत्रो सुमन और अशोक को राज्यपाल नियुक्त किया था। दिव्यावधान मे इस बात का उल्लेख मिलता है। तक्षशिला के नागरिकों ने विद्रोह कर दिया था जिसे शान्त करने के लिए अशोक को वहाँ का राज्यपाल नियुक्त किया गया था।

अशोक के समय की प्रातीय राजधानियो का भी उल्लेख मिलता है। तक्षशिला, उज्जैनी, तोशाली और सुवर्नगिरी प्रान्तीय राजधानिया थीं। उत्तर पश्चिमी प्रान्त, जिसमें संभवत पंजाब, सिध और सिध नदी के आगे का प्रांत एव काश्मीर सम्मिलित थे, की राजधानी तक्षशिला थी, उज्जैनी पश्चिमी प्रान्तों जिसमे मालवा, गुजरात और काठियावाड़ सम्मिलित थे, की राजधानी थी। उज्जैनी वर्तमान उज्जैन है। तोशाली पूर्वी प्रान्तों की राजधानी थी। समीप कौशाली भी प्रातीय राजधानी थी।

प्रातीय राज्यपाल अधिकांशत राजकुमार, राजवंश के लोग हुआ करते थे। वैसे स्थानीय प्रमुख व्यक्तियों के राज्यपाल नियुक्त किये जाने के भी प्रमाण मिलते हैं।

केन्द्र राज्य सम्बन्ध

भारत जैसे विशाल देश में जबकि सचार के आधुनिक साधन उपलब्ध नहीं थे चन्द्रगुप्त या अशोक के लिए इतने बडे साम्राज्य पर शासन करना वास्तव मे बड़ा दुष्कर कार्य रहा होगा। आज के भारत मे भी जो कि अशोक के साम्राज्य से छोटा है और संचार के प्रचुर साधन उपलब्ध हैं यह समस्या मानस को उद्वेलित करती रहती है।

प्राचीन काल म केन्द्र और राज्य संबन्धो के बारे में इतनी सामग्री उपलब्ध नहीं है कि इस विषय पर सविस्तार लिखा जा सके। फिर भी उपलब्ध सामग्री के आधार पर यही कहा जा सकता है कि राज्यपाल के सहायक अधिकारियों को महामात्रा, राजुका एवं प्रादेस्त्र के पदो से पुकारा जाता था। ये केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त अधिकारी होते थे। इनका मुख्य कार्य राजस्व का संग्रह, पुलिस संगठन की देखभाल एवं सुरक्षा प्रबन्ध करना था। केन्द्रीय सरकार एवं ग्रामीण अधिकारियों के मध्य केन्द्रीय अधिकारीगण सेतु का काम करते थे। ये केन्द्रीय सरकार के आदेश राज्य सरकार एवं ग्रामीण कर्मचारियों तक पहुँचाते थे।

प्रशासन की दृष्टि से प्रान्तों को जिले और गाँवों में बाँटा हुआ था। जिलों को आदेश प्रान्तीय सरकारों के माध्यम से प्रेषित किये जाते थे। गाँवो को दिये जाने वाले आदेश जिला अधिकारियो द्वारा दिये जाते थे।

अर्थशास्त्र मे स्थानीय शासन के बारे मे पर्याप्त वर्णन है। सौ परिवारों से लेकर पाँच सौ परिवारों तक कृषि व्यवसाय मे संलग्न लोगो का एक गाँव बना करता था। आठ सौ गाँवो के बीच एक स्थानीय (इस नाम से छोटा जिला), चार सौ गाँवो के मध्य एक द्रोणमुख, दो सौ गाँवो के केन्द्र मे खारवटिका एवं दस गाँवों के मध्य एक संग्रहन स्थापित

थे। राज्य के सुदूर क्षेत्रों में किलों को स्थापित किया जाता था जिनके रक्षकों को अन्तपाल कहते थे। जिनका कार्य राज्य में प्रवेश करने वालों पर निगरानी रखना होता था। दीक्षितार का कथन है कि केन्द्रीय प्रशासन का स्थानीय मामलों में कोई उल्लेखनीय हस्तक्षेप नहीं था। स्थानीय प्रशासन ग्रामीणों के हाथ में था। ये गाँव आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर थे एवं पूर्ण ग्रामीण स्वायत्तता थी।[1]

ग्रामीण इलाकों में एक महत्त्वपूर्ण अधिकारी होता था जिसे गोप कहते थे। वह मुख्यतया एक राजस्व अधिकारी होता था। पाँच से दस गाँवों के क्षेत्र में वह केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त अधिकारी होता था। उसका काम गाँवों का रिकार्ड रखना, गाँवों की सीमा, खेतों, जगलों एवं सड़कों का रिकार्ड रखना, कृषि के उपयुक्त एवं बागानी जमीन, उद्यानों आदि का रिकार्ड रखना, व्यवसायों, जातियों, पशुधन, आय-व्यय आदि का ब्यौरा रखना था।

यहाँ पौर जनपद का भी सक्षेप में वर्णन करना प्रासंगिक होगा। अर्थशास्त्र में पौर जनपद का जिक्र है। जनपद से अर्थ समस्त राज्य के गाँवों और कस्बों से है, लेकिन इसमें संभवतः राजधानी सम्मिलित नहीं है। जनपद की असेम्बली राजधानी में स्थित थी, इसका उल्लेख मृच्छकटिक में भी मिलता है। आधुनिक जनतंत्रों से सम्बन्धित अनेक संस्थायें एवं प्रक्रिया में उदाहरणार्थ चुनाव विधि, मतदान विधि, मतगणना आदि के बारे में कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है।

पाटलीपुत्र के पौर जनपद के बारे में भी कुछ जानकारी उपलब्ध है। दीक्षितार लिखते हैं कि ऐसा स्पष्ट है कि राजधानी में पौर और जनपद के नाम से दो असेम्बलियाँ थी। पाटलीपुत्र में पौर सघ था और पौर सदस्य सिटी मजिस्ट्रेट की भाँति थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ये सिटी मजिस्ट्रेट अपने अन्य कार्यों के अतिरिक्त नगरपालिका प्रशासन भी देखते थे। पौर राजधानी के औद्योगिक और व्यापारिक हितों की रक्षा विदेशियों के हित एवं उनके कार्यकलापों पर निगरानी का काम भी देखते थे। असेम्बली भवनों, मंदिरों, आरामगृहों एवं सार्वजनिक पार्कों की देखभाल का काम भी उनके जिम्मे था। अर्थशास्त्र में उल्लेख मिलता है कि जनपद में सिक्कों की ढलाई का काम भी होता था। छोटे कोष वाला राजा पौर जनपद के लिए परेशानी का कारण माना जाता था। इन असेम्बलियों को कर के बारे में भी निर्णय लेने का अधिकार था। आवश्यकता पड़ने पर राजा इन असेम्बलियों से अधिक कर लगाने की संस्तुति प्रस्तुत करता था।

अशोक के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि अशोक ऐसे राजकों की नियुक्ति करता था जो कि जनपद असेम्बली का विश्वास और स्नेह अर्जित कर सके ताकि असंतुष्टों को राजी रखने का प्रयास किया जाय। राज्य अधिकारियों को इस प्रकार का बर्ताव करना

---

1. दीक्षितार वही पुस्तक, पृ 206.

चाहिये ताकि जनपद के सदस्य नाराज न हो। अशोक जनपद को इतना महत्व देता था कि वह धर्म के प्रचार के सबन्ध मे उनसे चर्चा किया करता था कि ऐसा कई स्थानों पर उल्लेख मिलता है जहाँ कि पौर जनपद दोनो साथ मिलकर कार्य सम्पादित करते हैं। राजा के दैनिक कार्यों मे पौर जनपद के कार्यों को देखना भी सम्मिलित है। इससे यह सिद्ध होता है कि पौर जनपद की बैठके रोजाना ही होती थीं।

राजधानी की तरह प्रांतीय मुख्यालयों पर भी पौर जनपद असेम्बलियाँ कार्यरत रहती थीं। मंत्रिमण्डल का कार्यकाल इन असेम्बलियों के साथ उनके संबन्धों पर निर्भर करता था। मंत्रियों द्वारा सत्ता के दुरुपयोग करने पर इन असेम्बलियों के सदस्य नैतिक बल के आधार पर बगावत कर देते थे और अपना संघर्ष तब तक जारी रखते थे जब तक कि उनकी शिकायतें दूर नहीं कर दी जाती।

बिन्दुसार और अशोक के शासन काल में तक्षशिला मे ऐसा हुआ था। शिकायतों का निवारण करने हेतु राजकुमारो को वहाँ भेजा जाता था। इससे सिद्ध होता है कि राजा और जनता के बीच सौहार्दपूर्ण सबन्ध स्थापित थे और जनता की शिकायतों को दूर करने मे राजा तत्पर रहता था।

दीक्षितार अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'मौर्यन पोलिटी' में एक उदाहरण देते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि पौर जनपद के पास कार्यपालिका शक्ति भी थी और वे प्रांतीय अध्यक्षो को भी दण्डित करने मे सक्षम थे। कहानी इस प्रकार है। अशोक की रानी तिष्यरक्षिता अपने सौतले पुत्र कुणाल को प्यार करने लगी जिसे कुणाल ने उचित नहीं समझा। कुणाल के मना करने पर तिष्यरक्षिता आग बबूला हो गयी और उसने कुणाल को दण्डित करने का संकल्प लिया। कुछ समय बाद अशोक बीमार हो गया और तिष्यरक्षिता ने उसकी बड़ी सेवा की। इससे प्रसन्न होकर राजा ने रानी की कोई भी इच्छा पूरी करने का वायदा किया। रानी ने एक सप्ताह के लिये राज्य पर शासन करने का अधिकार माँग लिया। अशोक द्वारा यह स्वीकृत किये जाने पर तिष्यरक्षिता ने तक्षशिला के पौर जनपद को आदेश भेजा कि कुणाल की (जो कि राजकुमार होने के साथ ही साथ वहाँ का राज्यपाल भी था) आँखें फोड दी जाय। पौर जनपद की बैठक मे इस राज्यादेश पर चर्चा हुई, कुणाल को जब यह राज्यादेश सुनाया गया तो उसने इसे स्वीकार कर लिया। तदनुसार कुणाल को अन्धा कर दिया गया।

केन्द्र राज्य संबन्धों के बारे में सार रूप में स्पष्ट करते हुए दीक्षितार लिखते हैं कि मौर्यकाल में प्रान्तों को आधुनिक अर्थ में राज्य कहना उपयुक्त नहीं है। यह सच है कि प्रांतीय मुख्यालयों में केन्द्रीय अधिकारी रखे जाते थे और ऐसा प्रतीत होता है कि इनका मुख्य कार्य केन्द्रीय सत्ता के विरुद्ध किसी भी बगावत को रोकना एवं यह देखना था कि केन्द्र के साथ हुए समझौते के अनुसार प्रान्तों द्वारा दिये जाने वाला कर नियमित

रूप से सम्राट को अदा किया जाये। यह भी स्पष्ट लगता है कि केन्द्रीय अधिकारी प्रान्तीय सरकारों के संचालन में बिना किसी हस्तक्षेप किये सहायता भी करते थे। दीक्षितार उनकी तुलना केन्द्रीय सरकार के भूतपूर्व देशी रियासतों में स्थित प्रतिनिधियों से करते हैं।[1]

मौर्यन राज्य एक सैनिक राज्य नहीं था। जो मौर्यन राज्य के बारे में सही है वह करीब करीब सभी हिन्दू राज्यों के बारे में लागू होता है। दीक्षितार का मत है कि मौर्यन राज्य भारत की स्थापित परम्परा से पृथक् नहीं था वस्तुत. यह उसी परम्परा की एक कड़ी था। हिन्दू राज्य का उद्देश्य लौकिक और पारलौकिक दोनों ही उद्देश्यों की पूर्ति करना था और तदनुसार इसका क्षेत्र धार्मिक था। दीक्षितार यहाँ हिन्दू राज्य की तुलना हीगल द्वारा प्रतिपादित राज्य की अवधारणा से करते हैं। जहाँ राज्य का अंतिम उद्देश्य आध्यात्मिकता की अनुभूति करना है वहाँ वह कैसे सैनिक राज्य अथवा केन्द्रीकृत तानाशाही हो सकता है। देश को एक सूत्र में पिरोये रखने के लिए सेना की आवश्यकता पड़ती है, युद्ध भी कभी कभी आवश्यक हो जाते हैं, लेकिन हिन्दू राज्य में सेना और सैनिक को प्रमुख स्थान नहीं दिया गया। वे भी उस व्यवस्था के अंग हैं जिसके अन्तर्गत प्रजा को अधिकाधिक स्वतंत्रता, सुख और समृद्धि प्रदान करना है। जिस समाज में राज्य का उद्देश्य नागरिकों का आध्यात्मिक विकास करना हो ताकि वे अपने स्वधर्म का पालन कर सत+चित + आनन्द की प्राप्ति कर सकें वह न तो सैनिक राज्य हो सकता है और ना निरंकुश ही।

अरस्तू भी यही कहते हैं कि राज्य भौतिक सुविधा प्रदान करने के लिए अस्तित्व में आता है और नैतिक जीवन बनाने की दृष्टि से चलता रहता है। वानहोल टजन डार्फ बहुत ही सुन्दर ढंग से राज्य के उद्देश्य को स्पष्ट करते हैं और यह मौर्यन राज्य के उद्देश्य के बहुत नजदीक है ——

1. सत्ता के सही प्रयोग द्वारा प्रभुता की स्थिति में आना।
2. राज्य के प्रत्येक नागरिक हेतु सामाजिक मर्यादा के अन्तर्गत रहते हुए स्वतंत्रता के उपभोग के लिये परिस्थितियों का निर्माण करना।
3. तीसरा उद्देश्य समाज के सभी लोगों के लिए ऐसा वातावरण का निर्माण करना जिसमें वे प्रसन्नता अनुभव कर सकें।

इसके लिए राज्य की परिधि में रहते हुए सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं की स्वीकृति देना भी राज्य का कार्य है। लेकिन ये संस्थायें कभी राज्य को चुनौती न दे सकें इसकी व्यवस्था भी राज्य को करनी चाहिये। शांति भंग न हो इसके लिए विभिन्न संस्थाओं के मध्य अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न न होने देना, इन संस्थाओं को इनके उद्देश्यों

---

1. दीक्षितार: मौर्यन पोलिटी, पृ 60

की प्राप्ति की ओर निर्देशित करना एव नागरिकों के लिए शिक्षा की व्यवस्था करना राज्य के कार्य हैं।[1]

कौटिल्य भी सरकार के दो महत्त्वपूर्ण पहलुओ की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं, वे हैं — शक्ति और समृद्धि।

अर्थशास्त्र भी राजा को शिक्षा देता है कि वह प्रजा के रंजनार्थ राजशक्ति का सरकारी यत्र के माध्यम से उपयोग करे। कौटिल्य बार बार स्वधर्म पर जोर देते हैं ताकि समाज के सभी लोग अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए स्वतत्रता का आनन्द ले सकें। दीक्षितार का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि व्यक्ति की स्वतत्रता की यह अवधारणा उन्नीसवीं सदी के राजनीतिक दार्शनिको द्वारा प्रतिपादित अवधारणा से भिन्न है। हिन्दू सामाजिक राज व्यवस्था मे व्यक्ति का अपने अधिकारो और सुविधाओं पर जोर नहीं था। बल्कि एक ऊँचे और उदात्त दर्शन की ओर वह उन्मुख था और वह था ज्ञान अर्जन के द्वारा अपने दायित्वो का पालन करते हुए मुक्ति की ओर प्रस्थान, यही उसके मोक्ष का रास्ता था। यह दिलचस्प बात है कि न केवल अर्थशास्त्र मे ही बल्कि अशोक के आदेशो मे भी ये दो महत्त्वपूर्ण वाक्य सग्रहित हैं —

"प्रजा के सुख मे ही राजा का सुख निहित है।

राजा का यह सुख अथवा कल्याण नहीं हो सकता जो कि प्रजा का सुख अथवा कल्याण न हो।"

यह केवल आदर्श ही नहीं था, कई राजाओ ने इसे अपने शासन संचालन की शैली का अंग भी बनाया था। अशोक और हर्षवर्धन का यहाँ विशेष उल्लेख किया जा सकता है। अशोक ने ब्राह्मनिकल, बौद्ध, जैन आदि सभी धर्मों के संगठनो की रक्षा की, उन्हें बराबर का सम्मान दिया। ये सगठन अपने उद्देश्यो की प्राप्ति कर सकें, इसके लिए अशोक ने वातावरण और परिस्थितियो का निर्माण भी किया। समाज मे शांति भंग न हो इसके लिए अशोक ने कानून भी बनाये। अशोक के अनुसार ये राज्य के प्राथमिक कर्त्तव्य थे और उसने निष्ठापूर्वक उन्हे क्रियान्वित किया।

सप्तांग राज्य, लोक प्रशासन

प्राचीन भारतीय विचारको की भांति कौटिल्य भी राज्य के सात अंग मानते हैं ये हैं — राजा अर्थात् स्वामी, अमात्य अर्थात् मंत्री, जनपद अर्थात् भूमि या क्षेत्रफल, दुर्ग (किला), कोष, दण्ड और मित्र। इन्होंने इन सबका सविस्तार वर्णन भी किया है।

---

1 बर्नेस, पॉलिटिकल थ्योरी एण्ड कान्सटीट्यूशनल ला वोल्यूम I, पृ 84, दीक्षितार मौर्यन पॉलिटी में उद्धृत, पृ 82

कौटिल्य का अर्थशास्त्र लोक प्रशासन की दृष्टि से एक अनुपम ग्रन्थ है। मंत्रि-परिषद एवं अधिकारियों के बारे में हमें पर्याप्त सामग्री मिलती है। मंत्रिपरिषद के सदस्यों की संख्या कहीं निर्धारित नहीं की गयी है। आवश्यकतानुसार यह घटाई बढाई जा सकती है। वैसे कौटिल्य का सुझाव यह है कि राजा को तीन अथवा चार मंत्रियों से परामर्श लेना चाहिये। मंत्रिपद बड़ा दुर्लभ माना गया है। वह मन्त्री के लिए आवश्यक मानते हैं कि वह उच्च कुल का हो, उसे धर्म का यथेष्ट ज्ञान हो, वह अच्छी स्मृति वाला, मेधावी निर्भीक, विवेकशील एवं आकर्षक व्यक्तित्व वाला हो। वह ईमानदार और राज्य एवं राजा के प्रति निष्ठावान भी हो।

मन्त्रिपरिषद की बैठकों की अध्यक्षता वरिष्ठ मन्त्री द्वारा की जानी चाहिये। आवश्यकतानुसार राजा मन्त्रिपरिषद की बैठक आहूत करता था। लेकिन कौटिल्य का यह स्पष्ट मत है कि सारे ही महत्वपूर्ण निर्णय मंत्रिपरिषद की बैठक में ही लिये जाने चाहिये। मंत्रिपरिषद के निर्णय गोपनीय रखे जाने चाहिये और राजा के आदेशानुसार ही प्रकाशित किये जाने चाहिये। कौटिल्य की राय है कि राजा प्रत्येक मंत्री से आवश्यकतानुसार पृथक् भी बात कर सकता है लेकिन निर्णय सामूहिक ही लिये जाये। मंत्रणा हेतु चार से अधिक मंत्रियों के होने पर गोपनीयता भंग होने की गुंजाइश बनी रहती है। कौटिल्य मंत्रियों एवं अधिकारियों को अच्छा वेतन देने के पक्षधर हैं अन्यथा उनकी राज्य के कार्य में रुचि नहीं रहेगी और अपने परिवार के भरण पोषण के लिए वे अनुचित कार्य करेंगे। कौटिल्य 48 हजार पण का सर्वोच्च वार्षिक वेतन पुरोहित, सेनापति, युवराज, राजमाता एवं राजमहिषी को देने का सुझाव देते हैं।

वरिष्ठ अधिकारियों में करीब 26 विभागाध्यक्षों का कौटिल्य वर्णन करते हैं। इनमें कुछ प्रमुख अधिकारी इस प्रकार हैं — आयुधगाराध्यक्ष (अस्त्र शस्त्र आदि का प्रभारी), सीताध्यक्ष (कृषि शास्त्री), दुर्गपाल, सन्निधाता (राज्य के भंडार गृहों का प्रभारी), प्रदेष्टा (फौजदारी मुकदमे का फैसला करने वाला न्यायाधीश), व्यवहारिक (दीवानी मामलो का फैसला करने वाला न्यायाधीश), समाहर्ता (राज्य के आन्तरिक मामलो का प्रभारी), गणिकाध्यक्ष (वेश्याओं पर नियंत्रण रखने वाला), मुद्राध्यक्ष (राज्य की मुद्रा का प्रभारी), कर्मान्तिका (कारखानों का प्रभारी)।

कौटिल्य : एक मूल्यांकन

डॉ. घोषाल ने अपनी पुस्तक हिन्दू पोलिटिकल थ्योरीज में एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर संकेत किया है और वह यह है कि कौटिल्य ने राज्य के सात अंगों में पुरोहित के पद का जिक्र तक नहीं किया। इससे अर्थशास्त्र के धर्म निरपेक्ष ग्रन्थ होने का प्रमाण मिलता है। पुरोहित के पद का कौटिल्य ने वर्णन अवश्य किया है, उसे उच्च स्थान भी दिया है और यह भी कहा है कि राजा को उसका अनुसरण करना चाहिये जैसे कि शिष्य गुरु का करता है, लेकिन यदि पुरोहित स्वधर्म की परिधि को लांघ जाता है अथवा देशद्रोह

का अपराधी माना जाता है तो दण्डनीय है और उसे देश निकाला भी दिया जा सकता है ।

कौटिल्य पर यह आरोप लगाया जाता है कि वह युद्ध मे अनैतिक आचरण के पक्षधर हैं । इस सम्बन्ध मे यह ध्यान देने योग्य बात है कि वह सर्वप्रथम युद्ध के स्थान पर शांति के समर्थक है क्योंकि युद्ध मे जन धन की भारी क्षति होती है और यह पाप है । लेकिन आवश्यकता पड़ने पर वह खुले युद्ध की अनुशंसा करते हैं । छद्म युद्ध की नहीं, लेकिन जब अन्य कोई रास्ता ही नहीं बचे और युद्ध अवश्यम्भावी हो और शत्रु इतना भयंकर, अनैतिक और नीच हो तो कोई भी साधन अपनाये जा सकते हैं । ऐसा करने से राजा न केवल अपनी प्रजा की रक्षा करता है बल्कि सामाजिक और धार्मिक संस्थाओ की भी सुरक्षा करता है ।[1] ऐसा करने से वह इस लोक और परलोक मे आनन्द प्राप्त करता है ।[2]

दुष्ट के साथ दुष्टता के व्यवहार की तो कृष्ण भी सलाह देते हैं । यह आरोप गलत है कि कौटिल्य सन्धि को तोड़कर धोखाधडी की राय देते हैं । वह तो केवल दुष्ट राजाओ के साथ आवश्यकता पड़ने पर ऐसा करने की सलाह देते हैं । दुष्टेषु संधि दूषयेत (vii, 14) । सचमुच मे देखा जाय तो कौटिल्य शांति के पक्षधर हैं, लेकिन धर्म की रक्षा हेतु आवश्यक होने पर युद्ध से आँख मूँद लेना भी तो पलायन और कायरता है । यह रामायण और महाभारत की परम्परा भी है । कौटिल्य इस परम्परा का निर्वाह कर रहे हैं । अत. उन पर राजा को युद्ध मे झोंक देने और अमर्यादित युद्ध के पक्षधर बनने का आरोप मिथ्या है । अत. डॉ. जोली का यह आरोप कि अर्थशास्त्र पूर्णतया यथार्थ और सांसारिक है और धर्मशास्त्रो की धार्मिक भावना के विपरीत है विशेष अर्थ नहीं रखता । यह बात सही है कि अर्थशास्त्र राजा, शासन और प्रशासन के समक्ष आने वाली चुनौतियो का यथार्थवादी हल सुझाता है, लेकिन न वह स्थापित धर्म एवं मर्यादा के विपरीत जाता है और न ही वह अनैतिकता का पाठ पढ़ाता है । धर्म की रक्षा स्वधर्म की पालना मे उपस्थित होने वाली कठिनाइयों को दूर करने एवं प्रजा के हितार्थ ही राजा दण्ड का प्रयोग करता है । यह उसका स्वधर्म भी है और साथ ही राजधर्म भी ।

भौतिकवाद जितना जीवन में आवश्यक है उसको कौटिल्य स्वीकार करते हैं । जीवन के तीन उद्देश्यों - धर्म, अर्थ और काम पर वह बल देते हैं । अर्थ और काम को यह भी भारतीय परम्परा के अनुसार ही धर्म के अधीन करते हैं । अर्थ को वह इस

1 सन्धि विग्रहयो तुल्यायां वृद्धौ सन्धिमुपेयात् ।
विग्रहे हि क्षय व्यय प्रवास प्रत्यवाया भवन्ति ॥ (7.2)
टीसिनर द्वारा मैर्यन पेनिटी में उद्धृत, पृ 384

2 अस्नौ पतने चेत लोके स्वर्गे परत्र च ।
टीसिनर द्वारा मैर्यन पेलिटी में उद्धृत पृ 385

सासारिक जीवन में जरूरी मानते हैं और अर्थशास्त्र में अन्वीक्षिकी दर्शन मे लोकायत की भौतिकवादी व्यवस्था निहित भी है, लेकिन यह कभी साध्य के रूप मे नहीं मानी गयी है। कौटिल्य इस परम्परागत भारतीय चिन्तन के मुख्य तत्त्व को अपने अर्थशास्त्र के मूल में स्वीकार करते हैं कि जो राज्य नियमों के द्वारा संचालित होता है वह सदा प्रगति करता है, कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता।

कौटिल्य वैज्ञानिक सूझबूझ वाले विचारक भी हैं और यहाँ वह अनेक परम्पराओं के विरोधी भी हैं। उदाहरणार्थ याज्ञवल्क्य सितारों की पूजा बताते हैं, लेकिन कौटिल्य पुरुषार्थ पर ज्यादा जोर देते हैं और धन की प्राप्ति के सभी साधनों के लिए कर्म करने में विश्वास करते हैं।[1] वह उस बात की भर्त्सना करते हैं कि राजा राज्य की वृद्धि एवं रक्षा हेतु श्रम न कर केवल नक्षत्रों की ही पूजा करता रहे। कौटिल्य न केवल स्वयं कर्मयोगी थे बल्कि राजा को कर्मठ देखना चाहते थे।

डॉ जोली की इस आलोचना में भी दम नहीं है कि अर्थशास्त्र में उच्च अधिकारियों की हत्या एवं उनकी सम्पत्ति को जब्त करने जैसी अनैतिक बातों का जिक्र है। कौटिल्य ने इसकी सलाह केवल उन विषम परिस्थितियों में दी है जबकि वे भयकर अपराध अथवा राज्य के विरुद्ध बगावत करने के दोषी हों। कौटिल्य ही नहीं मनु भी ऐसी ही बात कहते हैं कि राज्य की प्रगति में आने वाले सभी कांटों को साफ कर दिया जाना चाहिये।[2] कौटिल्य न अनैतिकता के ही और न ही क्रूरता एवं बर्बरता के पक्षधर हैं। वह इस बात को भली-भाँति समझते थे कि दण्ड के अप्राकृतिक एवं अधार्मिक तरीकों से राज्य में गरीबी आयेगी, जनता में असंतोष फैलेगा और इसलिये ऐसा नहीं किया जाना चाहिये।[3]
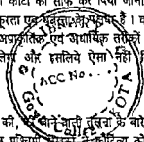
कौटिल्य और मैकियावेली

अंत मे कौटिल्य और मैकियावेली की, की जाने वाली तुलना के बारे में दो शब्द अप्रासंगिक न होंगे। विशेष तौर पर कुछ पश्चिमी लेखकों ने कौटिल्य को भारत का

---

1. नक्षत्रमति पृच्छन्त बालमर्थो अतिवर्तते ।
   अर्थो ह्यर्थस्य नक्षत्र कि करिष्यन्ति तारका: ॥ (9-4)
2. रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात्
   नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्परा: ॥
   दीक्षितार: मौर्यन पोलिटी से उद्धृत, पृ 391.
3. असत्येन हि सतां असतां प्रग्रहेण च ।
   अभूतानां च हिंसाया अकर्मणां प्रवर्तनै: ॥
   उचितानां चरित्राणां धर्मिष्ठानां निवर्तनै: ।
   अधर्मस्य प्रसंगेन धर्मस्याबाहेन च ॥
   दीक्षितार द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 392.

मैकियावेली कहा है जो कि अनुचित प्रतीत होता है। सर्वप्रथम कौटिल्य भारतीय परम्परा के उस उज्ज्वल पक्ष से जुड़े हुये हैं जिसमे राज्य को धर्म से पृथक् कर अपने मे साध्य माना ही नहीं गया है। मनुष्य का ध्येय सत+चित+आनन्द की प्राप्ति करना है और राज्य का कार्य उन सभी कठिनाइयो को दूर करना है जो उसकी बाधायें हैं। कौटिल्य स्वयं ने अर्थशास्त्र के अंतिम अध्याय मे यही लिखा है कि प्राचीन काल से ही ऋषियो ने राजाओ के मार्गदर्शन करने हेतु जिन अर्थशास्त्रो की रचना की थी, यह अर्थशास्त्र उन सबका सार है। इसका मतलब यह हुआ कि न तो आचार्य कौटिल्य ने कोई मौलिकता का दावा किया है और न ही वह भारतीय चिन्तन की मुख्य धारा से जुड़े हुए नहीं हैं। उनका राजा वर्णन एव परम्परायुक्त है जबकि कौटिल्य ने राजा को राज्याध्यक्ष के रूप मे कर्त्तव्यो, नैतिक दायित्वो धर्मशास्त्रो एवं स्वस्थ परम्पराओ से बाँध रखा है।

मैकियावेली की भांति कौटिल्य का अध्ययन क्षेत्र संकीर्ण, सीमित एवं परिस्थिति विशेष से जुड़ा हुआ नहीं है। कौटिल्य का विजेता राजा क्षेत्रीय विजय के उन्माद से ग्रस्त नहीं है, वह तो एक उच्च ध्येय को प्राप्त करने का अभिलाषी है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र हिन्दू आदर्श से अनुप्राणित है और वह यह है कि पृथ्वी की विजय स्वर्ग की प्राप्ति है। यह विजय केवल अन्य राजा पर येन केन प्रकारेण विजय प्राप्त करना नहीं है। यह अपनी इंद्रियों पर विजय है, दुर्गुणो पर विजय है, मानवीय दुर्बलताओ पर विजय है, श्रेष्ठ आचरण के मार्ग मे आने वाली बाधाओं पर विजय है, सज्जनो एवं शांतिप्रिय लोगो को सताने वाले दुष्टों पर विजय है।

अर्थशास्त्र वस्तुत: राजशास्त्र, लोक प्रशासन, समाज शास्त्र, मनोविज्ञान, राजनय, अन्तर्राष्ट्रीय विधि, शासन कला, मानव स्वभाव, युद्ध विज्ञान आदि अनेकानेक विषयों पर प्रतिपादित एक अनुपम ग्रन्थ है, जिसके समक्ष मैकियावेली का प्रिन्स बहुत ही बौना लगता है। मैकियावेली पर लगने वाले आरोप बहुत ही भयंकर हैं। सबसे बड़ा आरोप जार्जी लगाते हैं कि उसने एक अनैतिक और असत्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इसके साथ ही उसने राजनीतिक अपराध की एक अविवेकपूर्ण ढंग से कीर्ति स्थापित करने का प्रयास किया। उसने इनका उत्साहपूर्ण समर्थन करते हुए इतना गौरव पूर्ण बनाने के लिये एक ऐसे दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि इससे विश्व के अधिकांश भागों मे होने वाले दूषित लोकमत से राजनीतिक वातावरण विषैला हो गया।[1] यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाये कि प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वार्थ सिद्धि में लगा रहता है और अपने हित के लिए सभी साधन अपनाता है तो भी क्या हम इसे समाज में स्वीकृति दे सकते हैं ? क्या अनैतिक कार्य को हम सामाजिक जीवन में गौरवपूर्ण स्थान दे सकते हैं ? एक क्षण के लिये यह मान भी लिया जाए कि जब चोरी करते हैं तो क्या चोर को

---

1 मैक्सी, पॉलिटिकल फिलोसोफीज में उद्धृत पृ 138

चोर नहीं कहा जावेगा या नहीं कहा जाना चाहिये । क्या चोरी क्षम्य बन जाएगी । सी. जे. फाक्स तो एक कदम आगे बढ़कर महात्मा गाँधी की तरह कहते है कि जो वस्तु नैतिक दृष्टि से गलत है वह राजनीतिक दृष्टि से सही हो ही नहीं सकती ।[1] कौटिल्य और मैकियावेली की तुलना करते हुये यह कहा जा सकता है कि कौटिल्य की दृष्टि साफ थी और साथ मे दूर दृष्टि भी थी जबकि जैसा कि डॉ मरे ने कहा है मैकियावेली की दृष्टि साफ थी लेकिन वह दूर दृष्टि नहीं बन पाई । मैकियावेली ने चीजों को कभी भी उस रूप मे नहीं देखा जैसा कि वे हो सकती थीं । उसने उन्हे उसी रूप मे देखा जैसा कि वे यथार्थ में थीं । अत संभावनाओं को खोजने में उसने एक विचारक की राजनीतिक दृष्टि को भी खो दिया ।

सार रूप में, यह कहा जा सकता है कि करीब करीब सभी विद्वान इस बात से सहमत हैं कि कौटिल्य चिन्तक हैं । बी ए. सैलेटोर, जे सेलमैन, ए. एस. अल्तेकर, पी एन. बनर्जी, आर प्रतापगिरी, पी वी. काने एवं वी. पी. वर्मा का कहना है कि अर्थशास्त्र के अध्ययन से हिन्दू राजनीतिक चिन्तन की अनेक अवधारणाओं को समझने मे सहायता मिलती है । उदाहरणार्थ ये अवधारणायें हैं– राजतन्त्र, विधि, न्याय, अधिकार, कर्तव्य, धर्म, अर्थ और दण्ड । बेनीप्रसाद मानते हैं कि राजनीतिक सिद्धान्त की दृष्टि से यद्यपि कौटिल्य कोई मौलिक बात नहीं कह पाते हैं, लेकिन उनका योगदान इसके वर्गीकरण एवं व्यवस्थितिकरण में है । यू. एन. घोषाल मानते हैं कि ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि यह अर्थशास्त्र की परम्परा का ही निचोड़ है । सी. डेक्रेमिया वेबेरियन (मेक्स वेबेर) की दृष्टि से अध्ययन करने पर पाते हैं कि कौटिल्य के राजनीतिक चिन्तन मे नीतिशास्त्र और राजनीति का अद्भुत सामंजस्य देखने को मिलता है ।[2]

एन. सी. बंदोपाध्याय[3] की मान्यता है कि कौटिल्य द्वारा वर्णित राज्य न बहुलवादी है और न ही एकलवादी ही । यह तो बहुलवादी एकलवाद है । बंदोपाध्याय का यह भी मानना है कि अर्थशास्त्र मे केवल मैकियावेली की प्रवृतियाँ ही प्राय: लोग देखते हैं । उसमें अरस्तू द्वारा प्रतिपादित तत्व भी विद्यमान हैं । आर पी. कांगले[4] ने अर्थशास्त्र का विस्तृत अध्ययन किया है । वह इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कौटिल्य द्वारा स्वीकृत अनैतिक कार्य केवल संकटों को दूर करने हेतु हैं । पूरे अर्थशास्त्र में योगक्षेम की अवधारणा अन्तर्निहित है जो लोक कल्याण हेतु ही है ।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे निहित आर्थिक तत्वों का भी विशद अध्ययन किया गया है । आर. पी. कांगले, डी. डी. कोशाम्बी, टी.एन रामास्वामी, आर एस. शर्मा एवं

---

1. मैक्सी, पॉलिटिकल फिलोसॉफीज में उद्धृत पृ 138
2. कला मेहता एन्ड आर. श्रीनिवासन पॉलिटिकल थॉट इन एन्शियन्ट इण्डिया, पॉलिटिकल थॉट, इण्डियन कौंसिल ऑफ सोशल साइंस रिसर्च, एलाइड पब्लिशर्स, पृ 34

3-4 उपर मेहता एन्ड आर श्रीनिवासन, वही पुस्तक, पृ 34

वी.सी सेन[1] ने आर्थिक पक्ष का विशेष अध्ययन किया है। सेन ने अपनी पुस्तक 'इकोनोमिक्स इन कौटिल्य' में कहा है कि कौटिल्य ने एक विकासशील अर्थव्यवस्था एवं नियोजित राज्य की अवधारणा का प्रतिपादन किया है।

शुक्र

राजनीति शास्त्र का विद्यार्थी शुक्र नीति के माध्यम से ही उसके रचयिता शुक्र को जानता पहचानता है अन्यथा शुक्र कोई ऐतिहासिक पुरुष नहीं है। शुक्र राक्षसों के गुरु भी माने गये हैं और नीतिशास्त्री भी। प्रो. अल्तेकर[2] का कथन है कि राज्यशास्त्र के निर्माताओं के सिद्धान्तों और ग्रन्थो के परिचय हमें केवल महाभारत और कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ही होता है। यद्यपि इन दोनो ग्रन्थो के विषय, रूप, दृष्टिकोण और परम्परायें भिन्न हैं फिर भी इनमे उल्लिखित पूर्वसूरियो के नामों मे अंतर नहीं है। महाभारत का इस विषय का वृतांत प्राय दन्त कथात्मक ही है। इसमें कहा गया है कि प्रारम्भ मे ब्रह्माजी ने उस समय फैली अराजकता का अत करके समाज व्यवस्था पुन स्थापित करने के बाद एक लाख श्लोकों में विशाल राज्यशास्त्र की रचना की। इसे क्रमश· शिव विशालाक्ष, इन्द्र वृहस्पति तथा शुक्र ने संक्षेप किया। राज्यशास्त्र के अन्य ग्रन्थकारो में मनु, भारद्वाज और गौरशिरस का नाम भी उल्लेखनीय है।

जैसा कि उल्लेख किया गया है इन्द्र वृहस्पति तथा शुक्र ने ब्रह्माजी द्वारा रचित एक लाख श्लोकों का संक्षिप्तिकरण किया। हो सकता है कि इन्द्र वृहस्पति तथा शुक्र कोई व्यक्ति न हो, कोई संप्रदाय अथवा चिन्तन की परम्परा हो। जैसाकि अल्तेकर कहते हैं प्राचीन भारत के लेखकों की यह प्रथा थी कि वे बहुधा स्वयं अज्ञात रहकर अपने ग्रन्थों पर देवताओं या पौराणिक ऋषियो के नाम दे दिया करते थे। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, पाराशर स्मृति तथा शुक्रनीति आदि ग्रन्थों के नाम इसके उदाहरण हैं।[3]

शुक्रनीति

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि शुक्रनीतिसार, कामन्दक नीतिसार आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थों के रचनाकारों के बारे मे विद्वानो में मतभेद है। जी. ओपर्ट का मानना है कि यह शुक्रनीतिसार की रचना स्मृति और वीरगाथा काल के इर्दगिर्द ही प्रतीत होती है क्योंकि शुक्रनीतिसार मे जिन आग्नेयास्त्रों की चर्चा है वे प्राचीन काल में भी प्रचलित थे। प्रधान इसे चतुर्थ शताब्दी की रचना मानते हैं। काशीप्रसाद जायसवाल इसे 8वीं शताब्दी की रचना मानते हैं। डॉ बेनीप्रसाद इसे 12वीं या 13वीं शताब्दी की रचना मानते हैं। बी के सरकार का कथन अधिक प्रामाणिक लगता है। उनका मानना है

---

1 उषा मेहता एण्ड आर श्रीनिवासन, वही पुस्तक, पृ 35
2. ए एस अल्तेकर, वही पुस्तक, पृ 2.
3 ए एस अल्तेकर, वही पुस्तक, पृ 2.

कि महाभारत और मनुस्मृति की भांति शुक्रनीतिसार प्राचीन कृति है लेकिन कालान्तर मे इसमें कुछ न कुछ जोड़ा जाता रहा। यू. एन. घोषाल इसे हिन्दू राजनीतिक चिन्तन का अंतिम महान ग्रन्थ मानते हैं, लेकिन इसका रचनाकाल 12वीं शताब्दी के बाद मानते हैं। राजेन्द्रलाल मित्तर, पी. सी. दे और पंचानन नियोगी इसे 16 वीं शताब्दी की कृति मानते है।

यह बात सही है कि शुक्रनीतिसार की शैली धर्मशास्त्रों और नीतिशास्त्र से भिन्न है और इसमें कई स्थानो पर उत्तरवैदिक काल और मुस्लिम काल का अजीब सा मिश्रण मिलता है। 100 रत्ती के चांदी के सिक्के का इसमें वर्णन मिलता है जो प्रथम बार भारत में पठान राजाओं के द्वारा चलाया गया है। यह 13वीं या 14वीं शताब्दी की बात है।

शुक्रनीतिसार में नीति पर बल दिया गया है। नीति के कारण ही समाज में स्थायित्व आता है और स्थायित्व नागरिकों के जीविकोपार्जन हेतु आवश्यक है। नीति ही धर्म, अर्थ और काम का स्रोत है। यह ही कर्त्तव्य बोध और इसके द्वारा मुक्ति का रास्ता है। सामाजिक शांति व्यवस्था, पारिवारिक सुख केवल नीति की अनुपालना से ही सम्भव है। नीति की अनुपालना न करना राजा के लिए विपदापूर्ण बन जाता है। ऐसा न करने पर राज्य कमजोर, सेवा निकम्मी, भृत्यवर्ग असगठित हो जाता है।

शुक्र केवल राजतत्र का वर्णन करते हैं। शुक्रनीतिसार चार भागों मे विभाजित है — प्रथम भाग में राजा की योग्यता, शिक्षा, उसके कार्य, उत्तरदायित्व आदि का सविस्तार वर्णन है। राजा के दैविक स्वरू. का भी वर्णन है, उसके महल, न्यायालय, शहर के स्थापत्य आदि का भी वर्णन है।

दूसरे भाग मे राज्य के उच्च अधिकारियो, उनके कर्त्तव्यों, राजा के साथ सम्बन्धो आदि का सविस्तार वर्णन है। राज्य व्यय, आय के बा. मे भी उल्लेख है। प्रशासन की बारीकियो का बखूबी वर्णन किया गया है। राजा अधिकारयो, सभासदो, कर्मचारियो के साथ किस प्रकार व्यवहार करे इसका भी रोचक उल्लेख इस अध्याय मे मिलता है।

पुस्तक के तीसरे भाग मे सामाजिक रीति रिवाजों, परम्पराओं, पारिवारिक जीवन, सामाजिक संरचना की समस्याओ आदि के बारे मे वर्णन है। मीमांसा, तर्क, इतिहास, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, शिल्पशास्त्र, काव्य, अलंकार आदि ज्ञान की विभिन्न धाराओ का भी उल्लेख मिलता है।

चतुर्थ भाग में दुर्ग, मित्र, न्यायिक एवं सेना प्रशासन का वर्णन मिलता है। करों के बारे मे भी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है।

विषय सामग्री

सार रूप मे कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्र के बाद शुक्रनीतिसार राजनीति और लोक प्रशासन पर एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसमें शासन, प्रशासन की बारीकियो का बड़ा

गहन अध्ययन मिलता है । शुक्र बड़े प्रगतिशील विचारक थे । उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि अधिकारियों को केवल योग्यता के आधार पर नियुक्त किया जाना चाहिये, जातीय आधार को कभी महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिये । उन्होंने राजा के लिए जो आचार संहिता बनाई उसकी कठोरतापूर्वक अनुपालना करने का प्रावधान बताया । यहाँ तक कि सेवानिवृत्त कर्मचारियों को किस हिसाब से पेंशन दी जाये, इसका भी वर्णन शुक्रनीतिसार में मिलता है । इसमें लिखा है कि चालीस वर्ष की सेवा के उपरान्त कर्मचारी को आधा वेतन पेंशन के रूप में मिलना चाहिये । सरकारी नौकरों को मिलने वाले अवकाश का भी इसमें उल्लेख है ।

शुक्र ने एक अत्यन्त विस्तृत विषय का निरूपण किया है । राज्य की उत्पत्ति, उसके अस्तित्व का मूलाधार, राज्य का सप्तांग सिद्धान्त, राज्य के कार्य, न्याय व्यवस्था, कर व्यवस्था, दण्ड व्यवस्था एवं न्यायाधीशों की आचार संहिता, अपराधों का वर्गीकरण, विदेश नीति, अन्तर्राज्यीय सबन्ध, युद्ध, शांति, सत्ता का विकेन्द्रीकरण एवं स्वशासी संस्थाओं आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर शुक्रनीतिसार में पर्याप्त सामग्री है । शासन अथवा राजा के बारे में भी शुक्र ने काफी लिखा है । शुक्रनीति में नृपतंत्र पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है अतः राज्य के कर्ता धर्ता के बारे में विस्तृत वर्णन किया जाना स्वाभाविक है । राजा के गुणों, उसके कर्तव्यों, उसकी दिनचर्या, उत्तराधिकार एवं राजा की शक्तियों पर नियंत्रण आदि महत्त्वपूर्ण विषयों का भी शुक्रनीतिसार में वर्णन है ।

नीति राज्य और राजा

शुक्र ने शुक्रनीतिसार में स्पष्ट किया है कि इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य राजाओं एवं अन्य लोगों के हितार्थ नीति का निरूपण करना है । जैसा कि कहा भी जा चुका है कि शुक्रनीतिसार के प्रथम और द्वितीय अध्याय राजा के कर्तव्यों आदि से सम्बद्ध हैं । तृतीय अध्याय में अनेक ऐसी बातों का निरूपण किया गया है जिनका राजा और प्रजा दोनों से ही सम्बन्ध है । कहने का अर्थ यह है कि नीति केवल राजा से ही जुड़ी हुई नहीं है, इसका सम्बन्ध करीब करीब उतना ही प्रजा से भी है । जहाँ कामन्दक नीतिशास्त्र को शासन की कला तक सीमित करते हैं शुक्र नीतिशास्त्र को नैतिक नियमों, मर्यादाओं एवं शासन की कला तक विस्तृत करते हैं । शुक्र के अनुसार नीतिशास्त्र सभी वर्गों, सभी हितों एवं सभी कालों को समाहित करता है । उनके अनुसार जैसे भोजन के बिना मनुष्य के शरीर की रक्षा नहीं हो सकती, उसी प्रकार संगठित समाज का अस्तित्व नीति के बिना सम्भव नहीं है । केवल नीतिशास्त्र के अध्ययन से ही राजा अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं, अपनी प्रजा को सुखी रखते हैं और स्वयं भी आनन्द में रहते हैं । इस प्रकार जबकि अन्य विज्ञान जीवन के केवल एक पक्ष को स्पर्श करते हैं, नीतिशास्त्र सम्पूर्ण जीवन, सम्पूर्ण समाज एवं सम्पूर्ण संगठित व्यवस्था से सम्बन्धित है । इसके माध्यम से व्यक्ति

और समाज दोनो की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और यह ही राजा और राज्य की सुरक्षा एवं समृद्धि दोनो का ही माध्यम भी है।

दण्डनीति और अर्थशास्त्र के महत्व को स्पष्ट करते हुए शुक्र लिखते हैं कि दण्डनीति वह विज्ञान है जिसका सबन्ध राज्य नीति से है जबकि अर्थशास्त्र में राजनीति और अर्थशास्त्र दोनो सम्मिलित हैं– आज की शब्दावली मे इसे पोलिटिकल इकानोमी भी कहा जा सकता है।

शुक्र राजतत्रवादी हैं यद्यपि उनका राजा न निरकुश है और न ही भोगविलासी ही। शुक्र के चिन्तन मे राजा और राज्य दोनों ही एकाकार हो गये हैं। उनके मतानुसार सामाजिक संगठन का मानवीय आधार है और वह कर्म को सर्वोपरि मानते हैं जो इस पृथ्वी पर अच्छाई और बुराई का कारण बनता है। वह जाति प्रथा के निर्माण में भी कर्म की भूमिका देखते हैं, पूर्व जन्म मे किये गये कर्मानुसार ही मनुष्यों को जातियाँ मिलती हैं। दूसरे शब्दो मे, व्यक्ति के गुणानुसार ही जाति प्राप्त होती है। इन गुणो के आधार पर शुक्र ने राजाओ को भी तीन भागों मे बाँट दिया है। राजा का मुख्य कार्य धर्मानुसार प्रजा की पालना करना होता है लेकिन सब राजा ऐसा नहीं कर पाते। राजाओ मे तामस गुण प्रधान लोग राक्षसाश युक्त होते हैं जबकि रजोगुण प्रधान राजा मानवाश युक्त होते हैं। अंतिम श्रेणी सर्वश्रेष्ठ होती है जिसमें राजा सतोगुण प्रधान होते हैं।

शुक्रनीति मे वर्णित है कि ब्रह्मा ने प्रजा के पालनार्थ राजा की सृष्टि की है तथा उसे प्रजा से वेतन के रूप में वार्षिक कर प्राप्त हो। अरस्तू की भांति शुक्र भी मानते हैं कि राज्य का जन्म यद्यपि प्रजा की सुरक्षा हेतु हुआ है लेकिन इसका अस्तित्व प्रजा के नैतिक उत्थान पर आधारित है। इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य को वैधता तब ही प्राप्त होती है जबकि वह प्रजा के हित में कार्य करे।

राज्य का सप्तांग सिद्धान्त

शुक्र द्वारा वर्णित राज्य का सप्ताग सिद्धान्त करीब करीब कौटिल्य के अनुसार ही है। स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, बल और मित्र ही राज्य के अग हैं।

यद्यपि राजा या स्वामी इनमे सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, लेकिन उसका समस्त जीवन प्रजा के लिये ही है। राजा सिर है, मंत्री आँख, मित्र कान, कोष मुख, सेना मस्तिष्क, दुर्ग व राष्ट्र हाथ पैर हैं। कोष और सेना के बारे मे शुक्र के विचार अधिक ध्यान देने योग्य हैं। कोष की सुरक्षा एवं वृद्धि हेतु शुक्र अनेक सुझाव देते हैं, लेकिन वह श्रमिकों एवं शिल्पियो के शोषण के विरुद्ध भी हैं। वह सुझाव देते हैं कि सामान्यतौर पर राजा को चाहिये कि वह आय का 1/6 भाग बचा कर रखे। ब्राह्मणो, निर्धनो, असहायो को आय का एक भाग दान मे देने का सुझाव है और मंत्रियो, अधिकारियो, कर्मचारियो के वेतन एवं सरकारी प्रतिष्ठानो के रख रखाव पर खर्च का प्रावधान है, लेकिन तत्कालीन

परिस्थितियो मे व्याप्त असुरक्षा को देखते हुए शुक्र ने सर्वाधिक व्यय (राजस्व का करीब आधा) सेना को समर्पित किया। केवल अत्यन्त विषम परिस्थितियो मे ही राजा को अतिरिक्त कर लगाना चाहिये, वह भी राज्य की सुरक्षा और प्रजा की भलाई हेतु अन्यथा भोग विलास के लिए एकत्रित किया गया कोष तो दुखो का कारण बन जाता है।

शुक्र ने व्यावहारिकता को ध्यान मे रखते हुए करो के निरूपण की व्यवस्था की है। सबसे एक सा कर लिया जाना अन्याय पूर्ण है, कर वसूली व्यक्ति की क्षमता एवं आय के अनुपात मे होनी चाहिये। शुक्र की पैनी दृष्टि का इस बात से बोध होता है कि भूमि की गुणवत्ता और क्षेत्रफल के हिसाब से किसानों को पृथक् पृथक् श्रेणियो मे बाँटा है और तदनुसार उत्पत्ति का तीसरा अश, चौथा अंश, छठा अंश और 20वां अंश कर के रूप मे वसूल किया जाना चाहिये। सार यह है कि कर निरूपण के पीछे राजा का वैयक्तिक हित न होकर, राज्य की सुरक्षा एव लोक कल्याण की भावना ही प्रमुख है।

सेना के गठन के बारे में शुक्र का समकालीन समाज के सदर्भ मे क्रान्तिकारी विचार है। उनका विश्वास है कि बल, शौर्य किसी जाति विशेष की बपौती नहीं हैं। सेवा मे उन सभी को लिया जाना चाहिये जो साहसी, सुगठित एव शत्रुद्रोही हों, और इस प्रकार क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य और यहाँ तक कि मलेच्छ एवं वर्णसंकर भी सैनिक बन सकते हैं।

शुक्र ने सुगठित, सुव्यवस्थित और सुसज्जित सेना पर बहुत जोर दिया है। उन्होंने जहाँ तक हो युद्ध से बचने की सलाह दी है और इसके लिए साम, दाम, दण्ड एवं भेद सभी का प्रयोग किया जाना चाहिये। लेकिन यदि अन्य कोई उपाय ही नही हो तो मनोयोग और मनोबल के साथ युद्ध लडा जाना चाहिये।

राज्य का कार्य क्षेत्र

शुक्र वस्तुत लोककल्याणकारी राज्य के पक्षधर हैं। प्रजा के सुख-दुःख, सम्पन्नता- विपन्नता सभी में राज्य की भागीदारी है। प्रजा के केवल भौतिक ही नहीं अपितु आध्यात्मिक और नैतिक विकास मे भी राज्य का यथेष्ट योगदान होना चाहिये। राज्य को चाहिये कि वह उन परिस्थितियों का निर्माण करे जिनमें प्रजा अपना सर्वांगीण विकास कर सके।

राज्य का कार्य क्षेत्र इतना विस्तृत है कि इसमे करीब करीब सभी गतिविधियाँ शामिल हैं। यह एक प्रकार से आधुनिक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा है और साथ ही इसमें आध्यात्मिकता और नैतिकता का पुट भी दिया गया है। राज्य के कार्यों में न्याय, दण्ड की व्यवस्था, आमोद-प्रमोद की व्यवस्था, धार्मिक स्थलों की व्यवस्था; शिक्षार्थियों, विद्वानों, चिकित्सकों, सन्यासियों, आध्यात्मिक पुरुषों आदि के भरण पोषण, सम्मान की

व्यवस्था; शिक्षा, संस्कृति, आश्रम, राजधर्म आदि का उन्नयन; अपाहिजों, बेसहारों, निर्धनों, विधवाओं, अन्धों, वृद्धों आदि की सुरक्षा एवं भरणपोषण की व्यवस्था सम्मिलित है। सार यह है कि राज्य के कार्य क्षेत्र में वे सभी गतिविधियाँ सम्मिलित हैं जिनके द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति हो।

शुक्र राजा को एक प्रकार का सुपरमैन बना देते हैं जिसमें सभी प्रकार के गुण विद्यमान हों। उसे शक्तिशाली, दयालु, स्नेही, संवेदनशील, सत्यवादी, पवित्रात्मा, अनुशासित, विद्वान, बुद्धिमान, साहसी, सहिष्णु, कर्मठ एवं स्थितप्रज्ञ होना चाहिये। उसमें सही और गलत को पहचानने की समझ होनी चाहिये, उसे राज्य में रहस्यों को गोपनीय रखने की चतुराई होनी चाहिये। शत्रुओं के भेद जानने की भी उसमें चतुराई हो। उसे सुन्दर, सौम्य और सत्यवादी होना चाहिये। उसे वेदों, अर्थशास्त्र और तर्कशास्त्र का ज्ञाता होना चाहिये।

राज्य के कार्यक्षेत्र में आने वाले सभी कार्य राजा के माध्यम से संपादित होंगे। अतः वे सब ही उसके कार्य हैं। संक्षेप में दुष्टों को दण्ड देना, न्याय करना, राज्यकोष का विस्तार करना, वर्णाश्रम धर्म का पालन, चारों विद्याओं अर्थात् आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति के अनुसार आचरण, प्रजा की रक्षा एवं उसका पालन करना ही राजा का कर्तव्य है। शुक्रनीति में दण्ड को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। दण्ड को बड़े विस्तृत अर्थ में समझा गया है। कहा गया है राज्य को दण्डाधिकारी होना चाहिये क्योंकि दण्ड के भय से दुष्ट और आततायी अपने दुष्कर्म को त्याग देते हैं। राजधर्म की रक्षा दण्ड के माध्यम से ही संभव है। दण्ड ही धर्म की रक्षा करता है और इसके प्रयोग से ही राजा लोकप्रिय होते हैं।

शुक्र ने राजा के व्यक्तिगत गुणों पर बहुत जोर दिया है उसके चरित्रवान और संयमी होने पर बल दिया गया है। उसे जुआ, मद्यपान और औरतबाजी से दूर रहने के लिए कहा गया है क्योंकि सौदाहरण शुक्र ने समझाया है कि इन तीनों का सेवन करने वाले राजाओं की कितनी दुर्गति हुई है। शुक्र ने कहा है कि राजा कितना सुखी या दुखी हो सकता है यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह क्रोध, लोभ, अहंकार, मद्यपानी विलासिता और असहिष्णुता को छोड़ पाता है अथवा नहीं। जिस सीमा तक वह इन विकारों को नियंत्रित कर पाता है उतना ही वह सुखी रह सकता है। दूसरे शब्दों में, शुक्र प्लेटो की भांति दार्शनिक राजा की बात करता है, एक राजर्षि की अवधारणा है। राजा के आदर्श के रूप में शुक्र राम और कृष्ण का उदाहरण देते हैं कि किस प्रकार अपने महान गुणों के कारण वे पूजनीय बने। प्रोफेसर यू एन घोषाल[1] के अनुसार शुक्र का

---

1. यू एन घोषाल: ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पॉलिटिकल आइडियाज, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, पृ 507

ज्यादा जोर राजा के व्यक्तिगत गुणों पर है। उसके उच्च वंश में जन्म एवं समृद्धि का महत्व दूसरे स्थान पर है। योग्यता को शुक्र ने सर्वाधिक महत्त्व दिया है।

राजा निरंकुश नहीं है, यह शुक्र के चिन्तन के मूल में है। उसकी योग्यता दिनचर्या की इतनी विशद चर्चा की गयी है कि इनकी पालना करने वाला व्यक्ति एक उच्चादर्श लिये उच्च ध्येय की ओर ही अग्रसर होगा। एक प्रकार से राज्य के कार्य ही दैविक हैं और इनको सम्पादित करने वाला देव है और इनकी अवहेलना करने वाला राक्षस है। शुक्र का कथन है कि दुष्ट प्रकृति वाला व्यक्ति राजा के वश में डाकू है, राजा एक प्रकार से सार्वजनिक धन का ट्रस्टी है। वह प्रजा का स्वामी न होकर नौकर है। प्रजा को दिये जाने वाले संरक्षण के एवज में उसे कर दिया जाता है। राजा अपने कृत्यों के लिये ईश्वर के प्रति भी उत्तरदायी है। शुक्र साफ साफ चेतावनी देते हैं कि अपने कर्तव्यों का पालन न करने वाला राजा नरक को प्राप्त होता है।

मंत्री, लोक प्रशासन एवं अन्तर्राज्यीय संबन्ध

शुक्र मंत्रिमण्डल का आकार न छोटा और न बड़ा रखना चाहते हैं। बहुत छोटे मंत्रिमण्डल में समाज का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता है और बड़े आकार का मंत्रिमण्डल अव्यवस्थित हो जाता है अतः मध्यम आकार का मंत्रिमण्डल ज्यादा उपयुक्त है। वह दस मंत्रियों का मंत्रिमण्डल सभी दृष्टियों से उचित मानते हैं। वे इस प्रकार हैं- पुरोहित, प्रतिनिधि, प्रधान सचिव, मंत्री, प्राड्विवाक (मुख्य न्यायाधीश), पण्डित, सुमन्त, अमात्य एव दूत।

शुक्र का कथन है कि मंत्रियों की राय सुनना राजा का परम कर्तव्य है। चाहे राजा कितना भी कुशल, विवेकशील एवं नीतिज्ञ क्यों न हो, बिना मंत्रियों के परामर्श के उसे कोई नीति सबन्धी निर्णय नहीं लेना चाहिये। ऐसा न करने वाला राजा अविवेकी, एवं अविश्वसनीय है। शुक्र ने तो ऐसे राजा को डाकू तक कह दिया है। शुक्र ने मंत्रियों की योग्यता के बारे में भी विस्तार से लिखा है और यह अपेक्षा की है कि वे ईमानदार, सच्चरित्र, मेधावी, बुद्धिमान एवं राज्य भक्त हों।

लोक प्रशासन की दृष्टि से शुक्रनीतिसार एक अनुपम ग्रंथ है। राज्यकर्मचारियों को स्वामिभक्त, ईमानदार, कुशल एव आलस्यरहित होना चाहिये। एक पद पर तीन अधिकारी नियुक्त किये जाने चाहिये जिनमें एक प्रमुख एव दो उसके सहायक हों। अधिकारियों और कर्मचारियों के बारे में भी शुक्र का कथन है कि उनके चयन में जाति के स्थान पर योग्यता और चरित्र पर बल दिया जाना चाहिये। शुक्र की पैनी दृष्टि का एक अन्य उदाहरण यह है कि उन्होंने राजा को यह सलाह दी है कि राज्य कर्मचारियों अथवा अधिकारियों और प्रजा के बीच उत्पन्न झगड़े में उसे प्रजा का पक्ष लेना चाहिये। शुक्र ने राज्य अधिकारियों एवं कर्मचारियों की सेवा शर्तों, पेंशन, आचरण संहिता आदि के बारे में भी लिखा है।

स्थानीय स्वशासन का भी शुक्र जिक्र करते हैं। दस गाँवो का अधिकारी नायक, 100 गाँवो का सामन्त कहलाता है। इससे अधिक गाँवो के अधिकारी को आशापाल या स्वराट कहा गया है। शुक्र ने एक राजा के अधीनस्थ सपूर्ण क्षेत्रफल को राष्ट्र की सज्ञा दी है। शुक्र का कथन है कि सत्ता का सभवत विकेन्द्रीकरण होना चाहिये और राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह सम्पूर्ण राष्ट्र का दौरा करे और अपने प्रजाजनो के कष्टो का निवारण करे।

न्याय संबन्धी विचार भी ध्यान देने योग्य है। शुक्र ने अपराधो को चार भागों में बाँटा है- अपराधो का एक बार करना, बार बार करना, अपराध करने का प्रयत्न करना और आदतन अपराधी प्रवृत्ति। दण्ड देते समय अपराध की गुरुता, अपराध से समाज और व्यक्ति को होने वाली हानि, अपराध और अपराधी की प्रकृति को दृष्टिगत रखना चाहिये। शुक्र अपराधों को कम करने और सचाई तक पहुँचने हेतु मुकदमो की सार्वजनिक सुनवाई के पक्षधर हैं। वह चाहते हैं कि फैसला करने से पूर्व पक्ष विपक्ष के सभी तर्को को ध्यान से सुना जाय एवं न्यायिक अधिकारी एव राजा को व्यक्तिगत दुर्बलताओ से ऊपर उठकर शास्त्रानुसार चलना चाहिये और आवश्यकता पड़ने पर जितेन्द्रिय, निष्पक्ष एव वेदो के निष्णात विद्वान ब्राह्मण की सहायता ली जानी चाहिये। शुक्र न्याय व्यवस्था के विकेन्द्रीकरण की भी बात कहते है।

न्यायाधीशो की योग्यता भी निर्धारित की गयी है। सक्षेप मे उन्हे धर्मशास्त्रों का ज्ञाता, विद्वान, स्वार्थ एव पक्षपात रहित, सत्यवादी, विधि का ज्ञाता एवं बुद्धिमान होना चाहिये।

कौटिल्य की भाति शुक्र भी अन्तर्राज्यीय संबन्धों की चर्चा करते हैं। इस दृष्टि से शुक्रनीतिसार पर अर्थशास्त्र का पूर्ण प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। शुक्र चार प्रकार के शत्रु, मित्र, मध्यम और उदासीन राजाओं का जिक्र करते हैं। राजा के राज्य के निकटवर्ती राजा स्वाभाविक शत्रु हैं, जबकि इनके पड़ौसी राजा उदासीन और उनके पड़ौसी मित्र होते हैं। इनसे व्यवहार करते समय राजा को साम, दाम, दण्ड एव भेद की नीति का अनुसरण करना चाहिये और षड्गुण्य सिद्धान्त को ध्यान मे रखना चाहिये। षड्गुण्य मे सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव सम्मिलित हैं। संक्षेप मे इन्हे स्पष्ट किया जा सकता है।

जिस क्रिया से बलवान राजा बलवान शत्रु को अपना मित्र बना ले वह सन्धि है। शत्रु को अपने अधीन कर लेना ही विग्रह है। अपनी विजय और शत्रु के नाश के लिए किया गया कार्य यान है। जिस स्थान पर बैठने से अपनी सुरक्षा और शत्रु का नाश हो वह आसन कहलाता है। दुर्बल होते हुए भी मित्रों की सहायता से राजा सुरक्षित बना रहे वही संश्रय है एवं शत्रु और मित्र दोनों स्थानों पर अपनी सेना की नियुक्ति को द्वैधी-भाव कहा गया है।

मध्य युग की ओर

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन और मध्ययुगीन चिन्तन के बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा नहीं है। चिन्तन एक सतत प्रक्रिया है, एक प्रवाह है, निरन्तरता है। इसे ऐतिहासिक काल मे बाधना असम्भव है। लेकिन अध्ययन की दृष्टि से मोटे तौर पर प्राचीन काल को हिन्दू शासकों का काल, मध्ययुगीन काल को मुस्लिम शासको का काल और आधुनिक काल को ब्रिटिश आगमन से लेकर आज तक का काल कह सकते है, यद्यपि यह कोई ठोस आधार नहीं है। प्राचीन मध्य युग और आधुनिक युग की यद्यपि मोटे तौर पर मुख्य मुख्य प्रवृतियाँ इगित की जा सकती हैं, लेकिन किसी प्रवृति को एक युग विशेष तक सीमित करना भी उचित नहीं प्रतीत होता। उदाहरणार्थ राज्य की अवधारणा ले। यह सही है कि प्राचीन और मध्ययुगीन काल मे राज सत्ता पर कोई निर्धारित और मान्य सस्थागत नियत्रण नहीं थे। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि राजा या शासक निरकुश था। इसी प्रकार नागरिक अधिकारो और स्वतत्रता की बात है। उन्हे कोई सवैधानिक अधिकार प्राप्त नहीं थे क्योंकि कोई लिखित सविधान ही नहीं था। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं निकाला जा सकता कि नागरिकों के अधिकार ही नहीं थे और वे गुलामी का जीवन बिताते थे। आधुनिक काल में हम सविधान, मौलिक अधिकारो की बात करते हैं लेकिन क्या हम दावा कर सकते हैं कि आज के सभी राज्य वास्तव मे जनतात्रिक हैं और नागरिक वास्तव मे स्वतत्र हैं। प्राचीन और मध्ययुगीन राज्य का क्षेत्र सीमित था यद्यपि सैद्धान्तिक स्तर पर उसे अप्रतिबधित कहा जा सकता है। वर्तमान काल मे राज्य का क्षेत्र सविधान द्वारा निर्धारित किये जाने पर भी असीमित हो सकता है। प्राचीन और मध्ययुगीन राज्य सर्वाधिकारी नहीं बन सकता था। लेकिन आज का राज्य सर्वाधिकारी बन सकता है, ऐसा क्यो है? इसका उत्तर विज्ञान देता है। आज विज्ञान और तकनीकी ज्ञान ने राज्य को ये उपकरण प्रदान कर दिये हैं जो प्राचीन और मध्य युगीन राज्य को उपलब्ध नहीं थे। शासक चाहे कितना ही निरंकुश, कठोर महत्वाकांक्षी क्यों न हो, प्राचीन और मध्यकालीन राज्य परिस्थितिवश विकेन्द्रित थे।

प्राचीन काल से मध्य युगीन काल की ओर प्रस्थान करने के पूर्व प्राचीन काल पर एक विहंगम दृष्टिपात करना अप्रासगिक न होगा। विचारकों में मनु, शुक्र, कौटिल्य प्रमुख हैं लेकिन जो स्थान प्रारम्भिक पश्चिमी विचारको में अरस्तू का है ठीक वही स्थान कौटिल्य का है। यदि अरस्तू पश्चिम के प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक हैं तो कौटिल्य भारत के प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक हैं। दोनों ही यथार्थवादी हैं और करीब करीब समकालीन भी हैं। अर्थशास्त्र के बाद हम मनुस्मृति और शुक्र नीतिसार को रख सकते हैं। जहाँ मनुस्मृति विवादों और पूर्वाग्रहो से ग्रसित माना जाता है वहाँ शुक्रनीति अधिक व्यावहारिक एवं यथार्थवादी ग्रन्थ है। शुक्रनीति में प्रशासनिक व्यवस्था का बडा ही गहन और सांगोपांग वर्णन है। वैसे अनेक विद्वान शुक्रनीतिसार को मध्ययुग की कृति ही मानते हैं।

आलोच्य युग में विभिन्न सरकारों की कार्यकुशलता के बारे में यह कहा जा सकता है वे करीब-करीब सभी सामाजिक एवं प्रशासनिक दायित्वों को पूरा करती थीं। शांति व्यवस्था बनाये रखने के अतिरिक्त व्यापार, उद्योग एवं कृषि को भी राज्य द्वारा प्रोत्साहन मिलता था। आर्थिक ससाधनों की प्रचुरता का और बड़ा सबूत क्या हो सकता है कि महमूद गजनी बेशुमार सोना चांदी और मोती यहाँ से ले गया। साहित्य, कला, कौशल, दर्शन, विज्ञान, धर्मशास्त्र एवं ज्योतिष के क्षेत्र में आशातीत प्रगति हुई[1] जिसमे वेद सर्व विख्यात हैं। ईसामसीह के जन्म के कुछ शताब्दियों पूर्व रचनाओ मे मनुस्मृति और कौटिल्य का अर्थशास्त्र विशेष उल्लेखनीय हैं। उत्तरार्द्ध काल मे भी कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो की रचना हुई है। इनमें सोमदेव का नीतिवाक्यामृत, बृहस्पति का बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र, भोज का युक्तिकल्पतरू विशेष उल्लेखनीय हैं। शुक्रनीति को उत्तरार्द्ध काल का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कहा जा सकता है यद्यपि इसके बारे मे जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है एकमत यह भी है कि यह कुछ बाद की कृति है। आज के न्यायालयों मे जिन दो ग्रन्थों को उद्धृत किया जाता है वे हैं विजनानेश्वर का मितिमरा एवं जिमूतवाहन का दया भाग। रसानव की भी रचना इसी काल मे हुई थी जिसे रसायन शास्त्र का अनुपम ग्रन्थ माना जाता है। ज्योतिषशास्त्र को भी राजाओ ने बड़ा संरक्षण दिया। दक्षिण भारत मे शंकर और रामानुज जैसे महान दार्शनिक इसी काल में हुये। शिक्षा के क्षेत्र में हुई उपलब्धियाँ भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। नालन्दा और तक्षशिला के विश्वविख्यात विश्वविद्यालय भी इस काल की देन हैं। स्थापत्य काल की खजुराहो और माउन्ट आबू के मंदिर भी इसी काल की देन हैं। मथुरा के मन्दिरों का सौंदर्य और यहाँ की स्थापत्य कला इतनी मोहक थी कि एक बार तो इनको नष्ट करने के आदेश देने के पूर्व महमूद गजनी भी झिझक गया था।

यहा सर्वमान्य है कि प्राचीन भारत की प्रमुख शासन प्रणाली राजतंत्र ही थी, लेकिन यहाँ प्रजातंत्रात्मक राज्य व्यवस्था भी रही। इसके अकाट्य प्रमाण हैं। महाभारत के शांतिपर्व प्रकरण मे अर्जुन और भीष्म पितामह के बीच गणराज्यो के बारे में हुई वार्ता का उल्लेख है। बौद्ध साहित्य मे तो इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। यूनानी लेखकों ने प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था के प्रचलित होने का वर्णन किया है। इन्होने राजतंत्र एवं अनेक प्रकार की शासन पद्धतियों का उल्लेख किया है जिनमें प्रजातंत्र भी था। इन गणराज्यों में शाक्य, कोलिया, मल्ल और वृज्जि का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। जैन और बौद्ध दर्शन के प्रणेता इन्ही गणराज्यों के थे।

महावीर और गौतम का दार्शनिक चिन्तन गणराज्य के दार्शनिक आधार को सम्बल प्रदान करता है। यह वैदिक हिंसा, विशेषतौर पर पशुबलि और कालान्तर मे उत्पन्न कर्मकाण्ड के विरुद्ध विद्रोह था। ब्राह्मणों के वर्चस्व के विरुद्ध यह अनवरत संघर्ष था।

---

1. परमा दी उदगावन्कार: दि पॉलिटिकल इन्स्टीट्यूशन्स एन्ड एडमिनिस्ट्रेशन, पृ 227.

गौतम बुद्ध ने राज्य में क्षत्रिय को प्रथम स्थान दिया न कि ब्राह्मण को, जैनों ने घोषणा की कि कोई भी तीर्थंकर ब्राह्मण परिवार में जन्म नहीं लेगा। ब्राह्मणों द्वारा स्थापित देवी देवताओं से ज्यादा महत्त्व व्यक्ति के कर्म और नैतिक आचरण को दिया गया। जैन दर्शन के अनुसार इस विश्व में अनन्त आत्मायें हैं जो कर्मों के अनुसार स्वयं को परिष्कृत करती रहती हैं। ये कर्म ही विभिन्न जन्मों में इन्हें बाँधे रखते हैं। जैन और बौद्ध दोनों ही मानते हैं कि अपने सम्यक् ज्ञान और कर्म द्वारा मनुष्य अपने बंधनों से मुक्त होते जाते हैं। जैनों के अनुसार उच्चतम काइवल्य व ज्ञान है और बौद्धों के अनुसार यह निर्वाण है। दोनों ही दर्शन ईश्वर के महत्त्व को स्वीकार नहीं करते। एक प्रकार से दोनों ही दर्शन व्यक्ति पर जोर देते हैं और इसमें व्यक्तिवाद की अवधारणा निहित है। उदाहरणार्थ जैन दर्शन का यह उद्धरण व्यक्तिवाद की पुष्टि करता है–

मनुष्य अकेला जन्मता है, मरता है, अकेला ही वह पतन और उत्थान को प्राप्त होता है। इसकी इच्छायें, चेतना बुद्धि – आदि उसकी विशुद्ध रूप से अपनी ही हैं। यहाँ उसके सबन्ध न उसकी मदद कर सकते हैं और न उसे बचा ही सकते हैं।[1]

बौद्ध धर्म के राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन से दो बातें स्पष्ट होती हैं– प्रथम तो यह कि राज्य समझौते का प्रतिफल है। दीघनिकाय और जातक साहित्य में यह प्रतिलक्षित होता है। यह गणराज्य के दर्शन की झलक देता है। लोगों ने धर्म के अनुसार आचरण करने और शासन चलाने हेतु मिलकर एक राजा का चयन कर उसे यह कार्य सौंपा। राजा वही व्यक्ति हो सकता है जो राग द्वेष से ऊपर उठकर कार्य करता है और धर्मानुसार आचरण करता है। द्वितीय यह कि राजनीति का आधार नैतिकता हो। बौद्ध साहित्य में शासन के सिद्धान्तों में अहिंसा और नैतिक आचरण को ही महत्व दिया गया है। शासक को शासन संचालन में कोई छूट नहीं है। स्पष्ट घोषणा की गयी है कि धर्म का आचरण न करने पर राजा अनैतिक है और ऐसे राज्य में सर्वत्र विनाश ही विनाश है। बौद्ध साहित्य में राजसत्ता के प्रति अविश्वास और घृणा ही प्रतिलक्षित होती है। सधर्म पुण्डरिक ने तो यहाँ तक कह दिया कि बौद्ध साधुओं को वहाँ नहीं जाना चाहिये जहाँ राजा, राजकुमार या सरकारी अधिकारी हो।[2] यह इसलिये कहा गया है कि हो सकता है कि राजकार्य में चालाकी और धोखेबाजी करनी पड़े। जैन विधिवेत्ताओं ने भी राज्य पर चिन्तन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि यह दुख का ही कारण है। यह एक दुखदायी औषधि है जो आवश्यक होने पर लेनी पड़ती है। उनके अनुसार राजा को भी चाहिये कि राजकार्य के झंझट से मुक्ति पाये। राजनीति हो सकता है कि इस संसार

1 जैन थॉट एण्ड फिलॉसफी, इन्स्ट्रेड दीकनी ऑफ इण्डिया, वी आर मेहता (वही पुस्तक) द्वारा उद्धृत पृ 106

2. वी आर मेहता (वही पुस्तक) द्वारा उद्धृत, पृ 109

मे आनन्द प्राप्त कर सके लेकिन इसके बाद मे कदापि नहीं । केवल त्याग और ससार से विरक्ति से ही शान्ति और आनन्द की प्राप्ति हो सकती है ।

हिन्दू काल को दो भागो में बॉट कर देखे तो लगता है कि उत्तरार्द्ध काल मे सास्कृतिक एकता और समरसता टूटती नजर आती है । राजनीतिक और राष्ट्रीय दृष्टि से भी एकता की भावना धूमिल थी । सम्पूर्ण भारत अनेक छोटे छोटे राज्यो मे विभाजित था । चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा स्थापित एक विशाल केन्द्रीकृत राज्य अब केवल इतिहास की वस्तु बनकर रह गया था । यद्यपि उत्तरी भारत मे प्रतिहारों ने सुदृढ साम्राज्य स्थापित करने का प्रभावी प्रयास अवश्य किया गया था और कुछ समय तक यह प्रयास सफल भी रहा, लेकिन कालान्तर मे यह साम्राज्य विघटित हो गया । प्रतिहारो को इस बात का श्रेय मिला कि उन्होने सिन्ध के मुसलमानो को राजपूताना और मध्य भारत की ओर कूच करने से रोका, लेकिन इस साम्राज्य के विघटित होते ही पुन: छोटे छोटे राज्यो की स्थापना हो गई जिसके फलस्वरूप महमूद गजनी का इन छोटे छोटे राज्यो पर विजय प्राप्त करना सहज हो गया । महमूद गजनी के लूट खसोट कर वापिस लौट जाने पर भी इनमे एकता की भावना का सचार नहीं हुआ जिसके परिणामस्वरूप भारत पर मुसलमानो के निरन्तर सफल आक्रमण होने लगे ।[1] यह ध्यान देने योग्य बात है कि सिकन्दर के आक्रमण के उपरान्त राष्ट्रीय एकता के प्रतीक के रूप मे जो एक सुदृढ केन्द्रीय सरकार की स्थापना हुई वह इस काल मे नहीं हो पाई ।[2]

एक अन्य दुर्बलता यह रही कि भारत ने पड़ौसी देशो के साथ अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने के महत्व को नहीं समझा । मौर्य काल मे पाटलीपुत्र मे यूनानी राजदूत रहा करते थे और यहाँ से अनेक सास्कृतिक और धार्मिक शिष्टमण्डल पड़ौसी देशो मे भेजे गये थे । गुप्त काल तक यह परम्परा बनी रही । समुद्रगुप्त के दरबार मे लंका, जावा और सुमात्रा के दूतों के आगमन के प्रमाण मिलते हैं, लेकिन इस काल के उत्तरार्द्ध भाग मे स्थिति बदल गयी जिसके घातक परिणाम निकले । यदि दौत्य सबन्ध और सास्कृतिक आदान प्रदान बने रहते तो यह सूचना मिलती रहती कि महमूद गजनी के उत्तराधिकारी 1100 ईस्वी तक कितने दुर्बल हो गये थे । इस सूचना का लाभ उठाकर पंजाब से विजातीय तत्वो को बाहर निकाला जा सकता था । तुर्कों का मध्य एशिया से भारत की ओर प्रस्थान की सूचना भारतीय शासकों के पास पहुँच ही नहीं पाई थी । महमूद गौरी के भारत पर आक्रमण की सूचना किसी के पास नहीं थी और इसका दुष्परिणाम यह निकला कि भारतीय शासक संगठित नहीं हो पाये और वह एक एक कर छोटे छोटे राज्यों को जीतता चला गया ।

भारतीय समाज के सन्दर्भ में राजनीतिक चिन्तन पर विचार करने पर स्पष्ट होता

1-2. पद्रुफ बी वरगलवकर, वही पुस्तक, पृ 228

है कि सामाजिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक स्तर पर यहाँ जबर्दस्त एकता रही है। चाहे राजनीतिक दृष्टि से भारत में अनेक भाषाये एवं लिपियाँ रहीं हैं, लेकिन मूल तत्त्व की अभिव्यक्ति एक सी ही है। मानो कि सबकी जड एक ही है। एक प्रकार से यह समस्त वैदिक चिन्तन पर आधारित प्रतीत होता है। भारत के अधिकाश लोगों की पौराणिक वसीयत ही है। इस्लाम के आगमन पर हिन्दू धर्म और इस्लाम मे टक्कर हुई, लेकिन कालान्तर में दोनो मे समन्वय स्थापित होने लगा जो हिन्दू धर्म के भक्ति आन्दोलन और इस्लाम के सूफीवाद मे प्रतिलक्षित हुई। भारतीय चिन्तन मे वैदिक वैश्विक दृष्टिकोण उपनिषद् के दर्शन, बौद्ध, जैन, सिख, इस्लाम का समन्वय प्रतिम्बित होता है।[1] चिन्तन की निरन्तरता यहाँ की विशिष्टता रही है।

मध्ययुग में लगता है कि राजनीति भिन्न स्वरूप ले रही है, लेकिन कालान्तर मे परम्परा से जुडा इसका समन्वित स्वरूप प्रकट होता है। अकबर का दीनेइलाही इसी दिशा मे एक प्रयास है। ब्रिटिश काल मे राष्ट्रवाद का उदय परम्परागत एव आध्यात्मिक परिवेश लिये था। अरविन्द, विवेकानन्द, तिलक, गाँधी का इस सन्दर्भ मे उल्लेख करना प्रासंगिक होगा।

❑❑❑

1 वी आर मेहता, फाउन्डेशन्स ऑफ इन्डियन पॉलिटिकल थॉट, मनोहर पृ 3-4

भाग 2

4

मध्य युगीन राजनीतिक चिन्तन

परिचयात्मक अध्ययन

जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है कि प्राचीन और मध्य युग के बीच कोई वैचारिक आधार पर खेंची हुई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं है, लेकिन यह कहा जा सकता है कि मोटे तौर पर 8वीं शताब्दी तक का मुस्लिम प्रधान काल मध्य युग है। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि इस काल पर हिन्दू प्रभाव नहीं है। कई स्थानो पर इनमे टकराव है। कालान्तर मे यह टकराव समन्वय मे परिणित हो जाता है और फिर भी टकराव बना रहता है। एवर्ड लीविस ने आंशिक रूप से ठीक ही कहा है कि एक दूसरे से मिलने की प्रक्रिया पूरे मध्य युग तक चलती रही, अवधारणाओ और रीति रिवाजो मे सवाद चलता रहा और अन्ततोगत्वा वे एक दूसरे मे समा गयी[1], लेकिन पूर्ण रूप से नहीं समाई।

हर्षवर्धन हिन्दू काल का सबसे प्रतापी अंतिम राजा था। उसके प्रशासन की प्रशसा करते हुए एच.जी. कालिन्सन ने लिखा है कि हर्ष एक विशिष्ट पुरुष और भारत के महान शासको में उसका स्थान अशोक और अकबर के समान है। उसका विशाल साम्राज्य उसकी मृत्यु के बाद छिन्न-भिन्न होने लगा। हर्ष के बाद वृहतर भारत का ह्रास भी तेजी से प्रारम्भ हुआ। भारत इस समय दक्षिणी पूर्वी एशिया का एक बहुत वृहत और गौरवशाली राष्ट्र था। भारत के अनेक देशो के साथ व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध थे। जिन देशों से हमारे सम्बन्ध थे उनमे अरब, सीरिया, मिस्र, यूनान, रोम, ईरान, अफगानिस्तान, मध्य एशिया, तिब्बत, चीन, लंका, हिन्द चीन, चम्पा, कम्बोडिया (काम्बुज प्रदेश), जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली उल्लेखनीय हैं।

हर्ष की मृत्यु के उपरान्त भारत की राजनीतिक एकता को बड़ा झटका लगा और छोटे छोटे राज्यों में देश विभक्त हो गया। अरबों के उदय और भारत पर मुस्लिम आक्रमण ने भारतीय प्रभाव को क्षीण किया, अरब हिन्द महासागर की ओर बढ़े और उन्होंने लंका, जावा, बोर्नियो और सुमात्रा मे अपना प्रभाव जमाना प्रारम्भ किया, जिसके फलस्वरूप वहाँ व्याप्त भारतीय संस्कृति को आघात पहुँचा। भारत पर मुसलमानों का प्रथम आक्रमण

---

1. एवर्ड लीविस मिडियवल पोलिटिकल आइडियाज, लन्दन रटलेज 9

712 ई. में हुआ और फिर निरन्तर आक्रमण होने लगे। धीरे धीरे हिन्दुओं को मुसलमान बनाना प्रारम्भ हुआ और उनके अनेकानेक मंदिर धराशायी होने लगे। फिर मुस्लिम सत्ता स्थापित हुई जो अंग्रेजो के आगमन तक किसी न किसी रूप में बनी रही। यहाँ मंगोल आक्रमण का भी उल्लेख कर देना प्रासंगिक होगा। मध्य एशिया तथा दक्षिण पूर्वी एशिया के द्वीपों मे व्याप्त हिन्दू संस्कृति को उन्होने आघात पहुँचाया।

मुसलमान भारत में तीन झुण्डो मे आये। अरब व्यापारी और प्रचारक भारत में दक्षिण पश्चिमी तटों पर आये और बसने लगे। करीब करीब इसी समय मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध पर विजय हासिल की। फिर तुर्कों और अफगानों के आक्रमण हुए जिन्होने उत्तरी भारत पर विजय प्राप्त की और वहाँ वे बस गये। लेकिन भारत पर निर्णायक तीसरा वार मुहम्मद गजनवी और मुहम्मद गौरी (1174 - 1206) ने किया। गजनवी यहाँ अपना विशेष प्रभाव नहीं छोड पाया क्योंकि वह लूट खसोट कर वापिस चला गया। लेकिन मुहम्मद गौरी ने उत्तरी भारत के एक बहुत बडे भाग को जीत लिया। कुतुबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली को सल्तनत की राजधानी बना लिया जो सैकड़ों वर्षों तक मुस्लिम सत्ता का केन्द्र रही। प्राय इतिहासकार कासिम के सिन्ध विजय से लेकर मुगल साम्राज्य तक के पूरे काल को मध्य युग कहते हैं। यद्यपि डॉ. ताराचन्द इसे प्रारम्भिक मध्य युग और उत्तरार्द्ध मध्य युग कहते हैं। उनके अनुसार आठवीं से 13वीं शताब्दी तक प्रारम्भिक मध्य युगीन समाज है।[1] शासनों के उद्देश्यों, प्रशासन के क्षेत्र एवं राजनीतिक नियंत्रण की सीमा की दृष्टि से इतिहासकारों ने उत्तरार्द्ध काल को दिल्ली सल्तनत और मुगल कालों मे विभाजित किया है।[2]

मध्य युगीन हिन्दू भावना भक्ति आन्दोलन के रूप में प्रस्फुटित हुई। ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण इसका मूल मंत्र था। तुलसीदास का रामचरित मानस इस युग का विशेष उल्लेखनीय महाग्रन्थ है। सूरदास, रसखान, नामदेव, चैतन्य का भी विशिष्ट योगदान है। मौर्य और गुप्त साम्राज्य के पतन और हर्ष की मृत्यु के बाद बिखरे हिन्दू समाज को जोड़ने, संगठित करने का यह अनूठा भगीरथ प्रयास था। विदेशियों द्वारा आरोपित शासन प्रणाली और राज व्यवस्था मे सहभागिता के धूमिल स्वप्न से उत्पन्न निराशा से बचने का यह प्रबल और अर्थपूर्ण प्रयास था। पाशविक शक्ति और धोखेबाजी ने राजसत्ता पर सत्य, ज्ञान, विवेक और शुद्ध आचरण के लगे नियंत्रण नष्ट कर दिये।[3]

एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस्लाम का अधिकांश प्रभाव उत्तरी भारत में होने के कारण हिन्दू बौद्धिक गतिविधियाँ उत्तर से दक्षिण की ओर चली गयी।

---

1 डॉ. ताराचन्द इन्फ्लुएन्स ऑफ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर, इलाहाबाद।

2 जहीर मसूद कुरैशी पॉलिटिकल थॉट इन इण्डिया, इण्डियन कौंसिल ऑफ सोशल साइन्स रिसर्च पृ 89

3 वी आर मेहता, वही पुस्तक, पृ 89

फकीरो का इस्लामिक साहित्य के मुकाबले अधिक प्रभाव पड़ा। तमिल तेलगु मे महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हुईं।

उत्तरार्द्ध काल मे राजनीतिक चिन्तन का मूल आधार मुस्लिम चिन्तन ही रहा। इसका कारण यही था कि जिन्होंने केन्द्रीय सत्ता पर आधिपत्य बनाये रखा वे ईस्लाम के अनुयायी ही थे। चूँकि करीब करीब सभी मुसलमान यहीं के थे और बलात धर्म परिवर्तन के द्वारा मुसलमान बनाये गये थे। वे मिली जुली सस्कृति के वाहक बने जो कि मुख्यत. उत्तर भारत मे व्याप्त थी। शहरों और कस्बो में रहने वाले गैर मुस्लिम भी इस मिश्रित संस्कृति के प्रभाव मे थे।

जहीर मसूद कुरेशी[1] के अनुसार इस्लामिक समुदाय के राजनीतिक साहित्य की चार मुख्य परम्परायें थीं — प्रथम परम्परा विधिवेत्ताओं की थी, जिन्होंने शरियत को आधार बनाया। द्वितीय परम्परा मे वह साहित्य आता है जिसमें किसी राजनीतिक सिद्धान्त के आधार पर शासको को परामर्श दिया गया है। तीसरी प्रवृत्ति एक मात्र ऐतिहासिक समाज शास्त्री इब्न खाल्दुन की कृतियो मे मिलती है जिनमे अनेक आधुनिक विचार भी हैं। कुरेशी का मत है कि प्लेटो और अरस्तू का फलसफा के राजनीतिक चिन्तन से मुकाबला करना सम्भवत: इस्लाम का दर्शन को सबसे बड़ा योगदान है यद्यपि इस पर आम सहमति नही है। चौथा, हिन्दू धर्म और इस्लाम के संघर्ष के बावजूद दोनो ने एक दूसरे को प्रभावित भी किया है। बुद्धिजीवियों और अभिजन वर्ग के स्तर पर शरियत के राजनीतिक धर्मशास्त्र का प्राचीन भारतीय धर्म की अवधारणा के राजनीतिक पक्ष से सम्पर्क आया जिससे एक दूसरे की मूल भावना को समझने मे मदद मिली। जन साधारण के स्तर पर भक्ति और सूफीवाद कई स्थानों में समन्वय और कहीं कहीं संघर्ष भी नजर आया। सूफीवाद का जनसाधारण पर भक्ति आन्दोलन जितना व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा।

सच तो यह है कि मध्य युग के बिखरे हुए राजनीतिक चिन्तन और विचारों का अध्ययन प्राय· इतिहासकारों ने ही किया है। इनमें कुछ को इतिहासकार राजनीतिशास्त्री भी कहा जा सकता है। मुस्लिम इतिहासकारों ने शरियत को दृष्टिगत रखते हुए राज्य शासन और प्रशासन का अध्ययन किया। उनमे से कुछ ने राजनीतिक चिन्तन की पृष्ठभूमि के रूप में धर्मशास्त्रों को भी अध्ययन सामग्री बनाया। उनका विचार बना कि शरियत और धर्मशास्त्र अपने मे सम्पूर्ण हैं और दो व्यवस्थाओं के प्रतीक हैं। धीरे धीरे अनेक लेखको ने इन दोनो के आधार पर इनमे समन्वय स्थापित करने का भी प्रयास किया जिससे बाद मे मिलीजुली संस्कृति की पृष्ठभूमि के निर्माण में सहायता मिली। राजा राममोहन राय से लेकर मोहनदास करमचन्द गाँधी के चिन्तन पर इसका प्रभाव पड़ा है। स्वतंत्रता संग्राम में ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध संघर्ष हेतु हिन्दू मुसलमान को एक दूसरे के नजदीक

1. जहीर मसूद कुरेशी, वही लेख, पृ 90.

आने और एक समान उद्देश्य की प्राप्ति हेतु संगठित होने में मिली जुली संस्कृति की अवधारणा की महती भूमिका रही है। ब्रिटिश काल मे परकीय सत्ता द्वारा दोनो समुदायों में फूट डालो और राज करो की नीति अपनाने के कारण साम्प्रदायिक कटुता से विभक्त भारत के पुनर्जागरण की दिशा मे यह चिन्तन महत्त्वपूर्ण रहा है। धर्म निरपेक्षता, सर्वधर्म सम्भाव, सामाजिक बहुलवाद, धार्मिक सहिष्णुता आदि अवधारणायें स्वतंत्र भारत के पुनर्निर्माण हेतु किये जाने वाले प्रयासों में कारगर सिद्ध हुई हैं। मध्य युग की 'आत्मसात करने की प्रवृत्ति महत्त्वपूर्ण रही है। यद्यपि यह प्रवृत्ति अनेक बार अवरुद्ध रही है जिसमे साम्प्रदायिक तनाव बढा है, लेकिन इनके प्रभाव को नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता।

इस्लाम, राज्य, राजसत्ता एवं समाज

चूँकि मध्य युग मे केन्द्रीय सत्ता प्रधानतया मुस्लिम शासको के हाथ मे रही है अत इस्लाम के राजनीतिक दर्शन का संक्षिप्त अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। सभी शासकों ने न्यूनाधिक रूप से राज्य, शासन, प्रशासन और राजनीति में इस्लाम की सत्ता को स्वीकार किया है। अत यह अध्ययन और भी महत्त्वपूर्ण बन जाता है। इस युग मे मुस्लिम शासको ने इस्लाम को सर्वाधिक महत्त्व दिया यद्यपि कुछ अपवाद भी हैं। लेकिन इस्लाम को नकारने का साहस कोई भी नहीं जुटा पाया। दूसरे शब्दों मे, सैद्धान्तिक स्तर पर व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन इस्लाम द्वारा प्रभावित रहा है और कई शासकों ने इसको अमली जामा पहनाने का भी प्रयास किया है। यहाँ इस्लाम के मूल सिद्धान्तों और राज्य के बारे मे संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

अरबी भाषा में इस्लाम का अर्थ ईश्वर की आज्ञा पालना और शांति है। यह अल्लाह के प्रति पूर्ण समर्पण है। यह शांति का प्रतीक है, मस्तिष्क और शरीर की असली शांति केवल अल्लाह के प्रति पूर्ण वफादारी और समर्पण से ही सम्भव है। यह (अल्लाह की) आज्ञानुसार जीवन यापन है और इसी से दिल मे शांति प्राप्त होती है और सम्पूर्ण समाज में भी शांति की स्थापना होती है।[1]

इस्लाम के अनुसार ईश्वरीय कानून और प्राकृतिक कानून मे कहीं विरोध नहीं है और मुसलमान को चाहिये कि वह अपने लौकिक जीवन मे ईश्वरीय विधि को उतारे। संक्षेप में इस्लाम के मूलभूत सिद्धान्त निम्नलिखित हैं —

ईमान, रिसालत, नमाज, रोजा, जकात, हज और आखिरात इन सबका सार यह है कि ईश्वर एक है और मोहम्मद उनके पैगम्बर हैं। प्रत्येक मुसलमान को दिन मे पाँच

---

1 सैयद अबुल आला मौदूदी व्हाट इज इस्लाम, मरकजी मकतबा जमाते इस्लामी हिन्द, देहली, पृ 2-3 डॉ रेहाना सुल्ताना किदवई इस्लाम इन पॉलिटिक्स इन पाकिस्तान (अप्रकाशित पी एच डी थीसिस) में उद्धृत, पृ 2

बार नमाज अदा करनी चाहिये। उसे वर्ष मे एक महीने उपवास करना चाहिये। उसे अपनी आय का अढ़ाई प्रतिशत गरीबो को देना चाहिये। मक्का की जीवन में कम से से कम एक बार यात्रा अवश्य करनी चाहिये और आखिरी वक्त ईश्वर को अपने जीवन में किये गये कार्यों का लेखा जोखा देने के लिए तैयार रहना चाहिये।

इस्लाम में राज्य की कोई अवधारणा नहीं है केवल समाज पर ही जोर दिया गया है, लेकिन व्यक्ति और समाज के सम्बन्धो का निरूपण किया गया है। व्यक्ति के लौकिक जीवन को धार्मिक शिक्षाओ के अधीन लाया गया है और श्रेष्ठ जीवन के लिए समाज से भागने की आवश्यकता नहीं है। पारिवारिक और सामाजिक जीवन की परिधि में ही यह सब सम्भव है। इस्लाम व्यक्ति और समाज दोनो ही की गरिमा में विश्वास रखता है और दोनो मे समन्वय स्थापित करता है। वस्तुत व्यक्ति और समाज दोनो का उद्देश्य ही एक है। व्यक्ति के अधिकार हैं तो साथ मे कर्त्तव्य भी हैं। उसके सामाजिक उत्तरदायित्व भी हैं जो उसके अधिकारो की सीमा का निर्धारण करते हैं। इस्लाम समानता पर जोर देता है। कुरान मे वर्णित है अरे मनुष्य के पुत्रों तुम एक दूसरे से उत्पन्न हुए हो, तुम जातियों और कुनबों में विभाजित हो गये हो, लेकिन असल मे तुम हो एक ही परिवार के और तुम ऐसा ही अहसास करो। वस्तुतः तुम मे वे ही श्रेष्ठ हैं जो ईश्वर से डरते हैं।[1]

इस्लामिक राजनीतिक संगठन के तीन मुख्य आधार है —

(1) शरियत और सुन्ना

(2) खलीफा, और

(3) उम्मा

ये आधार इस प्रकार है। शरियत और सुन्ना पवित्र कुरान की ओर से निर्धारित आचरण और पैगम्बर द्वारा स्थापित एवं स्वीकृत परम्परायें है। खलीफा से अभिप्राय उस संस्था के प्रतिनिधि से है जिसमे धार्मिक एवं सियासी शक्तियाँ निहित हैं। उम्मा से अभिप्राय समाज अथवा जाति से है जिसके सदस्य अल्ला को मानने वाले हैं एवं सही रास्ते पर चलते हैं। वस्तुतः राज्य शरियत को कार्यान्वित करने के लिए है जिसमें खलीफा और उम्मा की अपनी अपनी भूमिकायें हैं।

कुरान लौकिक और आध्यात्मिक क्षेत्रो में अन्तर नहीं करती। इसका अर्थ यह हुआ कि राजनीति और धर्म में कोई अन्तर नहीं है। पवित्र कुरान ही राजनीति का स्रोत है यद्यपि राजनीति का कोई सर्वमान्य निर्धारित स्वरूप नहीं है। कुरान मे राज्य की कोई अवधारणा वर्णित नहीं है, केवल समाज का स्वरूप ही दिया हुआ है।[2] इस्लामिक राजनीति

---

1. कुरान अल हुजुरात 49-13 डॉ रेहाना सुल्ताना द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 32

2. कमरुद्दीन खान, स्टेट ऑफ दी स्टेट लाहौर, पृ 4

और प्रशासन के स्वरूप की व्याख्या कुरान मे वर्णित दो उदाहरणो द्वारा की जा सकती है।[1]

ईश्वर ने तुम्हे इस पृथ्वी पर उत्तराधिकारी बनाया है। तुममे से किन्हीं को अन्य लोगो की तुलना मे उच्च पदों पर भी बिठाया है। तुम ईश्वर द्वारा निर्धारित परीक्षा मे सफल सिद्ध हो।

यदि कोई तीन आदमी अपने को असमजस की स्थिति मे पाये तो उनमे से किसी एक को नेता चुने बिना उनका साथ रहना उचित नहीं है।

इसकी राजनीतिक शब्दावली मे इस प्रकार की व्याख्या की जा सकती है। एक व्यवस्थित समाज के बिना इस्लाम नहीं है, नेता के बिना समाज नहीं है और आज्ञा पालन के बिना नेतृत्व नहीं है। आदमियो का नेता शरीर मे आत्मा की भाति है।

यहाँ समाज, धर्म और नेता तीनो का समन्वय हो जाता है। दूसरे शब्दो मे, धर्म सर्वोपरि है और नेता के मार्गदर्शन मे समाज का सचालन इस प्रकार होना चाहिये जिससे धर्म के अनुसार आचरण हो सके। नेता का अस्तित्व ईश्वर सम्मत है। ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप मे स्वय पैगम्बर ने मदीना मे कबाइली व्यवस्था को एक राजनीतिक समुदाय का स्वरूप प्रदान किया और एक प्रकार से यही राज्य की उत्पत्ति का आधार बन गया। इस्लाम ने कभी सासारिक साकार की स्थापना पर बल नहीं दिया। यह अल्ला के मानने वालो पर छोड़ दिया गया कि वह कैसी व्यवस्था चाहते हैं जो कि कुरान के आदेश के अनुरूप हो। किसी सासारिक आदमी मे इतनी शक्ति नहीं कि वह कानून बनाये। इसलिये सम्प्रभुता अल्लाह में निवास करती है और कुरान ही सर्वोच्च विधि है।

चूँकि सम्प्रभुता अल्लाह में निवास करती है और कुरान ही सर्वोच्च विधि है अत सासारिक शासन निरंकुश नहीं हो सकता। वह कानून से ऊपर नहीं है। उसका कर्तव्य है कि वह कानून के मुताबिक ही काम करे, वह कानून से बंधा हुआ है। हजरत अबूबेकर ने जो मोहम्मद साहब के उत्तराधिकारी थे, अपने चयन के उपरान्त उपस्थित लोगों को कहा 'मुझे आप लोगों की सलाह और सहायता चाहिये। यदि मैं ठीक काम कर रहा हूँ तो मुझे समर्थन दीजिये। यदि मैं त्रुटि करता हूँ तो सलाह दीजिये। शासक को सच बोलना चाहिये और सत्य को छुपाना राजद्रोह है। मेरी नजर में शक्तिशाली और निर्बल समाज है और मुझे दोनों के प्रति न्याय करना है। जैसे मैं ईश्वर और उसके पैगम्बर की आज्ञा पालन करता हूँ वैसे तुम मेरी आज्ञा का पालन करो। यदि मैं ईश्वर और उसके पैगम्बर के कानूनों की अवज्ञा करता हूँ तो मुझे कोई अधिकार नहीं है कि मैं तुम्हें मेरी आज्ञा मानने के लिए कहूँ।'[2] उमर ने जो कि द्वितीय खलीफा थे, अपने साथियों को

1 डॉ रेहाना सुलताना द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 36

2. रफीक जकरीया व्हाट इज एन इस्लामिक स्टेट, वीकली आफ इण्डिया, दी टाइम्स ऑफ इण्डिया 24 अप्रैल, 1979

सम्बोधित करते हुए कहा कि 'मै तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि राज्य सचालन के बोझ को ढोहने मे हाथ बटाओ, जिसे तुमने मेरे कन्धो पर डाल दिया है। मैं तुम में से एक हूँ और इसलिये जो मै कहूँ उससे प्रभावित मत हो जाओ। तुम स्थिति को समझकर अपनी राय दो।'[1]

एक बार स्वय मोहम्मद ने अपने दो विश्वासी सहयोगियों अबु बेकर और उमर को कहा यदि तुम दोनो किसी एक बात पर सहमत हो तो मैं तुमसे असहमत नहीं हूँगा।

यह बहुत कुछ प्राचीन भारत के राजधर्म की अवधारणा से मिलता जुलता है।

अंत में हम प्रोफेसर कमरुद्दीन[2] द्वारा इस्लामिक राज्य के बारे मे दिये गये विचारों को प्रस्तुत करते हैं —

1. पवित्र कुरान या सुन्ना मे मुसलमानो को राज्य की स्थापना करने का कोई आदेश नहीं है।
2. पवित्र कुरान या सुन्ना में संवैधानिक विधि या राजनीतिक सिद्धान्त का कोई प्रावधान नहीं है, वह शान्तिमय है।
3. पैगम्बर मोहम्मद ने एक राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना अवश्य की, लेकिन यह उनका ध्येय नहीं था, यह तो ऐतिहासिक परिस्थितियो की उपज थी।
4. इस्लाम का राजनीतिक सिद्धान्त कुरान या सुन्ना पर आधारित नही है बल्कि पैगम्बर के साथियो की सहमति एवं खलीफाओं के अमल पर आधारित था। यह ऐतिहासिक परिस्थितियो मे उत्पन्न हुआ था और इसलिये इसके पीछे कोई धार्मिक मान्यता नहीं है।
5. प्रतिनिधित्व, हस्तान्तरण एवं दैविक सप्रभुता केवल काल्पनिक है। इनका कुरान या सुन्ना मे कोई आधार नहीं है।
6. राज्य समाज की केवल एक गतिविधि है और इसके लिए अनिवार्य नहीं है।

अतः इस्लामिक समाज राज्य के साथ या राज्य के बिना भी कार्य कर सकता है। भारत, श्रीलंका, सोवियत यूनियन, बर्मा, थाईलैंड, फिलीपीन्स एवं अनेक अफ्रीकी देशों मे बहुत बड़ा मुस्लिम समुदाय रहता है। इन देशो मे इस्लाम केवल धार्मिक आन्दोलन के रूप मे कार्य कर सकता है न कि राजनीतिक शक्ति के रूप मे।

---

1 रफ़ीक जकरिया. व्हाट इज एन इस्लामिक स्टेट, दी एडीकिस दैट उमर बिल्ट, दी टाइम्स ऑफ इन्डिया 25 अप्रेल, 1979.

2. प्रो कमरुद्दीन. इस्लाम एज ए होलसदी, दि हिन्दू, 13 अगस्त, 1980

7 इस्लाम का ध्येय महत्वपूर्ण और सुपरिभाषित मूल्यों के आधार पर अपने ढग की सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना है । कोई भी मुसलमानो द्वारा स्थापित राज्य जो समाज मे इन मूल्यो का निर्माण करता है, इस्लामिक राज्य है, चाहे इसका ढाँचा या प्रकार कैसा भी हो ।

8 कुरान इन मूल्यो को बताती है, न कि राज्य के ढाचे को ।

9 स्थाई इस्लामिक सविधान जैसी कोई वस्तु नहीं है । इस्लामिक राजनैतिक सिद्वान्त बदलता और विकसित होता रहता है ।

सार रूप मे यह कहा जा सकता है कि इस्लाम का शास्त्रीय सिद्धान्त पैगम्बर और उनके बाद खलीफाओ के इर्दगिर्द अवस्थित है जिनमे लौकिक और आध्यात्मिक दोनो ही प्रकार की शक्तियाँ निहित थी । इन्होने उस आधारशिला की स्थापना की जिसके अनुसार समाज का जीवन सचालित होने को था । यद्यपि इनका मुख्य कार्य आध्यात्मिक था, लेकिन लौकिक पक्ष को इससे पृथक् नहीं किया जा सकता था ।

इस प्रकार ये लोग शासक, न्यायाधीश और सेनाध्यक्ष सभी कुछ थे । शुद्ध इस्लाम एक प्रकार से शास्त्रीय हिन्दू धर्म से मिलता जुलता है क्योंकि हिन्दू धर्म भी लौकिक जीवन को आध्यात्मिकता के अधीन करता है । लेकिन दोनो मे एक बडा अन्तर भी है । जहाँ इस्लाम एक ही व्यक्ति मे समस्त शक्तियाँ केन्द्रित कर देता है वहाँ हिन्दू धर्म ये कार्य दो भिन्न प्रकार के समुदायों को देता है । ब्राह्मण आध्यात्मिक नेता होने के कारण यद्यपि क्षत्रिय से ऊपर है, लेकिन वह सासारिक मामलो मे हस्तक्षेप नहीं करता । इस प्रकार हिन्दू धर्म शक्तियो के विभाजन के पक्ष मे है और एक दूसरे के कर्तव्य (धर्म) मे हस्तक्षेप करने के विरुद्ध है ।

संप्रभुता की अवधारणा

जैसाकि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि इस्लामिक सप्रभुता की अवधारणा यह है कि इसका निवास अल्लाह में है । इसके मूल मे यह है कि सब मनुष्य बराबर हैं और इसलिये बादशाह भी सप्रभु नहीं हो सकता क्योंकि वह भी एक मनुष्य ही तो है । प्राकृतिक कानून जिस पर इस्लाम कई अर्थो मे आधारित भी है यह करता है कि सभी मनुष्य एक ही तरीके से जन्मते और मरते हैं । प्राकृतिक कानून शाश्वत कानून भी है और यह कुरान की अनेक आयतो में प्रतिलक्षित होता है । मनुष्य कहीं भी रहे, किसी भी देश और जलवायु मे रहे, इतिहास के किसी भी काल मे रहे, एकसा ही है । इस प्रकार इस्लाम एक ही झटके में जाति, रंग, देश, जलवायु के भेदभाव के बिना सभी को समान घोषित करता है ।

स्वयं पैगम्बर ने 7 मार्च 632 ई मे प्रसिद्ध विदाई के सदेश मे मुसलमानो के एक बडे जलसे को सम्बोधित करते हुए कहा कि आज के बाद एक अरब और गैर

अब के मध्य कोई अन्तर नहीं होगा और न उनमें कोई छोटा या बड़ा होगा। इस्लाम ने आचरण संबन्धी कुछ सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया जिनके अनुसार छोटे से छोटा आदमी भी जीवन में उच्चतम स्थान प्राप्त कर सकता है। इस्लाम द्वारा निर्धारित समाज वर्गविहीन होगा, अंतर केवल उन लोगो में ही होगा जो सही और गलत रास्ते पर चल रहे हैं।[1] इकबाल[2] लिखते हैं कि मुसलमानों की हर गतिविधि मे यह समानता व्याप्त है। नमाज पढ़ते समय भी खलीफाओ या उनकी सन्तानो के लिए कोई अलग स्थान निर्धारित नहीं किया जाता है। उपवास करते समय अमीर और गरीब दोनों ही भूख की पीड़ा को सहते हैं। मक्का की यात्रा हज करते समय भी सभी हजारों, हजारों लोग बिना सिले एक समान साधारण कपड़े के टुकड़ों में रहते हैं। जकात धनवानो द्वारा अर्जित लाभ मे गरीबों को मिलने वाली राहत है।

कहने का अर्थ यह है कि जब सभी मुसलमान बराबर हैं तो संप्रभुता मनुष्य में कैसे रह सकती है। जान आस्टिन की संप्रभुता की परिभाषा है कि यह उसमें निवास करती है जो निश्चित रुप से मनुष्यो में सर्वश्रेष्ठ है और जो अन्य किसी उच्च की आज्ञापालन करने का आदी नही है और जिसकी आज्ञा की समाज स्वभावतः ही पालना करता है। चूँकि स्वार्थलिप्सा के कारण मनुष्य सत्ता का दुरुपयोग करेगा और इससे समाज मे असमानता फैलेगी इसलिये संप्रभुता किसी मनुष्य मे निवास कर ही नहीं सकती। प्रत्येक मनुष्य चाहे वह राजा ही क्यों न हो, उन सभी नियमों और कानूनों के अधीन है जो कुरान और पैगम्बर ने निर्धारित किये हैं। कुरान ने स्पष्ट किया है कि केवल ईश्वर ही सप्रभु है क्योंकि वह ही न्यायप्रिय और दयालु है और सभी दुर्बलताओं से ऊपर है। मनुष्य ऐसा हो ही नहीं सकता।

सत्ता के हस्तान्तरण या अल्लाह के प्रतिनिधि होने की अवधारणा इस्लाम में नही है। इसलिये कहा गया है कि इस्लाम में राज्य की अवधारणा नहीं है, लेकिन कुरान और पैगम्बर की शिक्षाओ के आधार पर विद्वानो ने अपने ढंग से इस्लामिक राज्य और संप्रभुता के सिद्धान्त को परिभाषित करने का प्रयास किया है। यहाँ भी विचारक दो भागों मे बँट गये हैं। जो रुढ़िवादी विचारक हैं उनका कथन है कि ईश्वरीय सत्ता हस्तांतरित की ही नहीं जा सकती और इसलिये राजा कोई हो ही नहीं सकता। पुरातन इस्लाम राजा के पद को स्वीकार ही नहीं करता। इसका अर्थ कुछ लेखकों ने यह लगाया कि इस्लाम गणतंत्रीय राज व्यवस्था का समर्थक है, लेकिन व्यवहार में यह बात भी खरी नहीं उतरती। अधिकांश मुस्लिम देशों मे या तो राजतंत्र सेना द्वारा समर्थित राजतंत्र या सैनिक

1-2 हारुन खान शेरवानी: मुस्लिम पोलिटिकल थॉट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ 197.

तंत्र है। पाकिस्तान में सेना की सर्वोच्च भूमिका रही है। इसने जब चाहा प्रत्यक्ष रूप से सत्ता संभाल ली और जब चाहा असैनिक शासन को बर्दाश्त किया।

राजसत्ता के बारे में दूसरा दृष्टिकोण यह है कि अल्लाह स्वयं तो पृथ्वी पर आकर शासन करता नहीं इसलिये वह अपनी सत्ता मनुष्यों को प्रदान कर देता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि इसके आधार पर राजा कुछ भी करे, इसका अर्थ यह भी नहीं है कि यह कोई दैविक सिद्धान्त है जिसका उल्लेख पश्चिमी राजनीतिक दर्शन में मिलता है। इसको इस प्रकार समझना ज्यादा उचित प्रतीत होता है– ईश्वर ने सांसारिक शासक को यह आदेश दिया है कि वह प्राकृतिक विधि के अनुसार आचरण करे, प्रजा की भलाई करे। ऐसा करने पर ईश्वर उसे सफलता प्रदान करेंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि सासारिक शक्ति का शासक उपभोग करे, लेकिन उसे कुछ सिद्धान्तों के अनुसार ही आचरण करना पड़ेगा और इसमे उसे कोई छूट नहीं है। ये सिद्धान्त हैं — मानव समानता, इसानियत, केन्द्रीकरण, अनुशासन, विनम्रता, आत्म त्याग और अनेक अन्य गुण जो कुरान मे वर्णित हैं।[1] इसके अनुसार राजतंत्र पूर्णतया प्रतिबंधित नहीं है, लेकिन उसका आचरण कुरान सम्मत होना आवश्यक है। प्रथम खलीफा ने अपनी मृत्यु शैय्या पर घोषित कर दिया था कि उन्होंने समाज के लिए एक वालि नियुक्त कर दिया है इसको कुरान में प्रदत्त इस सिद्धान्त के प्रकाश में समझा जाना चाहिये। ईश्वर की आज्ञा मानो, पैगम्बर की आज्ञा मानो, और तुममें जिसके पास (सांसारिक) सत्ता है उसकी आज्ञा मानो। इसका अर्थ यह भी हुआ कि समाज अपने मुखिया को चुनने में समर्थ और स्वतंत्र है। लेकिन कई विद्वान इस बात से सहमत नहीं हैं। इससे यह उलझन बनी रहती है कि राजतंत्र अथवा प्रजातंत्र में से कौनसी पद्धति इस्लाम के सिद्धान्त के अनुरूप है।

जहाँ तक सम्पत्ति के अधिकार का प्रश्न है, इस्लाम ने बड़े बड़े प्रतिबन्ध लगाये हैं। राजनीतिक अथवा व्यक्तिगत अधिकार के रूप में सम्पत्ति की अवधारणा इस्लाम के अनुकूल नहीं है। इस्लाम के अनुसार सारी सम्पत्ति ईश्वर की है, जिसका अर्थ हुआ कि समाज की है और व्यावहारिक दृष्टि से शासक केवल उसका ट्रस्टी मात्र है, स्वामी नहीं। यह उन सब पर लागू होता है जो राजनैतिक सत्ता के धारक हैं। पैगम्बर ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों मे कहा है कि वह केवल कोषाध्यक्ष और वितरण करने वाले हैं, यह तो ईश्वर स्वयं है जो देता है। जब पैगम्बर की बेटी फातिमा ने अपने आराम के लिए कुछ वस्तुओं की माँग की तो उन्होंने कहा क्या मैं तुम्हें ये चीजें देकर मैं मेरे साथियों को नजर अन्दाज कर दूँ और उन्हें भूख से तड़पने दूँ।[2]

शेरवानी[3] लिखते हैं कि वह व्यक्ति जो करीब करीब सारे अरब के ही स्वामी

---

1 हरुन खान शेरवानी, वही पुस्तक, पृ 199

2-3 हरुन खान शेरवानी द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 200

थे वसीयत के रूप में उनके पास न एक दिनार था न दरहम था, न एक ऊँट या गुलाम ही, न एक स्त्री या पुरुष ही। मृत्यु के समय उनका कोट भी किसी यहूदी को तीन दरहम में गिरवी रखा हुआ था। यह समझना कठिन हो जाता है कि पैगम्बर ने क्यों साधारण से साधारण कपड़ा पहना, क्यो साधारण से साधारण खाना खाया और क्यो अत्यन्त साधारण व्यक्ति का जीवन जिया जबकि उनके पास इतने बड़े राज्य की सर्वोच्च सत्ता थी। ऐसा किसी ने भी नही किया। यह सब ही समझ में आता है जबकि उनके विश्वास को समझे कि जो कुछ उनका है वह ईश्वर का ही है और वह तो एक मात्र इसके ट्रस्टी हैं।

क्या इस्लामिक राज्य एक धर्म सापेक्ष राज्य है, इस पर चर्चा सार्थक लगती है। यह बात सही है कि इस्लामिक राज्य एक धर्म प्रधान राज्य है और इसका धर्म इस्लाम है। पाकिस्तान एव अन्य कई राज्यों में राज्याध्यक्ष केवल मुसलमान ही हो सकता है और अधिकाश उच्च पदों पर मुसलमान ही आसीन हैं। धर्म सापेक्ष राज्य से अभिप्राय ऐसे राज्य से है जिसमे सत्ता ईश्वर मे केन्द्रित है और उसके नाम से उलेमा, पादरी अथवा पुरोहित वर्ग तथा राजा मनमाने ढंग से शासन करते हों। उस धर्म विशेष का ग्रन्थ ही सब विधियों एवं कार्यकलापो का स्रोत माना जाता है। उस ग्रन्थ की परिभाषा अथवा किसी मुद्दे पर स्पष्टीकरण का अधिकार केवल उलेमा को ही होता है। प्राय इस वर्ग और शासक के मध्य तालमेल हो जाता है और दोनों मिलकर प्रजा पर निरंकुश होकर शासन करते हैं। जहाँ तक इस्लामिक राज्य का प्रश्न है यह स्पष्ट है कि यह धर्म सापेक्ष ही है। यह भी सही है कि इसकी आड मे उलेमा और शासक की मिली भगत ने इस्लाम के नाम पर जो चाहा सो किया है, अल्पसंख्यकों पर कहर ढाया है, मानव अधिकारों की हत्या की है और मनमाने कानून बनाये हैं। लेकिन इसका सैद्धान्तिक पक्ष आकर्षक भी लगता है। शेरवानी[1] के अनुसार जिसको राजनीतिक सत्ता दी गयी उसे कुरान में निहित शाश्वत सिद्धान्तो को स्वीकारना पड़ेगा और पैगम्बर के आदेशानुसार आवाम के लिए अच्छे कार्य करने होंगे। यदि शासक के हृदय में प्रजा की भलाई हो, न कि निजी स्वार्थ तो वह निर्धारित सीमाओं से आगे बढ़कर कानून भी बना सकता है और अन्य कोई कार्यवाही भी। यह पैगम्बर और उनके उत्तराधिकारियो के सार्वजनिक जीवन से स्पष्ट है। मदीना मे स्थापित राज्य की गतिविधियों और विधि निर्माण के विस्तृत क्षेत्र से स्पष्ट है कि राज्य की शक्तियाँ कितनी व्यापक हैं। स्वयं पैगम्बर ने अपने साथियों से कहा कि सांसारिक मामलो में संभवत: वे ज्यादा समझते हैं। उनके उत्तराधिकारियों ने कुरान के इन आदेशों का पूरा लाभ उठाते हुए परामर्शदात्री समितियाँ बना दीं जिनमें बुद्धिमान और जाने माने मुसलमान सम्मिलित होते थे, राज्य संबन्धी महत्त्वपूर्ण मुद्दे उनके सामने रख दिये जाते थे और बहस के उपरान्त निर्णय ले लिये जाते थे।

1. हरून खान शेरवानी वही पुस्तक, पृ 201.

वैसे यह सिद्धान्त आकर्षक अवश्य है, लेकिन व्यवहार में प्राय: इसका उल्टा हो जाता है। जनता की भलाई किसमें है और इसका निर्णायक कौन है, जनहित की दुहाई देने वाला शासक निरंकुश बनकर अत्याचार करने लगे तो उस पर क्या नियंत्रण है, इसका उत्तर यहाँ नहीं मिल पाता है। कुरान और पैगम्बर की शिक्षाओं के अर्थ को उलेमा ही परिभाषित करेंगे न कि कोई विद्वान, यह एक खतरनाक दिशा है जो अनेक विकट समस्याओं को जन्म देती है। धर्मनिरपेक्ष राज्य अनैतिक हो सकता है यह प्राय. कहा जाता है, लेकिन धर्म सापेक्ष राज्य नैतिक है यह भी तो नहीं कहा जा सकता।

मौलिक ग्रन्थ

शुक्रनीति सार, कामन्दक नीतिसार एवं नीति वाक्यामृत के बारे मे पहले ही लिखा जा चुका है। अत· यहाँ मध्य युग में रचे गये अन्य ग्रन्थों के बारे में कुछ जानकारी प्रस्तुत की जा रही है। युक्ति कल्पतरु कोई विशेष महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ नहीं है। यह परमार वंश के राजा भोज को समर्पित है जो कि 11वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में थे। पुस्तक के प्रथम अध्याय में नीति के महत्त्व को दर्शाया गया है और कहा गया है कि जो राजा नीति का अनुसरण नहीं करता, नष्ट हो जाता है। दूसरे और तीसरे अध्याय मे अधिकारियों की योग्यता आदि के बारे में और संपन्न कोष का उल्लेख है। चौथे अध्याय में सेना और पाँच से लेकर तेरहवें अध्याय तक विदेश नीति और युद्धकला के बारे में वर्णन है। चौदहवे अध्याय में न्याय, कानून और दण्ड के बारे में वर्णन मिलता है। पन्द्रहवे, सोलहवें और सत्रहवें अध्यायों में दुर्गों के बारे में उल्लेख है।

एक प्रकार से यह पुस्तक अनेक बातों का उल्लेख नहीं करती। राज्य के प्रशासनिक यंत्र एवं केन्द्रीय सचिवालय के संचालन के बारे में इसमें विशेष सामग्री नहीं है। करों के बारे में भी यह मौन है और प्रांतीय, जिला एवं ग्राम प्रशासन का भी इसमें उल्लेख नहीं मिलता।

फक्रे मुदाविद की अदब हल हरब वाश शुजा पुस्तक शमसुद्दीन इल्तुतमिश को समर्पित है और इसकी विषय सामग्री युद्ध और लोक प्रशासन से संबद्ध है। अबबतमुन्क का कियाफत अलमुलुक राजकौशल और वितीय प्रशासन पर एक लघु पुस्तिका है। मिथिला के एक मंत्री चन्देश्वर द्वारा संस्कृत में लिखित राजनीति रत्नाकर भी है। नसरुद्दीन मुहम्मद अल तुसी द्वारा राजनैतिक ज्ञान पर लिखित अखलाक नसीरी है जो कि 1274 मे लिखी गयी थी। सैयद अली अमदानी ने राजनीतिक आचार संहिता पर एक पुस्तक लिखी जिसका नाम जकीरात अल मुल्क है। हुसैनअली कशाफी की अखलाकए मुहसनी भी उल्लेखनीय है। अब्दुल हमीद मुहरिर गजनवी ने प्रशासन पर दस्तूर अल अलबाब फिइल्म अलहिसाब नाम से पुस्तक लिखी। सातवीं शताब्दी में लिखी गयी एक संक्षिप्त पुस्तक मुजिजाए जहाँगिरि का भी उल्लेख किया जा सकता है जिसके रचयिता मुहम्मद बकिर नज्मेसानि

है। इसमें राजनैतिक और नैतिक ज्ञान के बारे में वर्णन है। नरुद्दीन मुहम्मद काजी खकानी ने भी अखलाकए जहांगिरि की रचना की और यह जहांगीर को समर्पित की गयी।[1]

मुगलकाल का राजनीतिक और प्रशासन पर सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ जियाउद्दीन बर्नी द्वारा लिखा गया फतवाए जहाँदारी है।

मध्य युगीन राजनीतिक चिन्तन से सम्बन्धित मौलिक एवं अन्य ग्रन्थ सीमित ही हैं। इस काल में धार्मिक उन्माद, बलात धर्म परिवर्तन, युद्ध, अराजक स्थिति, सत्ता संघर्ष, विकृत राष्ट्र और राज्य का स्वरूप, देश का छोटी छोटी राजनैतिक इकाइयों में विभक्तिकरण आदि इसके मुख्य कारण रहे हैं।

यहाँ मुख्य पुस्तकों और लेखों का वर्णन किया जा रहा है :-

यू. एन. घोषाल — हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पोलिटिकल आइडियाज, दि एंसियन्ट पीरियड एण्ड दी पीरियड ऑफ ट्रांजीशन टू दि मिडिल एजेज (आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, मुम्बई)

ताराचन्द — स्टेट एण्ड सोसाइटी अन्डर दि मुगल्स इन इण्डिया

युसुफ हुसैन — इण्डो मुस्लिम पोलिटी टर्को अफगान पीरियड (इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज, शिमला)।

के. ए. निजामी — सम एसपेक्ट्स ऑफ रिलिजन एण्ड पोलिटिक्स इन दि थर्टीथ सेन्चुरी, एशिया, मुम्बई।

आर. सी. मजूमदार — (सम्पादित) दी हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इण्डियन पीपुल वोल्यूम-5 दि देहली सुलतानेट

एस. ए. ए. रिज़वी — मुस्लिम रिवावलिस्ट मुवमेंटस इन नार्दन इण्डिया इन दि सिक्स्टीन्थ एण्ड सेवनटींथ सेन्चुरीज।

टी. ए. निजामी — मुस्लिम पोलिटिकल थॉट एण्ड एक्टीविटी इन इण्डिया, ड्यूरिंग दि फस्ट ऑफ दि नाइन्टींथ सेंचुरी (अलीगढ़)

एस. के. राय एण्ड के. फ्रांसिस — सुधा पोलिटिकल थॉट, एंसियन्ट एण्ड मिडियवल, फुल व्यू एट ए ग्लांस सुधा पब्लिकेशन्स न्यू दिल्ली।

मोहिबुलहसन (सम्पादित) हिस्टोरियन्स ऑफ मिडियवल इण्डिया, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ।

---

1 बशीर मसूद कुरेशी, पोलिटिकल थॉट इन मिडियवल इण्डिया पोलिटिकल थॉट वोल्यू 4, इण्डियन कौंसिल ऑफ मेडिकल सांस रिसर्च, एलाइड पब्लिशर्स, दिल्ली, पृ 91-92.

आर. पी. त्रिपाठी — सम एसपेक्ट्स ऑफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन (किताब महल, इलाहाबाद)

आर. पी. त्रिपाठी — दि स्टेट एण्ड रिलिजन इन मुगल इण्डिया (इण्डियन पब्लिसिटी सोसायटी, कलकत्ता)

सी. वी. वैद्य — हिस्ट्री ऑफ मिडियवल, हिन्दू इण्डिया (पूना)

एन. वी. काने — हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्राज, (पूना)

एस के. शेरवानी – अरली मुस्लिम पोलिटिकल थॉट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन (अशरफ, लाहौर)

प्रोफेसर जहीर मसूद कुरेशी का कथन है कि मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन पर उपरोक्त पुस्तकों के अलावा और भी बहुत सामग्री है, लेकिन यह बिखरी पडी है और विशुद्ध राजनीति अथवा लोक प्रशासन के शीर्षकान्तर्गत लिखी हुई नही है। राजा, नवाब उनके सलाहकार, विधिवेत्ता, सूफी, उलेमा और साहित्यकार जीवन और कर्म से ज्यादा जुडे हुए थे और विशुद्ध राजनीतिक चिन्तन उनकी प्राथमिकता नहीं थी। मध्ययुगीन भारत मे राजनीतिक इतिहास भी लिखे गये, लेकिन या तो वे राजा के सभासदों द्वारा अथवा राजा को प्रसन्न करने के लिए लेखकों द्वारा लिखे गये। ये अधिकांश राजाओं और सम्राटों की प्रशंसा मे लिखे गये हैं जिनमें सामान्य लोगों की स्थिति, उनकी आकांक्षाओं और संघर्ष पर रोशनी नहीं मिलती। राजा, नवाब, उनके सलाहकार, विधिवेत्ता सूफी उलेमाओं आदि तत्कालीन परिस्थितियो एवं उनसे उत्पन्न चुनौतियों मे उलझे हुए थे और जीवन में सफलता प्राप्त करना उनका उद्देश्य था, न कि जीवन की शाश्वतता और निरा आदर्शवादी चिन्तन। राजनीतिक चिन्तन स्वय मे स्वायत्तता लिए हुए नहीं था। यह व्यावहारिक जीवन से जुड़ा हुआ था जिसमें धर्म, दर्शन, लौकिक समस्याओ, शासकों का अंतर्द्वन्द्व, शासन के समक्ष चुनौतियाँ आदि सभी निहित थीं। सही बात तो यह है कि मध्ययुग मे राजनीतिक विचारक नहीं हैं बल्कि ये इतिहासकार अथवा जीवनी लेखक हैं और ये भारत की राजनीतिक परम्परा से कटे हुए भी थे। एक प्रकार से मध्य युग मे आते आते राजनीतिक चिन्तन की निरन्तरता टूट सी गयी।

राजनीतिक चिन्तन पर ध्यान केन्द्रित न होकर राजनीतिक प्रक्रियाओ और प्रशासन पर अवश्य अपेक्षाकृत अधिक विचार हुआ है। तुर्की और मुगल सम्राटो के समक्ष राजनीतिक समस्याएँ उत्पन्न हुई जिनके समाधान के लिए उन्होने प्रशासन पर अधिक ध्यान दिया जो विद्वानो के अध्ययन की सामग्री भी बना। इसी अध्ययन मे राजनीतिक चिन्तन भी कहीं कहीं उभर कर आया। उदाहरणार्थ ईश्वर टोपा की पुस्तक पालिटिक्स इन प्री मुगल टाइम्स में देहली सल्तनत के दौरान राजतंत्र की अवधारणा का भी वर्णन मिल जाता है। इसमें बलबन, कैकुबाद, जलालुद्दीन खिलजी, अलाउद्दीन खिलजी,

गयासुद्दीन तुगलक, मोहम्मद तुगलक एवं फीरोज तुगलक से संबन्धित प्रसंग है। इसी प्रकार चंदेश्वर के राजनीति रत्नाकर के बारे में भी कहा जा सकता है। पोलिटिकल आइडियाज ऑफ चंदेश्वर – एक मिडियवल इण्डियन पोलिटिकल थिंकर के शीर्षकान्तर्गत एस. के. कर्मशील के लेख का भी उल्लेख किया जा सकता है। नुरुल हसन की "शेख अहमद सिरहिन्दी एण्ड मुगल पालिटिक्स का भी यहाँ उल्लेख किया जाना प्रासंगिक है। इसी प्रकार के. ए निजामी द्वारा लिखित शाह वलि उल्लाह देहलीव एण्ड इण्डियन पालिटिक्स एन एटीन्थ सेन्चुरी" में भी शाह के राजनीतिक विचारों का अच्छा वर्णन है। एक विद्वतापूर्ण लिखी गयी अन्य पुस्तक वलि उल्लाह और उनकी सियासी तहरीक[1] का वर्णन करना भी यहाँ आवश्यक है। इसके लेखक उबेदुल्ला सिन्धी हैं और यह उर्दू में लिखी गयी है।

कुछ रचनाओं जिनमें अधिकांश लेख हैं जिक्र किया जा सकता है। प्रो जे. एस. बेन्स के लेख पालिटिकल आइडियाज ऑफ गुरु नानक और पालिटिकल आइडियाज ऑफ गुरु गोविन्दसिंह, फौजासिंह द्वारा लिखित पोलिटिकल आइडियाज ऑफ सिक्ख, ड्यूरिंग एटींथ एण्ड नाइन्टींथ सेंचुरीज का भी उल्लेख किया जा सकता है।

❑❑❑

1. जहीर मसूद कुरेशी. पोलिटिकल थॉट इन मिडियवल इंडिया, पृ 97-98.

5

मध्य युग के प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक

बर्नी

जियाउद्दीन बर्नी को मध्य युग का सर्वाधिक प्रभावशाली और व्यवस्थित राजनीतिक विचारक माना जाता है। उन्होंने राज्य शासन कला और प्रशासन पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की थी जो फतवाइ जहाँदरी के नाम से प्रसिद्ध है। प्रो. वी. आर मेहता[1] के अनुसार सम्पूर्ण काल में राजनीतिक चिन्तन पर अन्य कोई दूसरी पुस्तक नहीं है जिसमे चिन्तन की इतनी गहराई हो। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हे प्लेटो और अरस्तू के राजनीतिक दर्शन का अच्छा ज्ञान था और साथ ही इस्लाम के मौलिक तत्त्वो की अन्तर्दृष्टि भी।

बर्नी को भली प्रकार समझने के लिए आवश्यक है कि उनकी पृष्ठभूमि पर विहंगम दृष्टिपात किया जाय। उनके समय मे इस्लाम भारत में अपनी जडे ढूंढने का प्रयास कर रहा था। भारतीय धर्मों और विशेष तौर पर ब्राह्मणवाद से उसका सीधा संघर्ष हो रहा था। उनकी कृतियों में हिन्दू धर्म पर प्रहार है, लेकिन वह उसकी महत्ता को भी समझ रहे थे। उनका मानना था कि ब्राह्मणवाद एक शक्ति है और जब तक एक भी ब्राह्मण है इसे नष्ट नहीं किया जा सकता। बर्नी पर तत्कालीन उथल पुथल और शक्ति के बल पर इस्लाम फैलाने की शासको की मंशा से उत्पन्न वातावरण का प्रभाव है। उन्होने शक्ति के बल पर इस्लाम के प्रचार प्रसार को बौद्धिक समर्थन दिया और हिन्दू धर्म के गूढ दार्शनिक तत्त्वों से मुकाबला करने हेतु इस्लाम को भी दार्शनिक ढांचे में प्रस्तुत किया। उनकी कृतियो में अरस्तू, प्लेटो की कृतियो के साथ ही साथ फारस के लेखको का भी उल्लेख किया गया है।

उनके विचारों का अध्ययन करने के पूर्व उनके जीवन और समय का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराना प्रासंगिक होगा।

जीवन परिचय

ख्वाजा जियाउद्दीन बर्नी के जीवन में बहुत उतार चढ़ाव आये। उनके समय

---

1 वी आर मेहता, वही पुस्तक, पृ 131

की घटनाओ, उनके प्रति होने वाले व्यवहार और जीवन के संध्याकाल में हुई उनकी दुर्दशा उनके ग्रन्थों में भी परिलक्षित होती है। यद्यपि वह उच्च खानदान के थे, जीवन के अनेक वर्षों तक वह ठाट बाट से भी रहे, लेकिन उनका जिस प्रकार दुखद अंत हुआ उसे देखकर ड्राइडन की ये पंक्तियाँ सहसा याद आती है और उन पर ठीक उतरती भी है —

"मुझे यह नहीं मालूम है कि किस प्रकार यह तथ्य व्यक्त होता है कि इतिहासकार जिन व्यक्तियों को अमरत्व प्रदान करते हैं, आने वाले जगत से उन्हें सम्यक् पुरस्कार प्राप्त नही होता और उनके कार्यों एव उनके महत्त्व को प्राय· विस्मृत कर दिया जाता है। न तो जगत के लोगो ने उन्हे जीवन काल मे ही प्रोत्साहित किया और उनकी स्मृति को ही पूर्ण रूप से आने वाले समय के लिए जीवित रखा। यह मनुष्य जाति की अपने अति विद्वान उपकारियों के प्रति, जो हममें विवेक संचार अपने निश्चित ढंग द्वारा करते है – घोर कृतघ्नता है। वे सदैव निर्धन और प्रतिष्ठाहीन जीवन निर्वाह करते हैं जैसे कि उनका जन्म केवल लोक उपकार के लिए ही हुआ हो और जैसे उनको अपने कल्याण एवं योग क्षेम से कोई सरोकार ही न हो, साथ ही वे मोमबत्ती की तरह अपने क्षय और दूसरो के हित के लिए प्रकाशवान होते है।[1]

बर्नी देहली के प्रसिद्ध चिश्ती फकीर हजरत निजामुद्दीन औलिया के शिष्य, अमीर हसन संजरी और अमीर खुसरो के मित्र थे। वह बादशाह मोहम्मद तुगलक के 17 वर्षों तक नादिम सलाहकार रह चुके थे। शेख बर्नी के पिता मोईदुलमुल्क, जलालुद्दीन फीरोजशाह खिलजी के ज्येष्ठ पुत्र अर्क अलीखाँ के नायब थे। माता के पक्ष की ओर से कैथाल के एक प्रसिद्ध सैय्यद परिवार से बर्नी जुड़े हुए थे। बर्नी प्रारम्भ से ही प्रतिभाशाली थे। इसका एक बड़ा सबूत यह है कि उन्होने जलालुद्दीन खिलजी की सभाओं का बड़ा सजीव, रोचक और हृदयस्पर्शी वर्णन किया है जबकि जलालुद्दीन की हत्या के समय बर्नी की आयु केवल तेरह वर्ष की ही थी।

बर्नी की संभवत: 74 वर्ष की आयु मे मृत्यु हो गयी थी और आखिरी वर्षों में उनकी मनोदशा का संक्षिप्त वर्णन उन्ही के शब्दो में किया जा रहा है[2] —

"मैं जो असफलता के रेगिस्तान (मरुभूमि) में एक पथभ्रष्ट वृद्ध व्यक्ति हूँ, मेरे लिये अब जीवन की कुछ ही सांसे बाकी हैं — यद्यपि 60 वर्ष व्यतीत हो चुके परन्तु फिर मुझे ऐसा अनुभव होता है कि जैसे मैं शोक से अपने वस्त्रो को फाड़ रहा हूँ और अपनी दाढ़ी और सिर के बालो को नोच रहा हूँ तथा उनकी कब्रों के समीप दुःख से

---

1. शेख अब्दुर्रशीद ख्वाजा जिया उलमिल्लतवदीन. जियाउद्दीन बर्नी (एक अध्ययन), इतिहास विभागीय प्रकाशन, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ पृ. 1
2 शेख अब्दुर्रशीद ख्वाजा जियाउलमिल्लतवदीन: जियाउद्दीन बर्नी, पृ 7.

जान दे रहा हूँ। अफसोस हजार मेरे उस अफसोस अतीत पर – और अब मैं एक वृद्ध अंधा, असहाय, निर्धन, मेरे पास खाने को कुछ भी नहीं अपितु पछतावे के और अपनी अपूर्ण इच्छाओं के अतिरिक्त मेरे पास कुछ भी नहीं, परलोक ले जाने के लिए ...... ।"

वर्नी की रचनायें[1]

अमीर खुर्द के अनुसार बर्नी ने इन पुस्तकों की रचना की थी —

1. सनाये मोहम्मद
2. सलबाते कावरी
3. इनायत नामा
4. माआसरे सादात
5. बर्मकियों का एक इतिहास

लेकिन जिसके कारण बर्नी एक सुप्रसिद्ध इतिहासकार के रूप मे प्रतिष्ठित हुये वह है तारीखे फीरोजशाही। उसका दूसरा ग्रन्थ जिसका वर्णन अमीर खुर्द की सूची में नहीं है फतवाइ जहाँदारी थी।

सर सैय्यद अहमद खाँ ने तारीखे फीरोजशाही का सम्पादन किया था। इस पुस्तक में एक लम्बी भूमिका भी है जिसमें बर्नी ने इतिहास के अध्ययन के लाभ बताये हैं। स्वयं बर्नी ने बताया है कि उन्होंने प्राचीन ग्रन्थो का अध्ययन कर एवं पर्याप्त चिन्तन और मनन के उपरान्त ही उपरोक्त ग्रन्थ की रचना की है। तफसीर, हदीस, फिका, तरीकत के साथ ही साथ इतिहास में बर्नी की विशेष रुचि थी। स्वयं बर्नी के शब्दों में, मैंने अपने आप को ग्रन्थों के अध्ययन के निमित्र समर्पण किया है तथा मैंने प्राचीन और नवीन हर एक विषय के बहुत ग्रन्थों को पढ़ा और टिप्पणी के पश्चात प्रार्थनाओं, ईस्वर ज्ञान और सन्तों के सिद्धान्तों के अतिरिक्त मुझे इतिहास से अधिक लाभदायक अन्य कोई विषय नहीं लगता।[2]

बर्नी ने तारीखे फीरोजशाही उस समय लिखी जबकि वह गरीबी से जूझ रहे थे और उनके पराभव के करीब छः वर्ष बीत चुके थे। ऐसी परिस्थितियों में मानसिक संतुलन बनाये रखकर तथ्यों का संकलन एवं विवेचन करना एक चुनौतीपूर्ण कार्य था जिसे बर्नी ने बखूबी सम्पन्न किया है। फिर भी तारीखे फीरोजशाही में अनेक कमियाँ एवं त्रुटियाँ रह गयी हैं जिसका एक मुख्य कारण यह था कि बर्नी की स्मरण शक्ति नष्ट हो रही थी।

बर्नी का राजनीतिक चिन्तन

बर्नी अपने विचारों में सार्वभौमिक और मध्ययुगीन दोनों ही हैं। सर्वप्रथम हम

1. शेख अब्दुर्रशीद, वही पुस्तक, पृ 12.
2. शेख अब्दुर्रशीद, वही पुस्तक, पृ 13

उनके उन विचारों का अध्ययन करें जिन्हें हम सार्वभौमिक कह सकते हैं। उनके इन विचारों मे विवेक, ज्ञान, शास्वतता, प्रगतिशीलता, संवेदनशीलता, वैधानिकता परिलक्षित होती है। बर्नी इन विचारो मे प्लेटो और अरस्तू से प्रभावित प्रतीत होते हैं। उनका सबसे बडा जोर न्याय पर है। उनका स्पष्ट मत है कि राज्य का सबसे बडा कार्य न्याय की स्थापना करना है। उनका कथन है कि आदम के जमाने से लेकर आज तक यदि हम प्राचीन और वर्तमान काल के सभी समुदायों को लें तो उनका एक ही मत है कि धर्म की प्रथम आवश्यकता न्याय और न्याय की प्रथम आवश्यकता धर्म है।[1] पुन: यदि पृथ्वी पर न्याय और नैसर्गिक अधिकार नहीं होंगे तो व्यक्तिगत सम्पत्ति नष्ट हो जायेगी और हर समय और हर स्थान पर अव्यवस्था फैल जायेगी। गरीबों, असहायों की सहायता करना राज्य का कर्तव्य है। प्लेटो की ध्वनि में बर्नी कहते हैं कि यदि राजाओं ने शक्तियों को केवल अपनी इच्छाओं की पूर्ति हेतु प्रयोग मे लिया तो वे अन्ततोगत्वा सही और गलत में अन्तर करने की क्षमता खो देंगे।[2]

बर्नी राज्य को एक स्वाभाविक संस्था मानते हैं और कहते हैं कि लोगों का राज्य में रहना आवश्यक है। यहाँ उनके विचार यूनानियों से मिलते हैं जो कि राज्य को स्वाभाविक और आवश्यक मानते थे। वह मानते हैं कि इस संसार में सत्य और असत्य दोनों ही हैं। असत्य के कारण समाज भ्रष्ट हो जाता है और लोगों को वेदना सहनी पड़ती है। सत्य से च्युत होने पर राजा न न्याय कर पाता है और न ही जनता की भलाई ही। अनैतिक व्यक्ति को शासन करने का अधिकार नहीं है। बर्नी राजा को नैतिकता के दायरे में बाँध देते हैं और यहाँ तक कहते हैं कि उसके सार्वजनिक और निजी जीवन मे कोई अन्तर नहीं होना चाहिये।

शराब, आमोद-प्रमोद और अय्यासी का राजा के जीवन में कोई स्थान नहीं है। दूसरे शब्दो में कानून और नैतिकता के स्थापित मापदण्ड के समक्ष सभी समान हैं और चाहे छोटा हो या बड़ा उसे छूट नहीं दी जा सकती।

यह विचार प्राचीन भारत की धर्म की अवधारणा से काफी मिलता जुलता है। यहाँ बर्नी के विचारो मे थोडी सी असंगति है। उन्होंने यह भी कहा है कि राजा के व्यक्तिगत पाप क्षम्य भी हैं यदि वह प्रजा को शरियत के रास्ते पर चलाता है और वह स्वयं इस्लाम के आदर्शों की अनुपालना करता है। लेकिन कुल मिलाकर बर्नी का जोर न्याय और सत्य की स्थापना पर ही रहता है।

बर्नी ने निरंकुश शासन को अस्वीकृत किया है। शासन अत्याचार तब ही करता है जबकि उसके मन में पाप है और वह सत्ता को अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रयोग में लाता है।

---

1. बर्नी, फतवा जहाँदारी पृ 32, वी. आर. मेहता (वही पुस्तक) द्वारा उद्धृत, पृ 134.
2. वी आर मेहता (वही पुस्तक), पृ 135.

ऐसा शासन शैतान का घर है और इससे राजा के प्रति जनता की घृणा बढ़ती है और नतीजा दुर्भाग्य और विपदापूर्ण होता है। इसलिये बर्नी ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि *अच्छा राज्य वह है जो धर्म की रक्षा करे और प्रजा के लिये लोककल्याणकारी कार्य* करे। मध्य युगीन बर्बरता, स्वेच्छाचारिता, निरकुशता के युग मे ये विचार ताजा हवा की तरह हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं लिया जाना चाहिये कि बर्नी वैधानिक राजतत्र, कुलीनतत्र या लोकतत्र या लोकप्रिय सरकार की वकालत करते हैं। ये सब कुछ समवत उनके चिन्तन मे ही नहीं था। वह एक स्वस्थ, श्रेष्ठ और लोकहितकारी राजतत्र की बात कर रहे है जो धर्म की रक्षा करे और प्रजा को धर्माचरण की ओर प्रवृत करें। लेकिन यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जहाँ हिन्दू चिन्तन मे धर्म की अवधारणा अत्यन्त व्यापक है, यह कोई धर्म विशेष बौद्ध, जैन अथवा हिन्दू धर्म नहीं है, यह मानव धर्म है। यह कर्तव्य है, यह विशुद्ध नैतिक आचरण है जबकि बर्नी के लिए धर्म केवल इस्लाम ही है। इस्लाम से परे या इसके बिना उनका चिन्तन नहीं जाता, सार यह है कि बर्नी के राजनीतिक चिन्तन के मूल मे इस्लाम है।

बर्नी ने इस्लाम के मूल मे वह तत्त्व पाये जिनके आधार पर राज्य और प्रशासन अपनी श्रेष्ठता की ऊँचाइयो को प्राप्त करते हैं। उन्होने माना कि न्याय के बिना कानूनो मे स्वेच्छाचारिता परिलक्षित होती है। दूसरे शब्दो में, बर्नी ने यह बताने की कोशिश की कि कुरान के विरुद्ध आचरण ही अत्याचार है। इसका मतलब यह हुआ कि कुरान का मूलमत्र ही न्याय की स्थापना करना है। केवल न्याय ही अत्याचार और दमन की मजबूत जजीरो को तोड सकता है।[1] सत्य को पहचानने और दमन, क्रूरता, चोरी लूट का पर्दाफाश करने के लिए न्याय का होना आवश्यक है। लगता है कि बर्नी प्लेटो के न्याय के सिद्धान्त से बहुत प्रभावित हैं लेकिन इसके अन्य पहलू जैसे पत्नियों और सम्पत्ति का साम्यवाद *इस्लाम विरुद्ध होने के कारण त्याज्य है।*

ये कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं जो सार्वभौमिक कहे जा सकते हैं। लेकिन बर्नी अपने परिवेश से भी बंधे हुए हैं। ऐसा लगता है कि परिवेश उन पर बहुत हावी है। इस कारण उनके चिन्तन का सौन्दर्य धूमिल हो जाता है। जैसा कि कहा भी जा चुका है कि उनके चिन्तन के केन्द्र मे इस्लाम है और इस्लाम के नाम से होने वाले सभी कृत्यों को वह उचित भी ठहरा देते हैं। उदाहरणार्थ इस्लाम शांति, सौहार्द्र, प्रेम, त्याग सिखाता है, लेकिन हिंसा और क्रूरता को लेकर इस्लाम के प्रचार प्रसार को बर्नी ने उचित ठहराया है। वह हिन्दुओं और विशेष तौर पर ब्राह्मणों के विरुद्ध जहर उगलते हैं। वह कुरान के अलावा किसी ग्रथ को स्वीकार ही नहीं करते और यहाँ तक कह देते हैं कि विज्ञान को पढ़ाने की आवश्यकता नहीं है।

---

1 वी आर मेहता (वही पुस्तक), पृ 134

उनके अनुसार कुरान, पैगम्बर की शिक्षायें एवं इस्लामिक कानून ही पढ़ाने योग्य हैं। उनका कथन यह है कि इस्लाम के परम्परागत ज्ञान के विपरीत जो भी है वह निरर्थक है। सही धर्म केवल इस्लाम है और इसलिये मुस्लिम राजा का यह कर्तव्य है कि वह इस्लाम की सर्वोच्चता स्थापित करे और नास्तिकों एवं भारत के नेताओं को जो कि ब्राह्मण हैं नष्ट कर दे।[1] ऐसा लगता है कि वह केवल मुसलमानों के लिए ही शासन सिद्धान्त प्रतिपादित कर रहे हो। न्याय सिद्धान्त की बात करते हुए वह कहते हैं कि शायद यह पूर्ण रूप से प्राप्त करना सम्भव न हो। यहाँ फिर वह अपने परिवेश से ऊपर नहीं उठ पाते जबकि वह कहते हैं कि राजा इन तीन बातों में कहीं कहीं न्याय के मार्ग से अलग भी जा सकता है। ये है — (1) नास्तिकों पर बलात इस्लाम लादना, (2) राज की रक्षा और (3) अपने वफादारों को पारितोषक देना।[2]

यहाँ वह पुन न्याय के सार्वभौमिक तत्त्व को भूल रहे हैं जबकि वह ये छूट दे रहे हैं। राजा को वह बहुत बड़ी स्वतन्त्रता दे रहे है जिसका दुरुपयोग अवश्यभावी है। सच तो यह है कि बर्नी के दिमाग मे केवल इस्लामिक राज्य है।

प्रो वी. आर. मेहता[3] का कथन है कि बर्नी ने भारतीय राजनीतिक चिन्तन मे पहली बार अधिकारो के संदर्भ में व्यक्ति की अवधारणा को स्थापित किया। वह मानते हैं कि ऐसे अधिकारो की स्वीकृति ही राज्य का आधार है और यदि राजा लोगों के अधिकारो को मान्यता नहीं देता है तो उसका राज्य नष्ट हो जायेगा। वह पत्नी, बच्चों, पुराने मित्रों, शुभ चिन्तको, पुराने नौकरो, गुलामों और राज्य के चुनिन्दा लोगों के अधिकारों का उल्लेख करते हैं।[4] बर्नी के चिन्तन मे धर्मनिरपेक्षता का बोध होता है। लेकिन यह अत्यन्त सीमित है।

प्रो. मेहता का यह कथन कि वह पहली बार भारतीय राजनीतिक चिन्तन में व्यक्ति के अधिकारो की अवधारणा प्रतिष्ठापित करते हैं, मध्य युगीन भारतीय चिन्तन के संदर्भ मे सही है। प्राचीन भारतीय चिन्तन तो व्यक्ति की स्वतंत्रता का पोषक है। चिन्तन इतना उदात्त है कि मनुष्य को सत + चित + आनन्द की प्राप्ति का अधिकार प्रदान करता है। यह तब ही सभव है जबकि वह बंधनमुक्त हो। सच तो यह है कि बौद्धिक स्तर पर प्राचीन भारतीय चिन्तन व्यक्ति को अपरिमित स्वायतता प्रदान करता है। उसके लिए कोई चीज अंतिम नहीं है, न कोई ग्रन्थ अंतिम है और न ही कोई गुरु या शास्ता। गौतम बुद्ध कहते हैं "आत्मदीपो भव" आप अपने दीपक स्वयं बनो। महावीर का अनेकान्तवाद भी इसी की उद्घोषणा करता है। अतः प्राचीन भारतीय चिन्तन की मनुष्य को प्रदत्त

---

1. वी. आर. मेहता (वही पुस्तक), पृ 133.
2-3-4 वी. आर मेहता (वही पुस्तक), पृ 136

अधिकारों की अवधारणा अद्भुत है, इसकी तुलना मध्य युग से करना निरर्थक है। वैसे स्वय मेहता इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि बर्नी द्वारा वर्णित न्याय की अवधारणा एक धर्म सापेक्ष राज्य की है जिसका उपयोग धर्म (इस्लाम) की रक्षा और धार्मिक युद्ध (जिहाद) हेतु किया जाना चाहिये।[1]

यहाँ प्रो. मेहता का यह कथन भी कि बर्नी के चिन्तन में धर्मनिरपेक्षता का भी बोध होता है चर्चा का विषय बन जाता है। वैसे धर्म सापेक्ष राज्य मे प्रजा के अधिकारों की बात करना ही तर्कसगत नहीं लगता। ऐसा एक राज्य धर्म विशेष को ही महत्व देगा और उस धर्म की व्याख्या भी मौलवी, पादरी, पुरोहित वर्ग ही करेगा, व्यक्ति तो इस सारी जटिल व्यवस्था रूपी मशीन का पुर्जा बनकर रह जाता है। उसके अन्त.करण की आवाज तो धार्मिक ग्रन्थो, मौलवियों, पादरियो और पुरोहितो की व्याख्याओं और तथा-कथित प्रदर्शको की वाणी के नीचे दब जाती है। इसका मतलब यह हुआ कि अधिकार वही है जो उस धर्मग्रन्थ में लिखे हुए हैं, प्राय: सभी धर्मग्रन्थो में कर्त्तव्य और उपदेश ज्यादा लिखे हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मानव का जन्म किसी पाप के कारण हुआ है और मोक्ष के लिए न जाने इस संसार मे उसे कितनी यातनाये सहनी पड़ती हैं। मोक्ष तो पता नहीं होगी या नहीं, लेकिन यह जन्म तो उसका जंजीरों से जकड़ा गया। फिर जो किसी धर्म विशेष का मतावलम्बी नहीं है उसका क्या हश्र होगा। दमनतंत्र उस पर टूट पड़ेगा। धर्मसापेक्ष राज्य मे प्राय: यही होता है। फिर एक और भी बात है। बर्नी समानता की अवधारणा में विश्वास नहीं करते। उनका मानना है कि यद्यपि सब लोग शक्ल में एक से लग सकते हैं लेकिन चरित्र में भिन्न हैं। यह असमानता ईश्वर द्वारा ही बनाई गयी है। बर्नी की निम्न जातियो के प्रति घृणा थी। उन्हीं के शब्दों मे निम्न लोगों को प्रश्रय देने से संसार को कोई लाभ नहीं है क्योंकि विधाता की बुद्धिमता के विरुद्ध कार्य करना मूखर्तापूर्ण हठधर्मी है। बर्नी ने बलवन की इस बात के लिए प्रशंसा की कि उसने सदा कुलीन लोगों को ही उच्च पद दिये।[3] बर्नी ने मोहम्मद तुगलक की इस बात पर आलोचना की कि यद्यपि वह निम्न जातियो से नफरत करता था, लेकिन फिर भी उसने उनमें से अनेकों को उच्च पद दे दिये। जहाँ तक संभव हो वह हिन्दुओं को भी उच्च पद देने के पक्ष मे नहीं थे चाहे वे कुलीन वंशीय ही क्यो न हों। बर्नी स्वयं में आश्वस्त थे कि शरियत के शाब्दिक पठन के अनुसार हिन्दुओं का अपमान या वध भी किया जा सकता है, लेकिन सुलतान को राज्य के हित मे सोच कर नीति बनानी चाहिये और इसके लिए आवश्यक नहीं कि शरियत के मुताबिक ही चला जाय। उन्होंने

1-2. दी आर मेहता, वही पुस्तक, पृ 136

3 इरफन हबीब बर्नीज थ्योरी ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ देहली सल्तनत, दि इण्डियन हिस्टोरिकल रिव्यू, पृ 107. इंडियन कौंसिल ऑफ हिस्टोरिकल रिसर्च, जुलाई 1980 से जनवरी, 1981.

अपनी पुस्तक साहिफाईनातई मुहम्मदी में इल्तुतमिश के मंत्री निजाम मुल्क जुनाइदि को उद्धृत किया है जिसमे कहा गया है कि मुसलमानो की संख्या इतनी कम है जैसे कि खाने में नमक। अतः उनका धर्म परिवर्तन या वध करने से तो समाज में आग लग जायेगी जिसको काबू नहीं किया जा सकेगा।[1]

बर्नी धीरे धीरे इस राय के बनते जा रहे थे कि हिन्दू लोग सल्तनत की राजनीतिक व्यवस्था से जुड़ते जा रहे थे। यह ध्यान देने योग्य बात है कि बर्नी ने मोहम्मद तुगलक की इस बात के लिए आलोचना नहीं की कि बादशाह हिन्दू और हिन्दू धर्म के प्रति सहिष्णु बनते जा रहे थे, जिसके लिए उन्हीं के समकालीन इतिहासकार इस्लामी ने सुलतान के सिर की माँग कर ली थी।[2]

बर्नी की राजनीतिक दृष्टि

बर्नी वस्तुतः इतिहासकार हैं लेकिन उन्होंने इतिहास को एक राजनीतिक दृष्टा की तरह भी देखा है। देहली सल्तनत का राजनीतिक इतिहास उनकी दृष्टि में तीन विशिष्ट प्रवृत्तियों को लिये हुए है ––

1. सुलतान की निरंकुश शक्तियों मे वृद्धि,
2. अधिकाधिक आतंक का प्रयोग एवं
3. उच्च वंशीय वर्गों एवं सुलतान के सभासदों की परिषद के गठन में क्रमिक परिवर्तन।

निम्न वर्गों के कुछ लोगों को सभासदों की परिषद में सम्मिलित किये जाने पर बर्नी बहुत क्रुद्ध थे। उच्च वंशीय परिषद में निम्न जाति के लोगो का सम्मिश्रण मोहम्मद तुगलक के समय अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था, जिसकी बर्नी ने भर्त्सना की है। वह हिन्दुओं को उच्च स्थान दिये जाने के भी विरोधी रहे हैं।

बर्नी ने अलाउद्दीन खिलजी की इस बात पर आलोचना की है कि उसकी प्राथमिकताओं में निजी स्वार्थ, अत्यधिक धन संग्रह एवं विलासिता थी। बर्नी को इस बात की चिन्ता थी कि निरंकुश राजाओं ने सत्ता की प्राप्ति और भोग में सभी नियमों, धार्मिक शिक्षाओं और यहाँ तक कि कुरान द्वारा निर्धारित आयामो का ताबड़तोड़ उल्लंघन किया है।

वह बलबन को उद्धृत करते हैं। सांसारिक मामलों मे राजा ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है और राजाओं के हृदय में ईश्वर की दृष्टि का निवास होता है, लेकिन राजाओं द्वारा व्यावहारिक धरातल पर ऐसा न करने पर क्रुद्ध होकर कहते है कि "राजा की सत्ता

1.-2 हसन हबीब, वही लेख, पृ 112.

धोखा और प्रदर्शन मात्र है। यद्यपि बाहर से यह आकर्षक लगती है, लेकिन अन्दर से खोखली एव घृणास्पद है। राजसत्ता आतक, शक्ति एवं एकाधिकार है। सप्रभुता ईश्वर प्रदत्त न होकर पाशविक शक्ति द्वारा स्थापित एव ऐतिहासिक प्रक्रिया की उपज है।[1]

शासक वर्ग की दीर्घकालीन सफलता के पीछे निहित स्वार्थी तत्वो (जिन्होने राजस्व को भोगा है) का सगठित प्रयास है और इसको प्रबल समर्थन निरंकुश राज सत्ता से प्राप्त हुआ है। बर्नी के शब्दो मे निरकुश राजसत्ता ही सरकार और प्रशासन को स्थिरता प्रदान करने का एक मात्र साधन बन गया है।[2]

बर्नी निरकुश राज सत्ता और उससे उत्पन्न होने वाले दुष्परिणामो से व्यथित है और राजसत्ता पर नियत्रण लगाते हैं। वह राजाओ द्वारा परसियन बादशाहो की नकल करने की भर्त्सना करते हैं चूंकि वे खुदा के विरुद्ध आचरण करने वाले है।

सार रूप मे हम बर्नी के राजतंत्र की अवधारणा को यहाँ प्रस्तुत करते हैं। मोहम्मद हबीब और खलीक अहमद निजामी[3] के अनुसार ध्यान से देखने पर पता चलता है कि उसने राजतत्र की दो अवधारणाये दी हैं। प्रथम अवधारणा परम्परा पर आधारित है। वह यह है कि राजा पापी है जिसे इस ससार मे ऐसा काम करना पड रहा है जिसकी अनुमति कुरान और पैगम्बर नहीं देते। यदि वह बर्नी द्वारा निर्धारित मापदण्डो के मुताबिक चले तो उसका स्थान सतो और पैगम्बरो में होगा। यह तो एक ऐसी बात हो गयी कि मुस्लिम डाकू एक अच्छा डाकू है और उसे ईश्वरीय आशीर्वाद भी प्राप्त है यदि वह गैर मुसलमान को लूटता है और धर्म की रक्षार्थ अपनी आय का बडा हिस्सा दान में दे देता है और अपने कार्यों मे धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करता है।

यह अवधारणा यह भी है कि राजा इस पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि भी है। वह एक प्रकार से ईश्वर की परछाई भी है। उसके एवं उसके सलाहकारों के मस्तिष्क ईश्वरीय प्रकाश से आलोकित होते हैं।

इस अवधारणा की तीसरी बात यह है कि राज्य का शासन करते समय राजा परस्पर विरोधी गुणों से प्रभावित होता है। जब वह ईश्वर की भांति शासन करता है तो वह उसके बराबर होने का दावा करता है जो कि कुरान के मुताबिक अक्षम्य पाप है,

---

1 हरफान हबीब बर्नीज थ्योरी ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ दि दिल्ली सल्तनत, दि इण्डियन हिस्टोरिकल रिव्यू पृ 104

2. तारीखे फीरोजशाही, पृ 29, इरफान हबीब द्वारा उद्धृत।

3 पलिटिक्स एण्ड सोसाइटी ड्यूरिंग दी अरली मिडियवल पीरियड, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली पृ 359-363

लेकिन प्रशासन हेतु ये विरोधी गुण होना आवश्यक भी है। अत: उसे अपने हृदय मे प्रायश्चित करते रहना चाहिये और निरन्तर ईश्वर से क्षमा माँगते रहना चाहिये।

परम्परा पर आधारित इस अवधारणा के लिए बर्नी को दोषी मानना भी उचित नहीं है। यह अवधारणा प्रचलित धार्मिक मान्यताओं से ओतप्रोत है। राजा पापी है और उसे निरंतर ईश्वर से क्षमा माँगते रहना चाहिये– यह अपराध बोध पर आधारित है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि राजा को प्रशासन के सचालन में पाप और अन्याय करना पड़ता है। इसलिये ईश्वर से क्षमा माँगते रहना चाहिये। ईश्वर से क्षमा माँगना बुरी बात नहीं है। लेकिन प्रशासन चलाना एक अनैतिक कार्य है। यह एक खतरनाक सिद्धान्त है। दूसरी दृष्टि से देखने पर यह हास्यास्पद भी लगता है कि राजा अन्याय और पाप भी करता जाय और ईश्वर से माफी भी माँगता जाय। इसके स्थान पर यह मानना ज्यादा सकारात्मक है कि राजा को समाज के हित मे न्यायपूर्वक कार्य करना चाहिये। यदि राज्य कार्य मे निष्ठा, ईमानदारी और सेवा भाव होगा तो राजा अपराध बोध से मुक्त होकर, ज्यादा उत्साह पूर्वक कार्य कर सकेगा।

राजतत्र के सबन्ध मे बर्नी द्वारा प्रतिपादित दूसरी अवधारणा यह है कि राजा का पद सामाजिक व्यवस्था और विशेष तौर पर न्याय के कार्यान्वयन हेतु जरूरी है। मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु एक केन्द्रीकृत कार्यपालिका होनी चाहिये जिसके पास आदेश देने की शक्ति हो।

इस्लाम के अनुसार समाज में श्रमिक हो जिन्हे श्रम के एवज मे वेतन मिले, न कि गुलाम आश्रित श्रम। मध्ययुगीन परिस्थितियो में राजा के अधीन केन्द्रीकृत राजसत्ता के महत्त्व को ही स्वीकारा गया।

इसी विचार मे राजा की महती शक्तियाँ निहित है। राज्य के अस्तित्व एव उसके संचालन मे शारीरिक शक्ति का अत्यधिक महत्त्व है और इसलिये एक विशाल सुसज्जित सेना राज्य की प्रथम आवश्यकता है। राजा को कानून बनाने का भी अधिकार होना चाहिये और अत्यन्त आवश्यक होने पर वह शरियत के विपरीत भी जा सकते है।[1]

बर्नी वस्तुत. राजतन्त्र का संस्थानीकरण करना चाहते थे। वह राजा को कानून निर्माण एवं प्रशासन संचालन की शक्ति देने के पक्षधर है। लेकिन राज सत्ता के निरंकुश उपयोग के भी वह विरुद्ध हैं। राजा की परिषद सभी राज कार्यों का स्वतत्रतापूर्वक विवेचन कर अपनी राय राजा को दे। यदि परिषद कोई सर्वसम्मत राय बनाती है तो राजा को उसे मान लेना चाहिये। यदि उनमें मतभेद हो तो उन्हें दुबारा पुन: उस मसले पर राय करनी चाहिये।

---

1. मोहम्मद हबीब एवं खलीक अहमद निजामी, वही पुस्तक, पृ 302.

बर्नी बहुत अल्पमत की बात नहीं कहते क्योंकि वस्तुतः मंत्रिपरिषद एक मनोनीत सस्था ही तो है। अतः राजा के लिए बर्नी कोई आदेश देने के पक्ष में नही हैं। मध्य युग में इस प्रकार की परिषद गठित ही नहीं की गयी। राजा के परामर्शदाता हुआ करते थे जो कि वस्तुत. सहायक जैसे ही होते थे। बर्नी ने अनेक सुलतानों के शासनकालों को नजदीक से देखा था।

भूमि राजस्व एवं अन्य कई मामलो मे अलाउद्दीन खिलजी मजलिसे खास से परामर्श किया करता था, लेकिन कालान्तर में उसने यह परामर्श करना छोड़ दिया। मुहम्मद तुगलक बहस के माध्यम से अपने विरोधियो को निरुत्तर कर दिया करता था। जलालुद्दीन खिलजी अवश्य मजलिस से परामर्श किया करता था, लेकिन वे प्रायः उसके दरबारियों की भांति अधिक व्यवहार करते थे। सुलतान प्रायः उनके मामलों मे हस्तक्षेप किया करता था और अपना निर्णय ही थोप देता था जिसके परिणामस्वरूप मजलिस कभी अपना निर्णय नहीं ले पाती थी। अन्य शासको के बारे में भी यही है कि वे अपने मर्जीदानो से प्रभावित होते रहते थे, लेकिन अन्ततोगत्वा होता वही था जो वह चाहते थे।

अपने समय के शासको के निरंकुश व्यवहार से क्षुब्ध होकर बर्नी ने प्रस्तावित किया कि राजा की परिषद को अर्द्ध स्वतंत्र संस्था बना दिया जाना चाहिये ताकि बादशाह पर नियंत्रण लगाया जा सके। लेकिन प्रशासन की अंतिम जिम्मेदारी राजा की होने के कारण उसके परिणाम भी उसी को भोगने पडते थे। यह ध्यान देने योग्य बात है कि 1200 से 1357 के बीच दिल्ली सल्तनत के सत्रह सुलतानों में से दस को या तो मार डाला गया, जहर दे दिया गया था या जेल में जीवन लीला समाप्त करने के लिए बाध्य किया गया। चूंकि परिषद अपने द्वारा लिये गये निर्णयो के लिये जिम्मेदार नही होती थी अत· केवल बादशाह ही अच्छाई या बुराई के लिए जाना जाता था। वस्तुत. सत्ता भी उसी के हाथ में रहेगी, जिसकी अंतिम जिम्मेदारी होगी।

बर्नी यद्यपि राजतंत्रवादी हैं, लेकिन इसका एक और दोष भी बताते हैं। उनके अनुसार बादशाह अपने विरोधियों को जबर्दस्त दण्ड देता है जो कि एक प्रकार का राजनीतिक प्रतिशोध है।

बर्नी का कथन है कि खलीफाओ का शासन कुरान या पैगम्बर सम्मत न होकर एक प्रकार के प्रजा के साथ किए गये समझौते पर आधारित है। कुरान में अथवा पैगम्बर के आदेशो में कहीं भी सरकार की आज्ञा मानने या नहीं मानने का प्रावधान नहीं है। बर्नी ने देहली सल्तनत के 95 वर्षों के अध्ययन में यह पाया कि राजा कितने क्रूर, नीच और स्वार्थी थे। इस बात का बर्नी को बहुत ही दुख था। केवल गयासुद्दीन तुगलक में अवश्य संवेदनशीलता थी जिसने अलाउद्दीन खिलजी की व्यवस्था को बिना आतंक और क्रूरता के बनाये रखा। बर्नी ने एक इतिहासकार के नाते बलबन के शासन काल से प्रारम्भ होने वाले अत्याचारों का उल्लेख किया जिनकी पराकाष्ठा मुहम्मद बिन तुगलक

के शासन काल मे हो गई। बर्नी ने लिखा है कि निर्दोष महिलाओं और बच्चों तक पर निर्मम अत्याचार हुये।

बर्नी ने बताया कि सिंहासनारूढ़ होते ही बलबन ने यह अहसास किया कि राजा की शक्ति नष्ट होने लगी है जिसको पुनर्स्थापित करना उसका ध्येय बन गया। बर्नी ने लिखा कि सुलतान बलबन अपने स्नेह, दया और न्याय की भावना रखने, उपवास और प्रार्थना करने के बावजूद भी क्रूर अत्याचारी था और विद्रोह होने पर भयंकर दण्ड देता था। ऐसा दण्ड देने और सत्ता का उपयोग करते समय वह ईश्वर से भी नहीं डरता था। उसने अपनी अस्थायी शक्ति को बनाये रखने हेतु जो ठीक समझा वही किया चाहे उसकी अनुमति शरियत में हो अथवा नहीं।[1]

अलाउद्दीन खिलजी के बारे में भी बर्नी ने लिखा है कि उसने राज को हड़पा, युद्ध किये, प्रशासकीय और आर्थिक प्रक्रियाये प्रारम्भ की। बर्नी ने अलाउद्दीन के इस कार्य की सराहना की कि यद्यपि उसने अनेक लोगों को सम्पत्ति से च्युत कर दिया, लेकिन उसने कुलीन लोगो की सम्पत्ति को नहीं छुआ। इन लोगों में जमींदार, जागीरदार, सेना के बडे अधिकारी, सरकारी अधिकारी, व्यापारी और सेठ साहूकार सम्मिलित थे। लेकिन अलाउद्दीन के अन्य क्रूर कृत्यों को बर्नी ने समर्थन नहीं दिया। इन क्रूर कृत्यो मे विद्रोही अधिकारियों की महिलाओं और बच्चो को पकड़ने और उनकी हत्या अथवा परिवारो को अपमानित करने की कार्यवाही सम्मिलित थी। बर्नी ने लिखा है कि ऐसी क्रूरता की अनुमति किसी धर्म में भी नहीं दी गयी है।[2]

वैसे बर्नी के विचारो मे विरोधाभास भी है। वैसे वह इस मत के हैं कि राजा को निरंकुश नहीं होना चाहिये। लेकिन हिन्दुओं के प्रति पूर्वाग्रह के कारण वह उनके दमन के लिए एक शक्तिशाली राजा के पद का औचित्य भी बताते हैं। शैतान हिन्दुस्तानियों को नियत्रण मे रखने के लिए एक कठोर और क्रूर स्वभाव का राजा ही चाहिये।[3]

कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि बर्नी राजतत्र की दुर्बलताओ से सुपरिचित होते हुए भी इसका समर्थन करते हैं क्योंकि उनके अनुसार समाज मे व्यवस्था बनाये रखने का अन्य कोई उपाय नही है। लेकिन वह निरन्तर राजा को यह भी राय देते हैं कि उसके दिल में ईश्वर के प्रति भक्ति हो और अपने कार्यों हेतु उसकी कृपा माँगने की आवश्यकता महसूस करे।

बर्नी की इतिहास दृष्टि

तारीखे फीरोजशाही की प्रस्तावना में बर्नी ने लिखा है कि "इतिहास लेखन का

---

1 इरफ़ान हबीब: वही लेख, पृ 105.

2 इरफ़ान हबीब: वही लेख, पृ 106

3 मोहम्मद हबीब और खलीक़ अहमद निज़ामी, वही पुस्तक, पृ 364

एक सिद्धान्त यह है कि एक ईमानदार इतिहासकार का दायित्व है कि वह राजाओं और बड़े आदमियो की अच्छाइयो, दानवृत्तियों, दया और न्याय प्रियता को लिपिबद्ध करे और साथ ही उनकी क्रूरताओं और नीचताओं को भी दर्शाये। इतिहास लेखन में चापलूसी का कोई स्थान नहीं है। यदि वह उचित समझे तो खुले रूप मे अथवा सकेतो के द्वारा समझदार और विवेकशील व्यक्तियों को सही सूचना प्रेषित करे। यदि आतक और अपने समकालीन शक्तिशाली लोगो के भय के कारण वह ऐसा नहीं कर पाये तो वह क्षम्य है। लेकिन उसे अतीत के शासको के बारे में खुलकर और सच्चाई के साथ लिखना चाहिये।"[1]

बर्नी ने अपनी इस महान कृति का आँकलन इन शब्दों में किया है —

"मुझे इस पुस्तक के सग्रह करने मे अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडा है और मैं आशा करता हूँ कि निरपेक्ष व्यक्तियों से मुझे न्याय प्राप्त होगा। यह पुस्तक नाना प्रकार के विचारो से परिपूर्ण एक महान कृति है। ऐतिहासिक महत्त्व की दृष्टि से इस पुस्तक में सुलतानों तथा राजाओं के वृतान्त मिलेगे और यदि कोई राज्य के सचालन, प्रबन्ध और राज्य शासन की दृष्टि से अध्ययन करे, तो उसे भी इस पुस्तक में पर्याप्त सामग्री प्राप्त होगी। साथ ही यदि कोई व्यक्ति राजा और शासको से संबन्धित उद्देश्यो तथा नियमो की दृष्टि से अध्ययन करेगा तो इस पुस्तक मे उसे भी अन्य पुस्तकों की अपेक्षा अति सुन्दर विवेचन प्राप्त होगा। यह विश्वसनीय ही है क्योंकि जो कुछ मैंने लिखा है वह सत्य एव तथ्य है और उसका समुचित सम्मान होना चाहिये क्योंकि मैंने सूक्ष्म शब्दो मे ही अनेक विचारो को प्रकट किया है। मैं इसकी प्रशसा मे निम्न कथन को उद्धृत कर सकता हूँ —

यदि मैं कहूँ कि सम्पूर्ण विश्व में मेरे ग्रन्थ के समान अन्य कोई इतिहास संबन्धी कृति नही है तो कोई भी इस कथन पर विश्वास नहीं करेगा क्योंकि संसार में कोई विद्वान नहीं है।"[2]

मध्य कालीन आठ राजाओ का वृतान्त तारीखे फीरोजशाही में मिलता है। सर्वप्रथम बलबन है जिसने देहली साम्राज्य पर 20 वर्ष तक शासन किया, फिर सुलतान मुईनुद्दीन कैकुबाद है जिसने केवल 3 वर्ष तक राज्य किया, फिर जलालुद्दीन खिलजी ने 7 वर्ष, तदुपरान्त अलाउद्दीन खिलजी का 20 वर्ष तक राज्य रहा। फिर उसके बाद सुलतान कुतुबुद्दीन 4 वर्ष और 6 माह गद्दी पर रहा, फिर गयासुद्दीन तुगलक का 4 वर्ष और 5 माह तक शासन रहा। शेष दो बादशाहो मे मुहम्मद बिन तुगलक का 27 वर्ष तक शासन

1 तारीखे फीरोजशाही, पृ 15-16 मोहम्मद हबीब एवं खलीक अहमद निज़ामी (सम्पादित) पीपल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली में उद्धृत, पृ 302

2 शेख अब्दुर्रशीद, वही पुस्तक, पृ 18-19

रहा। इसके उपरान्त फीरोजशाह है जिसके नाम पर पुस्तक का नाम तारीखे फीरोजशाही रखा गया। स्वयं बर्नी के शब्दों मे "मैने इस पुस्तक का नाम तारीखे फीरोजशाही रखा तब इसमे जो कुछ मैंने, फीरोजशाह (ईश्वर उसके राज्य और शक्ति को सदैव रखे) वर्तमान राजा के उन सफल कार्यों, उसके इतिहास, जो कुछ मैने 6 वर्षो के शासन काल मे देखा का संक्षिप्त वर्णन किया है। यदि मैं और अधिक समय तक जीवित रहा तो वर्तमान राजा के और अधिक सफल कार्यों के देखने की आशा रखता हूँ (ईश्वर उसे बहुत वर्षों तक तख्तेशाही पर रखे) उन्हें शेष पूर्ति के लिए इस पुस्तक मे जोड़ दूंगा। यदि मैं मर गया तो दूसरे किसी व्यक्ति को इनके लिखने का श्रेय प्राप्त होगा।"[1]

यद्यपि जियाउद्दीन बर्नी की खूब आलोचना भी हुई है, लेकिन निःसंदेह मध्ययुगीन भारत के उथल पुथल पूर्ण इतिहास की अनेक घटनाओं का महत्त्वपूर्ण वृत्तान्त तारीखे फीरोजशाही में है। कुछ विद्वानों ने इस कृति को भारत के 13वीं शताब्दी के प्रामाणिक वर्णन के रूप मे इसकी भूरि भूरि प्रशंसा की है। विशेषता इस बात की है कि यह पुस्तक किसी के दबाव या राज्याश्रय के कारण नहीं लिखी गयी है बल्कि स्वेच्छा से रचित है। उनके मतानुसार लेखक की बौद्धिक प्रतिभा एवं उनके उच्च संबन्धों तथा तत्कालीन अधिकांश प्रमुख व्यक्तियों से व्यक्तिगत परिचय के कारण इस पुस्तक की विश्वसनीयता और भी ज्यादा बढ़ जाती है। बर्नी ने "राज्य के कार्यों मे प्रत्यक्ष रूप से कोई भाग नहीं लिया अपितु वह अपने समय के व्यक्तियों तथा रीति रिवाजों और प्रमुख घटनाओं (जो उस समय हुई थी) का शान्त परन्तु चतुर और बुद्धिमान दृष्टा था। कुछ भी हो इतिहास लेखकों को ऐसे उच्च संबन्ध और अवसर प्राप्त हुये हैं किन्तु कुछ ही इतिहास लेखकों को बर्नी के समान राजकीय संरक्षण तथा सहायता से वंचित रहना पड़ा होगा। दूसरे कुछ व्यक्तियों ने बर्नी पर पक्षपात पूर्ण और धार्मिक असहिष्णुता व जातीय अभिमान का दोष लगाया है एवं कठोर आलोचना की है क्योंकि इनके अनुसार बर्नी ने लड़ाइयों की भ्रमपूर्ण तिथियों और उसके वर्णन में कहीं कहीं कठिन देशी शब्दावली का प्रयोग किया है, जिसको समझना और व्याख्या करना कठिन प्रतीत होता है। इन आलोचनाओं मे पर्याप्त सच्चाई है, परन्तु इन दोषों से उसकी कृति का मूल्य कम नहीं होता है।

13वीं शताब्दी के भारतीय ऐतिहासिक साहित्य से इस ग्रन्थ को अलग कर लेने पर इस अन्धकारपूर्ण समय का प्रकाश ही मानो पृथक् हो जाता है। बलबन, अलाउद्दीन, मोहम्मद तुगलक के इतिहास का पुनः लिखा जाना असंभव है जो बिना इस ग्रन्थ के अन्धकार की परिधि मे लीन हो जायेंगे।[2]

बर्नी निःसंदेह मध्य युग के सर्वाधिक प्रभावशाली लेखक हैं लेकिन उनकी गिनती

1. शेख अब्दुर्रशीद, वही पुस्तक, पृ 18
2 शेख अब्दुर्रशीद, वही पुस्तक, पृ 19-20

इतिहासकारो मे है न कि राजनीतिक विचारको में। शेरशाह के समय तक बर्नी को श्रद्धा और सम्मान के साथ पढ़ा गया, लेकिन इसके उपरान्त उन्हे गंभीरता से नहीं लिया गया। वैसे प्रत्येक विचारक अपने युग की उपज होता है या तो वह अपने युग से प्रभावित हो जाता है अथवा प्रतिक्रिया स्वरूप अपने युग की भर्त्सना कर नई व्यवस्था की कल्पना करता है।

मध्य युग के लेखक के समक्ष यह खतरा उत्पन्न हो जाता है कि वह आधुनिक मापदण्डो के आधार पर मध्य युग का आँकलन करता है। बर्नी के प्रसिद्ध ग्रन्थ फतवाई-जहाँदारी का महत्त्व इस बात मे है कि एक मध्य युगीन विचारक ने तत्कालीन मापदण्डों के आधार पर इसकी रचना की है। वृद्ध, आधे अंधे और जबर्दस्त मुसीबत भोगने वाले बर्नी ने अपनी स्मरण शक्ति के प्रभाव से मृतकों को (लेखन के जरिये) जीवित कर दिया और वस्तुत. उनके साथ ही जिये। ऐसी विषम परिस्थितियो और इतनी वृद्धावस्था मे किसी अन्य इतिहासकार ने इतने महान ग्रन्थ की रचना नहीं की।[1]

अबुल फजल

अबुल फजल का जन्म 1551 मे हुआ था। बर्नी से अबुल फजल तक का काल एक बहुत लम्बा सफर है जिसमे बहुत उतार चढ़ाव आये। स्वभावत राजनीतिक चिन्तन इससे अप्रभावित नहीं रहा। बर्नी की अवधारणा एक विशुद्ध इस्लामिक राज्य की थी जिसमे राज्य का कार्य गैर मुसलमानो का बलात धर्म परिवर्तन भी था। राजा का फर्ज धर्म पालन करवाना था। इसमे मौलवियो का राज्य कार्यों मे हस्तक्षेप बढ जाता था जिसे कुछ राजाओ ने पसंद नहीं किया। इनमे दो नाम विशेष तौर पर गिनाये जा सकते हैं। ये हैं — इल्तुतमिश और बलवन। ये राजकार्य अपने ढंग से करने में विश्वास करते थे जिसमे राजसत्ता पर अनावश्यक दबाव न आये। मुगल काल तक आते आते यह विचार और भी दृढ होने लगा। इसके साथ ही इस काल में हिन्दू धर्म और इस्लाम मे खाई कम होने लगी और कबीर, नानक, दादू और चैतन्य ने दार्शनिक स्तर पर समन्वय स्थापित करने मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। अकबर का शासन काल इस समन्वयवादी सस्कृति का प्रतीक था। अबुल फजल अकबर के सभासद थे।

अबुल फजल शेख मुबारक की रहनुमाई मे बडे हुए। शेख मुबारक का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। मुबारक का मानना था कि सभी मनुष्य समान हैं और धार्मिक एवं सामाजिक मतभेद होते हुए भी समाज की मूलभूत एकता को कायम रखना चाहिये क्योंकि सभी मे एक प्रकार की मौलिक सास्कृतिक एकरूपता है। उनका मानना था कि हिन्दुओं और मुसलमानो के झगडे कोई ठोस आधार पर नहीं हैं केवल सतही हैं और ये भी उनके

---

1 मोहम्मद हबीब एवं खलीक अहमद निजामी, वही पुस्तक, पृ 366

निहित स्वार्थों और संकीर्ण दृष्टिकोणों की वजह से हैं। आइने अकबरी अबुल फजल का प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिसमें उनके राजनीतिक विचार मिलते हैं।

फजल अपने परिवेश से प्रभावित हैं और इसलिये राजतंत्र ही उनके चिन्तन के मूल में है। वह राजा को ईश्वर का ही प्रतिनिधि मानते हैं।[1] ईश्वर की आराधना से ही उसमें मानवीय गुणों का संचार होता है और उसके हृदय में प्रजा के प्रति पिता तुल्य स्नेह और दया होनी चाहिये। जन कल्याण ही उसका सबसे बड़ा कर्तव्य और धर्म भी है। वह जनता का आध्यात्मिक गुरु भी है।

फजल पर प्रभाव

फजल के मानस पर एक घटना का बड़ा प्रभाव पड़ा जो उनकी रचनाओं एवं क्रियाकलापों में परिलक्षित होता है। उनको और उनके परिवार को शक्तिशाली उलेमाओं का कोप भाजन बनना पड़ा। उनके पिता शेख मुबारक के बारे में यह संदेह था कि वह शिया थे यद्यपि फजल ने इस बात का खण्डन किया है। उनके परिवार ने उलेमा के अत्याचार करीब दो दशकों तक सहे और ये लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर भागते रहे जहाँ किसी ने उनको शरण नहीं दी। परिवार की व्यथा का अंत 1574 में हुआ जबकि अकबर ने फजल के परिवार को संरक्षण दिया। कुछ समय उपरान्त ही फजल ने अकबर के सभासद के पद को ग्रहण कर लिया।

फजल पर दूसरा बड़ा प्रभाव आध्यात्म का है। वस्तुत: वह एक दार्शनिक थे और उनका चिन्तन अपने युग और समकालीन परिवेश से ऊपर उठकर, मानव विकास से जुड़ गया था। यद्यपि उन्होंने राज्याश्रय प्राप्त कर लिया था, लेकिन उनका हृदय दर्शन और शास्वत चिन्तन कीओर ही था। उन्हें सभासद पद रुचिकर नहीं लगा लेकिन अकबर के अहसान के कारण वह इस पद पर बने रहे। अकबर वस्तुत: उनके लिए नायक, मित्र, श्रेष्ठ पुरुष, श्रेष्ठ राजा और मानवीय गुणों का प्रतीक था। उसमें अपरिचित बौद्धिक क्षमतायें थी और अंतिम सत्य की खोज में वह एक साधु का जीवन बिताना चाहते थे, लेकिन अकबर के प्रति उनकी निष्ठा ने यद्यपि यह पद छोड़ने नहीं दिया, लेकिन फिर भी वह अपने ढंग का जीवन ही जीते रहे। उनकी सभासद के रूप में धीरे धीरे उन्नति होती रही। 20 के मनसबदार से प्रारम्भ कर वह 5000 के मनसबदार के पद पर पहुँचे। वह राज दरबार के अत्यन्त प्रतिष्ठित और अकबर द्वारा सम्मानित सभासदों में रहे। दर्शन के क्षेत्र में उनकी गिनती बड़े विद्वानों में थी, लेकिन उनका अंत दर्दनाक रहा। 1602 में जब वह 5000 के मनसबदार नियुक्त हुए उसी वर्ष राजकुमार सलीम के इशारे पर उनकी हत्या कर दी गयी।

---

1. वी० आर० मेहता, वही पुस्तक, पृ 141.

फजल का मुख्य योगदान

राज दरबार मे उच्च पद पर आसीन होना फजल के गौरव को नहीं बढ़ाता। उनका गौरव उस योगदान मे निहित है जो उन्होने कट्टर उलेमाओ के विरुद्ध संघर्षरत होकर दिया। उन्होने बहुत ही व्यवस्थित ढग से उलेमाओं के तर्कों का खण्डन कर एक प्रक्रिया को प्रज्ज्वलित किया, जो धार्मिक सहिष्णुता, उदारता, मानव बन्धुत्व की भावना से जुड़ गयी। उन्होने सकीर्णता पर निर्मम प्रहार किया और मनुष्य को छोटे छोटे घरोंदों मे बॉट देने की प्रवृत्ति की भर्त्सना की।

अकबर उनके विचारो से बहुत प्रभावित हुआ और उलेमाओं के प्रतिकूल उसके दृष्टिकोण के निर्माण की पृष्ठभूमि के मूल मे फजल की विद्वता, प्रतिभा और तर्कशक्ति है। धार्मिक सहिष्णुता फजल की समस्त रचनाओं में प्रवाहित होती है और इस प्रकार मध्य युग के घृणा, प्रतिशोध और कट्टरपन के विशाल समुद्र में फजल प्रेम, शांति, सहिष्णुता के एक द्वीप नजर आते हैं। अकबर से मित्रता का भी यह ठोस और रचनात्मक आधार बन गया।

1575 और 1585 के बीच का दशक अकबर का एक प्रकार से परीक्षा काल था। इस बीच अकबर के समक्ष अनेक समस्यायें उपस्थित हुईं, जिनमें मुस्लिम बादशाह का इस्लाम और गैर मुसलमानो के प्रति दृष्टिकोण भी शामिल था। इबादतखाने मे धर्म के सबन्ध मे गहन चर्चायें होने लगी जिनमे अबुल फजल ने अपनी तकरीरो मे विवेक और सहिष्णुता के पक्ष को बडे ही प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत किया। अकबर के समर्थन के कारण फजल के हौसले बुलन्द रहे और उन्होने कट्टरपंथी उलेमाओ को हावी नहीं होने दिया। अत मे उलेमाओ ने अकबर को इमाम इआदिल स्वीकार किया जिसका अर्थ यह था कि अकबर मुस्लिम समाज का सर्वोच्च नेता है एवं उसे मुस्लिम विधि और कानून की व्याख्या करने का अधिकार है। कट्टर उलेमाओ को उनके उच्च पदों और प्रभावशाली जगहो से मुक्त कर दिया गया। धार्मिक मामलों में प्रशासन के पद भी उनसे ले लिये गयें और एक प्रकार से नये युग का सूत्रपात हुआ जिसका बहुत बडा श्रेय अबुल फजल को है। ऐसा करना फजल का एक बड़ा ध्येय था और उनकी तकरीरो और रचनाओ मे न केवल इतिहास की ही बल्कि धर्म, राजनीति, राजा, प्रजा आदि के सबन्ध मे एक तस्वीर मिलती है। उनकी भाषा, शैली, विषय सामग्री एक बौद्धिक और विद्वान पुरुष की है और उन्होंने अकबरनामा मे स्पष्ट भी किया है कि यह उन लोगो के लिए है जो चिन्तनशील हैं।

फजल के राजनीतिक और धार्मिक विचार दो कारणों से महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम इतिहास के महत्वपूर्ण तथ्यो के संकलन के निर्धारण मे इनकी भूमिका है। द्वितीय विषय सामग्री के चयन मे भी इनका प्रभाव है। फजल ने तथ्यों का बहुत ध्यानपूर्वक निरूपण

किया है, लेकिन उनके मूल्यांकन एवं प्रस्तुतीकरण में उनके विचारों की बड़ी भूमिका रही है। दूसरे शब्दों में इतिहास को उन्होंने अपने ढंग से देखा और इससे कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले।

हिन्दू मुस्लिम एकता और सौहार्द्र स्थापित करने की प्रक्रिया को बलवती बनाना फजल का विशिष्ट योगदान है। इससे भारतीय समाज और राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ा है और एक मिली जुली संस्कृति का विचार विकसित हुआ जो कालान्तर में आधुनिक भारत के सामाजिक और राजनीतिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में सहायक बना। आइने अकबरी[1] में वर्णित स्थल के मुख्य अंश यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं —

हिन्दू मुसलमानों के बीच धार्मिक मतभेद एवं विरोध का मुख्य कारण यह है कि हिन्दू ईश्वर को मानव आकृति और तस्वीरों में देखते हैं।

अबुल फजल इस आरोप को निराधार मानते हैं। ध्यान से देखने पर स्पष्ट होता है कि हिन्दू भी एक ही ईश्वर में विश्वास करते हैं, लेकिन इस छोटी सी बात ने तहलका मचा दिया और दोनों धर्मावलम्बियों में गहरी दुश्मनी पैदा कर दी और यहाँ तक कि खून खराबा हुआ।

फजल भ्रांति के कई कारण बताते हैं —

1. एक दूसरे की भाषा और चिन्तन के तौर तरीकों के बारे में पूर्ण अज्ञानता।
2. बहुसंख्यक लोगों की शोध और अन्वेषण के द्वारा वास्तविक सत्य जानने की इच्छा का अभाव।
3. दोनों धर्मावलम्बियों द्वारा स्थापित परम्पराओं को सामान्य तौर पर स्वीकार कर लेना और विवेकपूर्ण पद्धति से चिन्तन प्रक्रिया को अवरुद्ध रखना।
4. सहानुभूतिपूर्वक सहिष्णु बनकर एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझ सके इसके लिए विद्वानों और भिन्न भिन्न धर्मों के जानकार लोगों के परस्पर विचार विमर्श हेतु किसी एक स्थान पर बैठने का अभाव।
5. शासक की ऐसी पहल करने एवं आवश्यक वातावरण बनाने में असफलता जिससे कि विद्वान अपने विचारों का आदान प्रदान कर सकते।
6. बर्बरता और बदतमीजी को जीवन से निष्कासित करने की इच्छा का अभाव। बिना सोचे समझे लोगों ने एक दूसरे के धर्म की निन्दा की और उन्हें मार दिया। उन्होंने यह नहीं समझा कि धार्मिक अत्याचार विवेक शून्य और मूर्खतापूर्ण होते हैं। विरोधी लोग प्रायः अज्ञानी होते हैं और इसलिये उन्हें कत्ल करने के बजाय समझाया जाना चाहिये।

---

1. नोमन अहमद सिद्दिकी, शेख अबुल फजल, पृ. 136-37. मोहिब्बुल हसन (सम्पादित) हिस्टोरियन्स ऑफ मिडियवल इण्डिया, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ।

यह महत्त्वपूर्ण है कि फजल समाज निर्माण में राज्य की महती सकारात्मक भूमिका के पक्षधर हैं। यह एक आधुनिक विचार है जिसके अन्तर्गत राज्य का कार्य केवल कानून और व्यवस्था बनाये रखना नहीं है बल्कि सामाजिक सौहार्द्र और सहिष्णुता के लिए राज शक्ति का उपयोग करना है ताकि समाज निर्माण की प्रक्रिया प्रशस्त हो और व्यक्ति को सही दिशा मिले। समकालीन परिस्थितियों मे फजल की यह बौद्धिक प्रखरता और निष्ठा अभिनन्दनीय है। फजल अपने कुण्ठाग्रस्त परिवेश से ऊपर उठकर मानवीय पक्ष को उजागर करते हैं और इसलिये उनका भारत की सहिष्णु और उदार राजनीतिक और सामाजिक परम्परा के इतिहास में एक सम्भाजनक स्थान है।

राज्य, राजा एवं राजसत्ता

फजल केन्द्रीकृत प्रशासन के पक्षधर हैं। यह राजा से यही अपेक्षा करते हैं कि वह राज्य कार्य मे सक्रिय रुचि ले, जनहित को सर्वोपरि रखे, अधिकारियो और कर्मचारियों पर निगरानी रखे और समस्त प्रशासन पर प्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित करे ताकि कोई गलत काम न हो। यद्यपि अधिकारियो मे पद सोपान अवश्य होता है लेकिन राजा को प्रत्येक से व्यक्तिगत सम्पर्क ही होना चाहिये। मनसबदार, नाजिम, सूबेदार, परगना अधिकारी, जागीरदार, काजी एवं अन्य अधिकारियो के बीच तालमेल आवश्यक है। इन अधिकारियों के निजी जीवन और उनकी अन्य प्रवृत्तियो की जानकारी हेतु यह आवश्यक था कि राजा मेलों, बाजारो और भोजों का आयोजन कराये ताकि प्रजा और अधिकारियों की प्रतिक्रिया का पता चल सके और यह जनसम्पर्क राज्य की भलाई के लिए सहायक होता है।

अबुल फजल ने समाज को चार भागो मे बाँटा – प्रथम स्थान शासकों और योद्धाओ को; द्वितीय विद्वानों, दार्शनिको एवं लेखकों को; तृतीय स्थान व्यापारियों और कलाकारों को और अंतिम स्थान कृषकों एवं श्रमिकों को दिया गया। समाज के इस विभाजन की हिन्दू वर्ण व्यवस्था से तुलना की जा सकती है। हिन्दू वर्ण व्यवस्था मे जहाँ ब्राह्मण को सर्वोच्च स्थान है वहाँ फजल के द्वारा वर्णित व्यवस्था मे क्षत्रिय को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। प्लेटो द्वारा वर्णित व्यवस्था हिन्दू वर्ण व्यवस्था से ज्यादा मिलती जुलती है यद्यपि वह केवल तीन ही वर्गों की बात करते हैं। प्लेटो के चिन्तन और हिन्दू चिन्तन मे दार्शनिकों, चिन्तकों, ऋषियों को उच्चतम स्थान दिया गया है।

अबुल फजल की सबसे बडी विशेषता उनके धर्म निरपेक्ष एवं समन्वयवादी चिन्तन मे है। बर्नी की भांति वह इस्लामिक राज्य की बात नहीं कहते और न ही राज्य का कार्य गैर मुसलमानों का बलात धर्म परिवर्तन बताते हैं। वह न्याय की स्थापना हेतु परम्परागत विधि पर ही बल देते हैं, जिसका अर्थ यह हुआ कि राज्य समाज के मामलों में अनावश्यक हस्तक्षेप न करे। लेकिन साथ ही वह यह भी चाहते हैं कि राज्य उन परिस्थितियों का निर्माण करे जिसमें धार्मिक और सामाजिक सहिष्णुता एवं सौहार्द्र बना रहे। यहाँ वह राज्य का सकारात्मक सहयोग चाहते हैं।

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है फजल राजा को ईश्वर की रोशनी मानते हैं और इसलिये वह केवल ईश्वरीय कानून की परिधि में ही आबद्ध हैं, मानवीय कानून से वह ऊपर है। फजल का मानना है कि जब ईश्वर किसी पर अपनी कृपा की बौछार करता है तो उसे संप्रभुता प्रदान करता है और इसके साथ उसे बुद्धि, धैर्य, दूरदर्शिता और न्यायप्रियता भी देता है ताकि वह जनहित में कार्य करे और परिचित्त मित्रों और अजनवियों के बीच सन्तुलन स्थापित कर सके। उनके साथ एक सा ही बर्ताव करे ताकि यह न लगे कि उसमें प्रतिशोध की भावना और पूर्वाग्रह है।[1]

आइने अकबरी के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि अकबर के समय मे भी सत्ता केन्द्रीकृत ही थी, लेकिन राजा का सामाजिक व्यवस्था में कोई खास दखल नही था। अकबर के समय मनसबदारी व्यवस्था थी जो कि फारस की नकल पर थी, लेकिन ग्रामीण व्यवस्था मे न्याय प्रायः पंचायतो द्वारा ही किया जाता था और केन्द्रीय सत्ता का इस पर कोई विशेष प्रभाव प्रतीत नहीं होता। भू-व्यवस्था के बारे में भी यह कहा जा सकता है कि चाहे सिद्धान्त में खेती की जमीन राजा की थी, लेकिन व्यवहार मे जमीन का जोतने वाला ही उसका स्वामी था। हाँ, निर्धारित राजस्व जरूर उसे देना पड़ता था। विकेन्द्रित सत्ता होने के कारण राजनीति, शहरों, बड़े कस्बो एव कुछ प्रमुख घरानो तक ही सीमित थी, राज्य का कार्य प्रायः कानून और व्यवस्था तक ही सीमित था। आध्यात्म के क्षेत्र मे उसकी दखल नहीं थी। तुलसीदास की रामायण में इसकी स्पष्ट झलक देखने को मिलती है। अबुल फजल लिखते हैं कि राजा को मिलने वाला कर एक प्रकार से उसका वेतन है जो जनता पर सुशासन करने और न्याय करने के एवज में मिलता है। यहाँ अनुबन्ध सिद्धान्त की झलक अवश्य मिलती है, लेकिन यह फजल का मन्तव्य संभवतः नहीं था। वह दैविक सिद्धान्त के प्रतिपादक भी नहीं हैं। जब यह कहते हैं कि राजा पृथ्वी पर ईश्वर की रोशनी है इसका मतलब यह नहीं है कि ईश्वर ने प्रजा पर शासन करने के लिए उसका निर्माण किया है। इसका मतलब केवल यही है कि ईश्वर की भांति उसमें दया, करुणा, सहिष्णुता एवं न्याय करने की भावना होनी चाहिये। ईश्वर की कृपा से ही उसे यह पद प्राप्त होता है।

अबुल फजल का समस्त चिन्तन अकबर के व्यक्तित्व से प्रभावित प्रतीत होता है। जैसा कि कहा जा चुका कि अकबर फजल का नायक, एक आदर्श राजा एवं तेजस्वी पुरुष है। वह न्याय प्रिय है। वह सौम्य एवं सहिष्णु है। फजल का अकबर के नेतृत्व में मुगल साम्राज्य का आकलन यह है कि यह समन्वय, सौहार्द, स्थायित्व एवं सुशासन लिये हुए है। इसमें शांति, सुरक्षा, धार्मिक सहिष्णुता एवं स्वतंत्रता है। इसमें आर्थिक

---

1 अबुल फजलः आइने अकबरी, इन्टरनेशनल बुक डिपो, देहली, पृष्ठ 173, वी आर. मेहता द्वारा उद्धृत वही पुस्तक, पृ 142

प्रगति है। फजल ऐसे लोक कल्याणकारी राज्य के भौगोलिक विस्तार की कामना करते हैं ताकि अधिकाधिक लोगों को इससे लाभ प्राप्त हो सके। यह लोगो के धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक हितो के अनुकूल है। वस्तुत: फजल मुगल साम्राज्य के नैतिक और बौद्धिक आधार को स्पष्ट करते हैं।

यह बात सही है कि फजल अकबर के व्यक्तित्व के आधार पर ही राजा के पद की आवश्यकता और उसमे निहित गुणो का वर्णन करते हैं। उनके अनुसार राजा का पद अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इसके बिना समाज के परस्पर विरोधी तत्त्व एक दूसरे को नष्ट करने के लिए सघर्षरत रहेंगे। अत: उसका कर्त्तव्य है कि वह इन तत्त्वों को नियत्रण मे रखकर समाज मे शांति और व्यवस्था की स्थापना करे। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वह निरकुश बनकर राजसत्ता के माध्यम से अपनी वासना की तृप्ति करे और सत्ता सुख मे मदान्ध हो जाये। उसका मुख्य कार्य जनता की भलाई करना है। राजा को न्यायप्रिय, बुद्धिमान, बहादुर और आकर्षक व्यक्तित्व वाला होना चाहिये। उसमें सहिष्णुता, खुला दिमाग और न्याय करने की क्षमता होनी चाहिये। फजल को ये सारे गुण अकबर मे मिले।

फजल की कट्टर मुस्लिम समुदाय ने कडी आलोचना की। उन्हे नास्तिक, अधार्मिक एवं मुस्लिम विरोधी तक कहा गया। उसके कई समकालीन लोगों ने उसकी कड़े शब्दों मे भर्त्सना की। खान ए-आजम ने तो यहाँ तक कह दिया कि फजल ने पैगम्बर के विरुद्ध ही बगावत कर दी। उनके बारे में जहाँगीर ने भी इस बात का समर्थन किया है और यही एक बडा कारण रहा हो जिसकी वजह से उसके इशारे पर फजल की हत्या की गयी। उनके बारे मे कहा गया कि वह अग्नि पूजक हिन्दू है। फजल ने स्वयं आइने अकबरी मे अपने विरोधियों द्वारा उनकी की गयी भर्त्सना का वर्णन किया है। लेकिन फजल बडे साहस और निर्भीकता के साथ अपने विचारों पर डटे रहे और पुरातन पंथियों और परम्परावादियो की आलोचना करते रहे। फजल ने बताया कि जो चीज विवेक सम्मत नहीं है उसको स्वीकार कैसे किया जा सकता है। कालान्तर में पुस्तकों में लिखी बात पुरानी पड जाती है और इसलिये उन्हें स्वीकार करने के पूर्व उन पर विचार करना आवश्यक है। यद्यपि वह स्वय धार्मिक पुरुष थे लेकिन धर्म को उन्होंने कभी कट्टरपन और संकीर्णता से नहीं जोडा। जो मनुष्य को अन्धकार से प्रकाश की ओर नहीं ले जाय वह धर्म हो ही नहीं सकता। विवेक और तर्क का कहीं धर्म से विरोध नहीं है।

फजल एक मुक्त विचारक थे और सभी धर्मों की अच्छाइयों मे विश्वास करते थे।

फजल की इतिहास दृष्टि

अबुल फजल मध्ययुग के करीब करीब सभी इतिहासकारों से भिन्न थे। पूर्ववर्ती इतिहासकार या तो स्वार्थ लिप्सा के कारण राजाओं के कृपा पात्र बनने हेतु ऐतिहासिक

तथ्यों को तोड़ मरोड़कर प्रस्तुत कर देते थे, जिससे सत्य तक पहुँचना मुश्किल हो जाता था। दूसरे इस प्रकार के भी इतिहासकार थे जो ईमानदार और सम्यक् दृष्टि लिये हुए थे लेकिन साधन रहित होने के कारण सही तथ्यो का सकलन नहीं कर पाते थे। अकबर-नामा में फजल ने बताया है कि प्रारम्भ में उनकी रुचि इतिहास में नहीं थी, वह इतिहास के अध्ययन को समय की बर्बादी ही मानते थे, लेकिन धीरे धीरे उनके विचारो मे परिवर्तन आया और उन्होने इतिहास लेखन को एक दृष्टि दी।

अबुल फजल अपने अनेक पूर्ववर्ती इतिहासकारों से इस बात से सहमत नहीं थे कि मुस्लिम काल का भारत का इतिहास हिन्दुओं और मुसलमानों के संघर्ष का ही इतिहास है। यह इतिहास लेखन तो भविष्य को ही अधकारमय कर देगा। फजल इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि पुराने अनुभव और मानव की उपलब्धियों को सग्रहित करना चाहिये ताकि आने वाली पीढ़ियाँ चैन से रह सकें। इतिहास मे ऋषियों, चिन्तको, दार्शनिको के विचार संग्रहित होने चाहिये और ये आने वाली पीढियों को सांस्कृतिक धरोहर के रूप में प्राप्त होने चाहिये।

फजल के अनुसार इतिहास का अध्ययन प्रेरणा, शक्ति और विवेक का स्रोत होना चाहिये। उनके अनुसार मनुष्य का सर्वोच्च ध्येय सत्य की खोज और प्राप्ति ही तो है। यह केवल तब ही हो सकता है जबकि विवेक की रोशनी हो जो कि इन्द्रियो के माध्यम से प्राप्त होती है। अतीत में रहे लोगों और उनके अनुभव और क्रियाकलापो से विवेक समृद्ध होता है। फजल का यह भी मानना है कि इतिहास के अध्ययन से मनुष्य की वेदना खत्म होती है। इतिहास वस्तुत: एक अस्पताल की भांति है जहाँ आदमी अपने दुःख और निराशा की औषधि लेता है। अभागे और दुखी लोगो को इतिहास के अध्ययन से शांति और राहत मिलती है।[1]

सार रूप में यह कहा जा सकता है कि फजल इतिहास के अध्ययन मे विवेकपूर्ण उपागम को अपनाते हैं। वह इतिहास को दर्शन से भी जोड़ते हैं और कहते हैं कि दोनो मे बड़ा गहरा सम्बन्ध है। वह एक को दूसरे का पूरक भी मानते है। वह इस बात से सहमत नहीं है कि इतिहास केवल आस्तिको की आस्था को समृद्ध करने के लिए है जो कि अनेक मध्ययुगीन इतिहासकारों का मत रहा है। फजल का दृष्टिकोण धर्म निरपेक्ष रहा है।

फजल इतिहास लेखन को बहुत ही व्यापक दृष्टि से देखते हैं। यह केवल राजाओं का वृतान्त ही नहीं है। यह केवल सरकार और राजनीति का अध्ययन ही नहीं है बल्कि सम्पूर्ण समाज का लेखा जोखा है। इसमे क्रूरता, नीचता, अहंकार, संकीर्णता का उल्लेख

1 मोहिबुल हसन हिस्टोरियन्स ऑफ मिडिवल इंडिया, पृ 139

ही नहीं है बल्कि मानव जीवन के उजले पक्ष जैसे दया, करुणा, वीरता, त्याग आदि का भी वर्णन है। इसमें विद्वानों, संतों, विचारको, दार्शनिको के चिन्तन का भी अध्ययन है। दूसरे शब्दों मे समाज में होने वाले सारे परिवर्तन एव उनकी प्रक्रियाओं का अध्ययन इतिहास में निहित है।

फजल सपूर्ण मध्य युग के अधकार में रोशनी की भांति हैं। यह सही है कि उन्होंने अकबर को गौरव मंडित किया है लेकिन अकबर इसके अधिकारी भी हैं। अकबर और फजल की जोड़ी एक नये चिन्तन, नये मूल्य एव नये आयाम को लेकर एक नयी दिशा का निर्माण करती है। काल चाहे मध्य युगीन हो, चिन्तन आधुनिक है।

□□□

6

मध्य युगीन राजनीतिक चिन्तन

(संक्षिप्त सारांश)

भारतीय राजनीतिक चिन्तन के अध्येता के समक्ष मध्य युग में आते आते कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित होने लगती है। प्राचीन काल में अपेक्षाकृत सामाजिक समरसता अधिक थी, राज्य प्रशासन, शासन के बारे मे धार्मिक ग्रन्थों, यात्रा वृतान्तों, शिलालेखों आदि से प्राप्त पर्याप्त अध्ययन सामग्री के आधार पर राजनीति के एक स्वतंत्र विषय के निरूपण में कोई समस्या दृष्टिगोचर नहीं होती। धर्म नीति के अंग के रूप में यद्यपि राजनीति शास्त्र का विवेचन होता रहा है, लेकिन राजनीति धर्म मे पूर्णतया समा गयी हो ऐसा भी नहीं लगता। मनुस्मृति, शुक्रनीतिसार, नीतिवाक्यामृत एवं अनेक अन्य ग्रन्थों में राजनीति एक शास्त्र और व्यवस्था के रूप में उभरती प्रतीत होती है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र तो विशुद्ध राजनीति शास्त्र, कूटनीति, लोक प्रशासन पर रचित ग्रन्थ है। इसका धर्म से कोई संबन्ध नहीं है। यह दर्शन की ऊँची उड़ान भी नहीं भरता बल्कि वास्तविक मानव जीवन का निरूपण है। मनुष्य क्या है ? उसकी क्या दुर्बलतायें हैं ? उसका क्या व्यवहार है ? और इस वास्तविकता को दृष्टिगत रखते हुए राजा को कैसा होना चाहिये ? ये सब बातें अर्थशास्त्र की विषय सामग्री हैं। अर्थशास्त्र जैसा विशुद्ध राजनीति पर रचित ग्रन्थ मध्ययुग मे एक भी नहीं है और पूरे काल को इस्लाम प्रभावित चिन्तन ढक लेता है। इसकी तुलना यूरोप के मध्य युग से की जा सकती है जिसमें चर्च और क्रिश्चियन धर्म समस्त चिन्तन पर आच्छादित है। कालान्तर मे वहाँ पोप और राजा के बीच संघर्ष ने राजनीतिक चिन्तन को मोड़ा और परिषदीय आन्दोलन के रूप में पोप की अबाधित शक्ति पर संस्थागत अंकुश लगाने का प्रयास हुआ, लेकिन भारत मे मध्ययुग में ऐसा कोई प्रयास नहीं है।

इस युग के सर्वाधिक मान्यता प्राप्त प्रतिनिधि विचारक जियाउद्दीन बर्नी जैसा अनुदार और असहिष्णु विचारक हिन्दू काल में एक भी नहीं हुआ। इस्लाम और हिन्दू धर्म के संघर्ष से उत्पन्न अंधकार को दूर करने का प्रयास केवल अकबर और फजल की जोड़ी ने किया। अकबर जैसे राजा और फजल जैसे चिन्तक हिन्दू मुस्लिम एकता पर आधारित एक नूतन समन्वयवादी चिन्तन के प्रतीक हैं।

प्राय: सभी धर्मों मे सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों मे काफी अन्तर रहा है। यह बात इस्लाम पर भी लागू होती है। सैद्धान्तिक स्तर पर इस्लाम सामाजिक समानता

के सिद्धान्त पर आधारित है। इसमे राजतत्र के लिए कोई स्थान नहीं है, लेकिन कालान्तर मे इसके विपरीत होने लगा और इसका राजनीतिक चिन्तन की प्रकृति पर दूरगामी प्रभाव पडा। इस काल के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि राजतत्र ही शासन की एकमात्र शासन प्रणाली बन गयी और उसे राजसत्ता को बनाये रखने हेतु उलेमा और सामन्त वर्ग का समर्थन लेना आवश्यक हो गया। उलेमा इस्लामी समाज और कानून को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए राजसत्ता के अभिन्न अग बन गये यद्यपि अलाउद्दीन खिलजी और मोहम्मद तुगलक ने अपने को उलेमा के प्रभाव से काफी स्वतत्र करने का प्रयास किया, लेकिन अकबर के शासन काल को छोड़कर उलेमा करीब करीब संपूर्ण मध्य युग पर छाये रहे। यद्यपि मध्य युग मे एक नारी भी दिल्ली की शासक रही, लेकिन कट्टर मुस्लिम समाज ने उसे स्वीकार नहीं किया।

रजिया का सिहासन पर बैठना मुस्लिम राजसत्ता के इतिहास मे एक अभिनव प्रयोग था। स्त्री द्वारा शासित होने के विचार को उलेमा और सामान्यवर्ग पचा नहीं पाये और गजनवी और गौरी वशो मे ऐसा कोई उदाहरण भी न था। वंशानुगत शासन भी इस्लाम द्वारा स्वीकृत नहीं है लेकिन इसका एक प्रकार से सस्थानीकरण ही हो गया।

सुलतान का पद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। सुलतान केवल राजा या शासक ही नहीं था उसमे महती राजनीतिक, आर्थिक, कानूनी एवं सैनिक सत्ता निहित थी। वह ही सेनाध्यक्ष होता था, सारे शासन, प्रशासन, न्याय के लिए वह ही जिम्मेदार था। उसमें अबाधित शक्तियाँ निहित थी। निरंकुश राजसत्ता के धारक के रूप मे बलवन का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रो हबीबुल्ला खाँ का कथन है कि इल्तुतमिश ने संस्था (दिल्ली सल्तनत अर्थात् सुलतान का पद) की रूपरेखा का केवल निर्माण ही किया था। उसको पुनर्जीवित करने और उसे उसकी स्थिति की पूर्णता तक पहुँचाने का कार्य बलवन के लिए छोड दिया गया था।[1] बलवन सभवत. मध्ययुगीन शासको मे प्रथम व्यक्ति था जिसने सुलतान के पद को सैद्धांतिक रूप से स्पष्ट किया। राजसत्ता के बारे में बलवन के विचारों को समझाते हुए प्रो के ए निजामी[2] ने लिखा है कि यह सुलतान के सम्मान में वृद्धि करने तथा अन्य अमीरों से बचने के लिए आवश्यक था, परन्तु इसका एक कारण उसकी हीनता की भावना थी जिसके कारण वह अपने विचारों को निरन्तर व्यक्त करके अपने अमीरों को यह विश्वास दिलाना चाहता था कि वह किसी हत्यारे के छुरे अथवा जहर के प्याले के कारण सुलतान नहीं बना है अपितु ईश्वर की इच्छा के कारण ही यह पद प्राप्त कर पाया है। कहने का अर्थ यह है कि राजसत्ता के बारे में बलवन के दो प्रमुख सिद्धान्त हैं — प्रथम तो यह कि सुलतान का पद ईश्वर द्वारा प्रदान किया हुआ

1-2. आर के. सक्सेना, मध्यकालीन इतिहास की संस्थायें, संघी प्रकाशन, जयपुर, पृ 7

है और यह पृथ्वी पर किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं है। इसी से दूसरा सिद्धान्त निकलता है और वह यह है कि वह निरंकुश है। उसके अनुसार सुलतान पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है और पैगम्बर के बाद वही इसका प्रतिनिधित्व करता है। सुलतान को कार्य करने की प्रेरणा ईश्वर दत्त है और इसलिये जनसाधारण को उसके कार्यों की आलोचना करने का कोई अधिकार नहीं है।[1] एक बार उसने अपने पुत्र बुगरा खाँ को राजसत्ता की प्रकृति समझाते हुए कहा कि सुलतान का पद निरंकुशता का जीवित प्रतीक है। बलबन के बारे में प्रसिद्ध है कि वह न्याय करते हुए अपने बड़े से बड़े अधिकारी को भी नहीं क्षमा करता था। मोहम्मद तुगलक उलेमा पर भी कठोर नियम लागू करता था। राजसत्ता सर्वोच्च है इस बात के प्रदर्शन हेतु बलबन राज दरबार को बड़े शासन शौकत और अनुशासित ढंग से चलाता था। वह उच्च वंश को ही महत्त्व देता था और बड़े बड़े पद केवल उनके लिए ही सुरक्षित थे। इस प्रकार राजतंत्र के साथ कुलीनतंत्र एक उप व्यवस्था के रूप में उभरकर आयी। उसने एक बार अनेक अधिकारियों को इसलिये पदमुक्त कर दिया था कि वे दीन हीन परिवारों में जन्मे थे। उसने राजसत्ता को इतना गौरव मंडित कर दिया कि प्रधानमंत्री के अतिरिक्त अन्य किसी अमीर की भी उससे बात करने की हिम्मत नहीं होती थी। उसके अनुसार राजसत्ता ताज की प्रतिष्ठा, शक्ति और न्याय पर निर्भर करती थी। वह सारी राजनीतिक, प्रशासनिक, आर्थिक एवं सैनिक व्यवस्था पर आच्छादित हो जाना चाहता था। लेकिन निरंकुश होते हुए भी उसने सलाहकारों की मंत्रणा को गंभीरता से लिया और उन्हें समुचित सम्मान भी प्रदान किया।

जैसा कि पूर्व में भी संकेत दिया जा चुका है कि अलाउद्दीन खिलजी के शासन को धर्म निरपेक्ष कहा जा सकता है। उसने इल्तुतमिश और बलबन के राज सत्ता के सिद्धान्त को पुनः लागू करने का प्रयास किया। लेकिन इसकी राजसत्ता की अवधारणा न ईश्वरीय है और न ही अनुबन्धनात्मक ही, बल्कि यह तो सैनिक शक्ति पर आधारित है। उसने न ईश्वर की दुहाई दी और न ही इस्लाम की। उसने तो स्पष्ट घोषणा की कि राज्य अपने हितों की रक्षा स्वयं करे, इसमें न उलेमाओं की कोई भूमिका है और न ही खलीफा को ही इससे जोड़ने की आवश्यकता है। उसने तो स्पष्ट कहा कि मैं नहीं जानता कि क्या वैध है या अवैध है– जो कुछ मैं राज्य की भलाई अथवा संकट काल में ठीक मानता हूँ वही मैं आज्ञा देता हूँ।[2]

प्रो. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव का कथन है कि इस तरह अलाउद्दीन दिल्ली का पहला सुलतान था जिसने धर्म पर राज्य का नियंत्रण स्थापित किया और ऐसे तत्वों को जन्म दिया जिनसे कम से कम सिद्धान्ततः राज्य असाम्प्रदायिक आधार पर खड़ा हो सकता

---

1. आर. के. सक्सेना द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 7.
2. ईलियट एण्ड डाउसन, लेटर किंग्स ऑफ दिल्ली, पृ 107.

था।[1] अलाउद्दीन ने राजसता की प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए अमीरो का भी दमन किया, लेकिन वह राजसत्ता को सस्थानीकरण नहीं कर पाया इसलिये उसकी मृत्यु के उपरान्त केवल सैनिक शक्ति पर आधारित राजसता की अवधारणा चर्चित नहीं रही।

सार रूप मे यह कहा जा सकता है कि मध्य युग मे राजसत्ता की अवधारणा सुलतान के व्यक्तित्व के इर्दगिर्द अवस्थित थी। मध्य युग के मुस्लिम शासक भिन्न भिन्न परिवेश के थे और इसलिये उनकी राजसत्ता की अवधारणा भी एक सी नहीं थी। अफगानों का प्रभुसत्ता का सिद्धान्त तुर्कों से बिल्कुल भिन्न था। तुर्की सुलतान निरकुश शासक थे और उनके सरदार अधीन कर्मचारियो अथवा सलाहकार से अधिक नहीं थे। वो तो इस बात मे विश्वास नहीं करते थे कि कोई उनकी बराबरी का दावा करे अथवा प्रभुसत्ता मे साझेदार हो। उन्होने प्रभुसत्ता मे देवत्व के अंश का दावा किया था, परन्तु अफगान सरदार सुलतान को अपने मे से ही एक बडा सरदार मानते थे और सुलतान के साथ समानता का दावा करते थे। उनका अनुमान यह था कि यदि उन्होने अपने मे से किसी एक को सुलतान स्वीकार कर लिया तो उनकी स्थिति साधारण सेवकों जैसी रह जावेगी और उन्हें अपने ही परिवार के सदस्य के सम्मुख जमींपोश करने पर बाध्य होना पडेगा। इस आधार पर अफगानो का प्रभुसत्ता का सिद्धान्त सरदारो की समानता पर आधारित था और ऐसी स्थिति मे उनकी शासन व्यवस्था राजतत्रीय न होकर कुलीनतंत्रीय थी।[2]

मध्य कालीन राज व्यवस्था अत्यन्त केन्द्रित थी। यद्यपि परिस्थितियो ने प्राचीन एवं स्थानीय स्तर पर इसे विकेन्द्रित कर दिया था। केन्द्र से बड़े राज्य का प्रभावी संचालन बहुत मुश्किल था क्योंकि आवागमन के साधन पुरातन थे। अभिजात्य वर्ग और उलेमा प्रभावशाली थे। कुल मध्ययुगीन राज्य वस्तुत· एक सैनिक राज्य था और इसलिये प्राय: वजीर भी बड़े सैनिक ही हुआ करते थे। राजस्व विभाग की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया क्योंकि राजस्व तो राज्य के अस्तित्व का मूलाधार ही था। सेना और राजस्व बादशाह की प्राथमिकताओ मे थे। दीवाने रिसालत और दीवाने इन्शा दो और महत्वपूर्ण विभाग थे। दीवाने रिसालत का संबन्ध धार्मिक मामलो से था। इसके अन्तर्गत विद्वानों, श्रेष्ठ पुरुषो एवं धार्मिक लोगों को वित्तीय सहायता उपलब्ध करायी जाती थी। प्रधान काजी इसका अध्यक्ष हुआ करता था। काजी का काम दीवानी मामलों को निपटाना भी होता था। मुसलमानो के मामले शरियत के आधार पर और हिन्दुओ के उनके परम्परागत रिवाजों के आधार पर निपटा दिये जाते थे। हिन्दुओं के मामले प्राय: पंचायतों के द्वारा ही तय किये जाते थे। दीवाने इन्शा राज्य के पत्र व्यवहार से संबन्धित विभाग था। इसमे औपचारिक एवं गोपनीय दोनो ही प्रकार के पत्रों को निपटाने की व्यवस्था थी।

---

1. आर के सक्सेना द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 12
2. आर के सक्सेना, वही पुस्तक, पृ 16

मध्ययुगीन राज्य की प्रकृति के बारे में प्रोफेसर सतीशचन्द्र[1] का कथन है कि भारत में तुर्की राज्य सैनिक और कुलीनतंत्रीय था। प्रारम्भ में तुर्की अभिजात्य वर्ग ने राज्य के बड़े बड़े ओहदों पर अपना एकाधिकार कर लिया था। मुस्लिम कुलीन परिवार में जन्म उच्च पद प्राप्त करने के लिए एक आवश्यक शर्त बन गयी थी और इसलिये हिन्दुओं को सामान्य तौर पर इन पदों पर आने के बहुत कम अवसर मिले। हिन्दुओं ने व्यापार पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। यद्यपि शहरों में रहने वाले सत्तारूढ़ मुस्लिम अभिजात्य वर्ग के लोगों और ग्रामीण परिवेश में धनाढ्य हिन्दुओं के बीच संघर्ष भी रहा लेकिन सत्ता के बटवारे के बारे में दोनों में एक छिपा हुआ समझौता भी नजर आता है।

यद्यपि राजसत्ता पर उलेमाओं के प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, लेकिन एक सीमा से आगे सुलतान को प्रभावित करने की सीमित शक्ति के भी उदाहरण मिलते हैं। इल्तुतमिश के राज्य में कुछ मुस्लिम धार्मिक नेताओं ने सुलतान से अनुरोध किया कि वह मुस्लिम कानून को सख्ती से लागू करें, जिससे हिन्दुओं के समक्ष इस्लाम और मृत्यु के बीच सिर्फ एक को चुनने का ही विकल्प रहे। सुलतान की ओर से उनके वजीर ने इन लोगों को यह स्पष्ट कहा कि यह अव्यावहारिक है, चूँकि मुसलमान आटे में नमक के बराबर ही हैं।

जहाँ तक दिल्ली सल्तनत के अन्तर्गत धार्मिक और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का प्रश्न है अपवादों को छोड़कर स्थानीय स्तर पर यह बनी रही। यद्यपि मंदिर तोड़े गये और व्यक्तिगत स्वतंत्रता को आंच आई, लेकिन फिर भी राजसत्ता के विकेन्द्रीकरण के कारण चाहते हुए भी अनेक सुलतान इसको नष्ट नहीं कर पाये। इनकी नीति यह अवश्य थी कि नये हिन्दू जैन मन्दिर न बनाये जायें क्योंकि मूर्ति पूजा इस्लाम के विरोध में है। लेकिन ये नियम ज्यादातर बड़े कस्बों और शहरों तक ही सीमित रहे, गाँवों में जहाँ मुस्लिम जनसंख्या नगण्य थी, इनकी अनुपालना नहीं हुई। शहरों में भी मुस्लिम शासक इन गतिविधियों को पूर्णतया प्रतिबंधित करने में अपने को असमर्थ पाते थे। जियाउद्दीन बर्नी ने लिखा है कि जलालुद्दीन खिलजी ने केन्द्रीय राजधानी और प्रांतीय राजधानियों तक में देखा कि मूर्तियों की सार्वजनिक रूप से पूजा की जाती थी और हिन्दू ग्रन्थों का पाठ होता था। सुलतान ने स्वीकार किया कि राजमहल की दीवारों के नीचे गाते, नाचते ढोल बजाते और अपनी मूर्तियों को यमुना में बहाते हिन्दुओं के जुलूस निकलते थे और मैं असहाय था।[2] यद्यपि कई क्रूर मुस्लिम शासकों ने हिन्दुओं के बलात धर्म परिवर्तन के अनेक प्रयास किये, लेकिन कुल मिलाकर यही रहा कि एक दिन उन्होंने यह अहसास

---

1 सतीशचन्द्र: मिडियवल इण्डिया नेशनल कौंसिल ऑफ एजुकेशनल रिसर्च एण्ड ट्रेनिंग, पृ. 75-76.

2 सतीशचन्द्र: वही पुस्तक, पृ 77

किया कि हिन्दू धर्म इतना मजबूत है कि इसे शक्ति के द्वारा कुचला नहीं जा सकता। सूफी सन्त शेख निजामुद्दीन औलिया ने भी कहा है कि कई हिन्दू मानते हैं कि इस्लाम सच्चा धर्म है, लेकिन वे इस्लाम ग्रहण करने को तैयार नहीं हैं।[1] बर्नी भी लिखते हैं कि शक्ति के द्वारा हिन्दुओं को बदलना मुश्किल हो गया।[2] बर्नी ने लिखा है कि यद्यपि हिन्दू भयभीत अवश्य हो गये, लेकिन उन्होंने इस्लाम को अपने दिलो से ऐसा निकाल दिया जैसे कि आटे मे से बाल को निकाल दिया जाता है।

मध्य युगीन भारत की राजनीति और सामाजिक जीवन को हिन्दू संत कवियों और सूफी सन्तो के समन्वयवादी दृष्टिकोण ने बड़ा प्रभावित किया है। पन्द्रहवीं शताब्दी के अरब दार्शनिक इब्नी-अरबी का बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने बताया कि सबका ईश्वर एक ही है और सभी धर्म समान हैं। सूफी चिन्तन और हिन्दू चिन्तन के संगम ने मध्य युग की अनेक दशाब्दियों को आलोकित किया। सूफियों ने हिन्दी और संस्कृत का अध्ययन करना प्रारम्भ किया और मलिक मोहम्मद जायसी जैसे कवियों ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया। वैष्णव सम्प्रदाय के कवियों ने सूफी सन्तों के हृदय के मर्मस्थल को स्पर्श किया जो कि परसियन काव्य भी नहीं कर पाया। एक सुप्रसिद्ध सूफी अब्दुल वाहिद बिलग्रामी ने हकीकी हिन्द की रचना की, जिसमें कृष्ण, मुरली, गोपी, राधा, यमुना जैसे शब्दों के अर्थों को गूढ सूफी शैली में समझाया।[3]

सार यह है कि पन्द्रहवीं और प्रारम्भिक सोलहवीं शताब्दी में भक्ति और सूफी सन्तों ने एक ऐसे सामाजिक मंच की पृष्ठभूमि तैयार कर दी जिसमें सभी धर्मों और संप्रदायों के लोग सम्मिलित होने लगे। इससे एक दूसरे से मिलने-जुलने और समझने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई जिसका कालान्तर में राजनीतिक चिन्तन पर भी प्रभाव पड़ा। इसकी झलक आधुनिक भारत के अनेक विचारकों के चिन्तन में स्पष्ट होती है।

□□□

1-2. सतीशचन्द्र वही पुस्तक, पृ 77

3 सतीशचन्द्र वही पुस्तक, पृ 114.

भाग 3

7

आधुनिक काल

संक्षिप्त परिचयात्मक अध्ययन

मुगलकाल की समाप्ति के पश्चात् शनै शनै· भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हुयी जिसके संस्थापको मे क्लाइव, वारेन हेस्टिंग्ज, वैलेजली, डलहौजी के नाम विशेषतौर पर उल्लेखनीय है।

वैसे जहाँगीर के समय से ही यूरोपियों का भारत में आना जाना प्रारंभ हो गया था, लेकिन शाह आलम द्वारा 1765 मे ईस्ट इंडिया कम्पनी को दीवानी अधिकारो का दिया जाना भारत मे अंग्रेजी शासन की स्थापना का प्रथम महत्त्वपूर्ण चरण है। अंग्रेजो की कूटनीति, नियोजित उच्च सैनिक शक्ति, स्थानीय लोगों मे फूट डालने की नीति, देश मे व्याप्त आन्तरिक कलह एवं अन्य षड्यन्त्रपूर्ण कार्यों की वजह से धीरे-धीरे सारा भारत परतंत्र हो गया। यद्यपि इस देश में डच, पुर्तगाली, फ्रासीसी भी आये, लेकिन अंतिम विजयश्री अंग्रेजों को ही मिली।

भारत मे अंग्रेजी शासन के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही पहलू रहे हैं। जहाँ एक ओर पाश्चात्य शिक्षा, विज्ञान और तकनीकी ज्ञान के प्रभाव से देश के बौद्धिक क्षेत्र में उथलपुथल हुई, सामाजिक रूढ़ियो एवं मान्यताओं को चुनौती मिली, लेकिन दूसरी ओर अंग्रेजी राज्य देश के लिये अभिशाप भी सिद्ध हुआ। अंग्रेजो की दमनकारी और भेदभावपूर्ण नीति एवं देश की बिगड़ती आर्थिक स्थिति ने अंग्रेजी शासन के खिलाफ असंतोष पैदा किया जिसके कारण भारतीय राष्ट्रवाद की पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ। भारतीय धर्म-समाज सुधारवाद एवं पुनर्जागरण के चिन्तन ने भारतीय राष्ट्रवाद को सुदृढ बनाया एवं दिशा प्रदान की। पश्चिमी सम्पर्क ने आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनैतिक आन्दोलन को प्रभावित भी किया है और यह पश्चिमी प्रभुत्व के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप भी विकसित हुआ है। हम इस अध्ययन को तीन भागों मे विभाजित कर रहे हैं। पश्चिमी सम्पर्क का सकारात्मक प्रभाव, पश्चिमी प्रभाव के विरुद्ध प्रतिक्रिया और सामाजिक - धार्मिक सुधार आन्दोलन। सर्वप्रथम हम पश्चिम के सकारात्मक प्रभाव का अध्ययन करते हैं।

सकारात्मक प्रभाव

अंग्रेजी भाषा, साहित्य, आवागमन के साधनों की वृद्धि, ब्रिटिश प्रशासन, ब्रिटिश न्याय, यूरोपीय जीवन शैली, वहाँ की सामाजिक संरचना आदि का अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों, सामाजिक धार्मिक सुधारको एवं सामान्य जनता पर भी व्यापक प्रभाव पडा । भारत में अनेक कुरीतियों को दूर करने में पश्चिमी चिन्तन का यथेष्ट योगदान रहा है । बाल विवाह, सती प्रथा, दहेज प्रथा आदि से उत्पन्न सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध सामाजिक चेतना का सूत्रपात हुआ । बौद्धिक स्तर पर जनतंत्र, संविधानवाद, धर्मनिरपेक्षता, धार्मिक सहिष्णुता, स्वतंत्रता, समानता, नारी चेतना, शिक्षा, सामाजिक समरसता, विभिन्नता में एकता आदि (अवधारणायें) विकसित हुई । बुद्धिवाद से वैज्ञानिक चिन्तन विकसित होने लगा । जान लॉक, जे जे रूसो, माटेस्क्यू, बेथम, जान स्टुअर्ट मिल, टी एच. ग्रीन, कार्ल मार्क्स आदि विचारकों का भारतीय प्रबुद्ध वर्ग पर प्रभाव पड़ा ।

अंग्रेजों के आगमन के समय भारत मे केन्द्रीय सत्ता क्षीण होती जा रही थी । मुगल बादशाह नाम मात्र का ही रह गया था, हिन्दुस्तान अनेक छोटी–बड़ी रियासतों मे विभक्त हो गया था, फिर जागीरदार, जमींदार थे । फलस्वरूप केन्द्रीय सत्ता, समान कानून, समान आचार संहिता, समान प्रशासनिक तंत्र का अभाव था । कानून का शासन दृष्टिगोचर नहीं होता था । छोटे बडे शासक अपने ढंग से शासन चलाते थे । अंग्रेजो के शासन से सारा देश एक प्रशासनिक ढाचे के अन्तर्गत आ गया । यद्यपि यह बात दो तिहाई हिन्दुस्तान पर ही लागू होती थी जहाँ अंग्रेजों का प्रत्यक्ष शासन था, लेकिन एक तिहाई देशी राजा महाराजाओ पर भी अनेक ब्रिटिश कानून एवं आदेश लागू होते थे । सार यह है कि सारा हिन्दुस्तान एक हुकूमत के अधीन हो गया जिसके कारण एक राष्ट्र की अवधारणा विकसित हुई । यद्यपि राष्ट्र की अवधारणा बहुत पुरानी है, इसकी उत्पत्ति वैदिक साहित्य में मिलती है, लेकिन राजनैतिक दृष्टि से समूचा हिन्दुस्तान जितना विस्तृत और एक प्रशासनिक ढांचे के अन्तर्गत बंधा हुआ अंग्रेजी काल में था उतना इसके पहिले कभी भी नही था । सार यह है कि राष्ट्र की अवधारणा अधिकांशत. आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और भावनात्मक अधिक थी, न कि राजनैतिक । अंग्रेजी शासनकाल में यह परिवर्तन परिलक्षित हुआ ।

अंग्रेजी शिक्षा का भी बडा भारी प्रभाव पडा । अंग्रेजी शासन काल के पूर्व समान शिक्षा की कोई कल्पना ही नहीं थी । कोई निश्चित राजभाषा भी नहीं थी । केवल भाषा की ही बात नहीं, पाठ्यक्रम भी समान नहीं था, सरकारी नौकरियों में चयन हेतु कोई समान प्रक्रिया भी नहीं थी, चयन मंडल का गठन भी कोई नियमानुसार निर्धारित नहीं था । पात्रता के नियम भी निश्चित नहीं थे, वेतन, भत्ते, सुविधायें, सेवा–शर्तों के बारे में भी कोई समान कानून नहीं थे । शिक्षा की ऐसी कोई डिग्रियाँ नहीं थी जिसकी सारे देश में मान्यता हो और जो नौकरी का सामान्य आधार बने । अंग्रेजी शासन मे अंग्रेजी

को अहमियत मिलना स्वाभाविक था, अंग्रेजी राजभाषा बनी, सरकारी कामकाज के लिए सस्ते क्लर्कों की आवश्यकता पड़ी क्योंकि यूरोप से क्लर्क लाना तो बहुत महगा पड़ता। अंग्रेजी सारे देश के पढ़े लिखे लोगो की भाषा बन गई। इसके पूर्व सारे देश मे एक ऐसी भाषा नहीं थी जिसके माध्यम से एक प्रांत के लोग सुदूर किसी प्रातवासियों से सवाद कर सकें। अंग्रेजी के कारण अखिल भारतीय स्तर के संगठन बनने लगे। 1885 मे इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना में अंग्रेजी की एक महत्वपूर्ण भूमिका रही है। कांग्रेस की कार्यवाहियों और सम्मेलनो की भाषा अब तक अंग्रेजी रही है। अन्य राष्ट्रीय दलो पर भी यह बात लागू होती है। भारतीय ससद मे अब भी अंग्रेजी प्रमुख भाषा बनी हुई है।

अंग्रेजी साहित्य का भी सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। साहित्य समाज का दर्पण है। ब्रिटिश समाज मे औद्योगिक क्रांति और पुनर्जागरण के बाद बड़ा परिवर्तन आया, वहाँ का सामन्तवादी परिवेश बदला, स्त्री-पुरुषो में समानता का भाव जागृत हुआ, जनतात्रिक सस्थाओं के सुदृढ़ीकरण के साथ साथ धार्मिक एवं सामाजिक सहिष्णुता की भावनायें प्रबल हुईं, चिन्तन उदार बना, व्यक्तिगत स्वतत्रता पर बल दिया गया। ये सारे परिवर्तन अंग्रेजी साहित्य मे प्रतिलक्षित हुये। नारी स्वतंत्रता, समानता, व्यक्ति की महत्ता, उदार चिन्तन साहित्य में मुखरित हुआ जिसका उन सभी के मानस पर प्रभाव पड़ा जो अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क मे आये। उदाहरणार्थ कांग्रेस के सभी प्रमुख नेता अंग्रेजी के ज्ञाता और अध्येता थे, इनमें से कई ऐसे लोग हैं जिनकी शिक्षा-दीक्षा ही इंगलैंड मे हुई थी या जिन्होने इगलैंड की यात्रायें की थी।

अंग्रेजी शासन में एक शक्तिशाली और व्यापक मध्यम वर्ग का निर्माण हुआ। इनमें डाक्टर, वकील, अध्यापक, अधिकारी, अधिकाश व्यापारी आदि थे। इनका सीधा संबंध प्रशासन से आया। यह वर्ग अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी साहित्य, अंग्रेजी प्रशासनिक एवं आर्थिक व्यवस्था से जुड़ा जिसके कारण कालान्तर मे इसके मन में ब्रिटिश शासन के प्रति असंतोष भी उपजा। इसी वर्ग से अधिकांश नेता उभरे। इस वर्ग को अंग्रेजों की कथनी और करनी मे अन्तर नजर आया। उदाहरण के लिए जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि अंग्रेज अधिकारी इंगलैंड में स्नेह और सम्मान के साथ व्यवहार करते हैं लेकिन भारत मे आते ही उनका रवैया बदल जाता है। यहाँ वे भारतीयो को गुलाम समझते हैं और इसी प्रकार का बर्ताव भी करते हैं। गोपालकृष्ण गोखले का कथन था कि अंग्रेज हिन्दुस्तान मे वैसा शासन क्यों नहीं करते जैसाकि वे इगलैंड मे करते हैं। सार यह है कि जिन लोगो ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम, सामाजिक और आर्थिक जीवन को प्रभावित किया वे करीब-करीब सभी मध्यम वर्ग के लोग ही तो थे। बैरिस्टर, डाक्टर, वकील, प्रोफेसर, कवि, विचारक, लेखक, प्रशासनिक अधिकारी, सामाजिक कार्यकर्त्ता, सामाजिक एवं धार्मिक सुधारक, संक्षेप में प्रबुद्ध समाज मध्यम वर्ग से ही तो आया है।

यद्यपि ब्रिटिश शासन मे विज्ञान और तकनीकी ज्ञान का अधिक प्रसार तो भारत मे नहीं हुआ लेकिन रेल, तार, डाक, जहाज तो भारतीय जीवन को प्रभावित करने लगे। इन सचार माध्यमो ने जीवन मे हलचल पैदा कर दी। भारत जैसे विशाल देश को एकंसूत्र में पिरोने में इनका बडा योगदान रहा। कांग्रेस के नेता एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने लगे, स्वतत्रता संग्राम मे इन सचार माध्यमों की महती भूमिका रही। यह दिलचस्प गौरतलब बात है कि गाँधी ने ब्रिटिश सामान के बहिष्कार का आन्दोलन तेज किया लेकिन ब्रिटिश रेल के बहिष्कार की बात तक नही की। सचार माध्यमो के कारण ही आवागमन के साधन बढ़े। देश के एक भाग के लोगो को दूसरे भाग के लोगो के नजदीक आने का मौका मिला, विचारो का आदान-प्रदान होने लगा, समाचार पत्र प्रकाशित होकर प्रचारित-प्रसारित होने लगे, व्यापारी दूर-दूर तक जाने लगे, एक दूसरे के रीति-रिवाजो को समझने, भ्रांतियो को दूर करने, सौहार्दपूर्ण वातावरण मे रहने, एक प्रात के लोगों को दूसरे प्रांत मे जाकर नौकरियाँ करने के अवसर मिलने लगे। इससे राष्ट्रीय एकता की भावना जगी। समान प्रशासनिक ढाचे एव प्रक्रिया का भारतीय समाज पर एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। जैसा कि पूर्व पृष्ठो मे जिक्र भी किया गया है कि अंग्रेजी शासन के पूर्व देश मे केन्द्रीय सत्ता अत्यन्त क्षीण हो चुकी थी और देश अनेक राजनीतिक इकाइयो, प्रशासनिक ढाँचो, प्रक्रियाओ, विभिन्न नियमो मे विभक्त हो गया था। अग्रेजो ने जिस केन्द्रीय सत्ता की स्थापना की उससे प्रशासनिक एकरूपता आई, केन्द्रीकृत नौकरशाही विकसित हुई, प्रशासनिक अनुशासन का अनुभव होने लगा। इससे जनता सुरक्षा और शाति महसूस करने लगी। प्रशासन नियमो के अनुसार संचालित होने लगा और इस प्रकार एक नई प्रशासनिक संस्कृति का अभ्युदय हुआ। भारत को एक राष्ट्र के रूप में संगठित करने मे ये सभी तत्व सहायक सिद्ध हुये।

हम ब्रिटिश शासन के भारतीय समाज पर पड़े सकारात्मक प्रभाव के बारे में प्रोफेसर के पी करुनाकरन[1] के इस मत से सहमत हैं। उनके अनुसार "ब्रिटेन ने भारत में नये प्रशासनिक एवं अन्य संस्थाओं का सूत्रपात कर एक महत्वपूर्ण कार्य किया। इन सबमें अत्यन्त महत्वपूर्ण आधुनिक राज्य का ढाँचा, कुशल प्रशासनिक तंत्र एवं सेना को गिनाया जा सकता है। भारत के इस राजनीतिक और प्रशासनिक एकीकरण के बाद आर्थिक एकीकरण हुआ। इसके साथ ही आवागमन एवं संचार साधनो में वृद्धि हुई। इन सबका मिला जुला प्रभाव यह रहा कि लोगों में राजनीतिक एकता का सूत्रपात हुआ जोकि राष्ट्रीय-चेतना की प्रथम आवश्यक शर्त हुआ करती है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बावजूद परस्पर दिखने वाली विरोधी राजनीतिक विचारधाराओं के जिनसे दो अलग-अलग कालों में ब्रिटिश नीति प्रभावित हुई, पश्चिमी विचारो और संस्थाओं

---

1 के पी करुनाकरन, वही पुस्तक, पृ 6-7.

के भारत पर पड़ने वाले प्रभाव को इसी रूप में आँका जा सकता है कि इसने आधुनिक राज्य और समाज को जन्म दिया।"

ब्रिटिश शासन का एक अन्य सकारात्मक पक्ष सामाजिक परिवर्तन से जुड़ा हुआ है। यद्यपि ब्रिटिश शासकों ने भारतीय सामाजिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप की नीति को ही पसन्द किया, लेकिन वह प्रतिक्रियावादी भी नहीं थे। भारत का पिछड़ापन उनके हितों के अनुकूल था, लेकिन जहाँ आवश्यक हुआ उन्होंने कानून के माध्यम से कुछ सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने में भी कोई हिचकिचाहट नहीं दिखाई बल्कि भारतीय सामाजिक एवं धार्मिक सुधारकों के साथ सहयोग किया। इस संबंध में प्रोफेसर वी. पी. वर्मा[1] के विचार उद्धृत करने योग्य हैं। उन्होंने लिखा है कि "ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा पूँजीवाद के आगमन का सामाजिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ा। बड़ी धीमी गति से ऐसे कानून बनवाने की दिशा में प्रयत्न किये गये जिनका उद्देश्य स्त्रियों की स्थिति को उठाना तथा विवाह–पद्धति में कुछ आंशिक सुधार करना था। केशवचन्द्र सेन, दयानन्द, विद्यासागर, तेलंग तथा रानाडे समाज–सुधार का खुलकर समर्थन तथा नेतृत्व करने वाले थे। समाज–सुधार के लिए कानून बनाने के क्षेत्र में विदेशी शासक अहस्तक्षेप की नीति का अनुगमन करना चाहते थे। वे देश के सामाजिक ढाँचे में हस्तक्षेप करने के पक्ष में नहीं थे। अंग्रेजों की सामाजिक अहस्तक्षेप की इस नीति का दो प्रकार से विवेचन किया जा सकता है। कुछ विद्वानों के मतानुसार अंग्रेजों की नीति थी कि भारत में मध्ययुगीन सामाजिक व्यवस्था को कायम रखा जाय क्योंकि इससे उनके राजनीतिक आधिपत्य की नींव मजबूत होगी। कदाचित् उन्हें भय था कि अन्ततोगत्वा सामाजिक मुक्ति से विदेशी आधिपत्य से राजनीतिक मुक्ति पाने का मार्ग प्रशस्त होगा। किन्तु यह विचार कटु प्रतीत होता है। इस कथन में सत्यांश हो सकता है कि भारतीय समाज के ब्राह्मण, पुरोहित तथा जमींदार आदि कुछ तत्व परम्परागत मध्ययुगीन दृष्टिकोण के पोषक थे। किन्तु यह कहना अति उग्र होगा कि अंग्रेजों ने स्त्रियों तथा दलित वर्गों के उद्धार के लिए कानून इस भय से नहीं बनाये कि उनके उत्थान से ऐसी प्रचण्ड शक्ति उत्पन्न हो जायेगी जो अन्त में ब्रिटेन के राजनीतिक आधिपत्य को ही नष्ट कर देगी। अंग्रेजों की नीति का दूसरा निर्वचन यह है कि उनकी अभिरुचि मुख्यतः राजनीतिक शासन तथा आर्थिक लाभ में ही थी। उन्होंने सामाजिक अहस्तक्षेप की नीति का अनुगमन करके इसलिये सन्तोष कर लिया कि सामाजिक समस्यायें उनके लिए अत्यन्त अप्रासंगिक थी। यह कहना भी संभव है कि उन्होंने सामाजिक क्षेत्र में तटस्थता की नीति का अनुसरण इसलिये किया कि वे उन सामाजिक तत्वों को अप्रसन्न करने से डरते थे जिन पर उनके सामाजिक कानूनों का विपरीत प्रभाव पड़ा। फिर भी यह सत्य है कि भारत में ब्रिटिश शक्ति की वृद्धि के साथ–साथ कुछ अंशों में महत्वपूर्ण सामाजिक कानूनों का भी निर्माण किया गया।"

---

1. वी. पी. वर्मा, वही पुस्तक, पृ 12.

नकारात्मक पहलू

ब्रिटिश शासन का नकारात्मक पहलू भी है जिसने अन्ततोगत्वा उसके विरुद्ध असतोष को जन्म दिया। एरिक स्टोक्स[1] ने बड़ी सटीक बात कही है। उनके अनुसार भारत में अपने शासन के प्रारंभिक काल मे अंग्रेजों का दृष्टिकोण इस प्रकार रहा। "अंग्रेजी सभ्यता के मिशन की खुले आम अपने रंग में रंग लेने की नीति का अनुसरण कर रहे थे। ब्रिटेन अपनी छवि की भारत पर छाप लगाना चाहता था। पूर्व और पश्चिम की भौगोलिक और मानसिक दूरियो को विज्ञान के आविष्कारो, व्यापारिक घुसपैठ एवं अंग्रेजी कानूनों और अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से नष्ट किया जाना था। ऐसा अपने शासन के प्रारंभिक निर्विघ्नकाल में अंग्रेजी उदारवाद का भारत में यही दृष्टिकोण था और इसका भारत और इंगलैंड मे सर्वाधिक प्रतिनिधित्व करने वाला लार्ड मैकाले था।"

ब्रिटिश काल मे भारतीय अर्थ-व्यवस्था को भारी धक्का लगा। ब्रिटिश आगमन के पूर्व भारतीय अर्थव्यवस्था की कुछ विशेषतायें थीं जिनके कारण आर्थिक जीवन मे स्थायित्व एवं सन्तुलन था। कार्ल मार्क्स[2] ने अंग्रेजों के आगमन के पूर्व तत्कालीन भारतीय अर्थव्यवस्था के मूल तत्वों का वर्णन करते हुए लिखा है कि आत्मनिर्भरता, कृषि और उद्योग के बीच सन्तुलन, आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा का अभाव, भिन्न-भिन्न पेशेवर समूहों के मध्य अन्त निर्भरता भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था की विशेषतायें थी। इससे ग्रामीण जीवन मे अद्भुत संगठन था, और यही मुख्य कारण था कि भारतीय समाज इतना स्थायी और अपरिवर्तनशील रहा। कार्ल मार्क्स की यह बात काफी सही है। वैसे भारत तत्कालीन विश्व के सर्वाधिक औद्योगिक देशों में एक था। ढाका की मलमल विश्वविख्यात थी। अन्य उद्योगों में भी भारत का महत्त्वपूर्ण स्थान था। भारत का माल दूर-दूर तक जाता था। लेकिन यह सब ब्रिटिश शासन के सुदृढ़ीकरण के साथ ही चौपट हो गया। ग्रामीण अर्थव्यवस्था को सबसे पहला धक्का लगा। जमींदारी और जागीरदारी व्यवस्था के अन्तर्गत किसानो की हालत बिगड़ गई। 1882 की जनगणना के अनुसार भारत में 75 लाख भूमिहीन श्रमिक थे। सार यह है कि ब्रिटिश शासन में भारतीय अर्थव्यवस्था को भारी धक्का लगा। परम्परागत उद्योग नष्ट हो गये, नये उद्योगों को राज्याश्रय और प्रोत्साहन नहीं मिला, देश का धन इंगलैंड जाने लगा, बार बार अकाल पड़ने लगे और सरकार ने देश की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिये कोई कारगर कदम नहीं उठाये। बजट का बहुत बड़ा भाग बड़े-बड़े अधिकारियों के वेतन, भत्ते, खाखाव पर खर्च हो जाता था और ये अधिकारी प्राय. यूरोपियन ही थे। दादाभाई नौरोजी ने 'पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इन्डिया' में बताया है कि तत्कालीन ब्रिटिश भारत मे सभी स्रोतों से होने वाली राष्ट्रीय आय प्रति व्यक्ति केवल बीस रुपये वार्षिक थी।

---

1 एरिक स्टोक्स दी इंगलिश यूटिलिटेरियन्स एण्ड इन्डिया, आक्सफोर्ड, क्लेरेन्डन प्रेस, 1959, पृ 13-14

2. कार्ल मार्क्स कैपीटल, वोल्यूम I, पृ 358

अंग्रेजों के विजयी राष्ट्र के उन्माद ने भी भारतीयों के स्वाभिमान को चुनौती दी। प्रबल यूरोपीय संस्कृति की अवधारणा को भारत का चेतन मन स्वीकार करने को तैयार नहीं था। इस चुनौती का सामना करने के लिए भारत अपने अतीत की ओर मुड़ा और वहाँ उसे प्रेरणा का अद्भुत स्रोत प्राप्त हुआ। परकीय राजनीतिक शक्ति के आघात से राष्ट्रीय आत्मा जगी, प्रेरणादायक राष्ट्रीय साहित्य का सृजन हुआ और अपनी खोई अस्मिता को पुन: प्राप्त करने का राष्ट्रीय संकल्प विकसित हुआ।

अंग्रेजी उदारवाद भारत में प्रशासनिक स्तर पर अनुदार, भेदभावपूर्ण एवं जातीय उन्माद से ग्रस्त ही सिद्ध हुआ। इल्बर्ट बिल विवाद से तो यह सिद्ध हो गया कि अंग्रेज शासक जातीयता की संकीर्ण मनोवृत्ति से ग्रस्त हैं, ब्रिटिश न्याय की निष्पक्षता संदिग्ध है, कानून भेदभावपूर्ण है। विदेशी कम्पनियों और यूरोपीय व्यापारिक संगठनों को मिले राज्याश्रय से स्पष्ट हो गया कि अंग्रेज इस देश में केवल सत्ता भोगने, इस देश का आर्थिक शोषण करने के लिए आये हैं। इनको उन जनतांत्रिक मूल्यों के कार्यान्वियन से कोई मतलब नहीं है जिनकी ये दुहाई देते हैं और जिनके अनुसार इंगलैंड में शासन करने का ढोल पीटते हैं। अंग्रेजों द्वारा किये गये संवैधानिक सुधार कितने शर्मनाक थे, यह बात कालान्तर में भारतीय मानस को उद्वेलित करने लगी। सार यह है कि भारत में "अनब्रिटिश ब्रिटिश रूल" अनेक नकारात्मक पहलुओं को लिये हुए था जिनके कारण अंग्रेजी शासन के खिलाफ असंतोष उत्पन्न हुआ जो कालान्तर में विस्फोटक सिद्ध हुआ।

धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलन

ब्रिटिश शासन काल के पूर्व से ही इस देश में अनेक धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलन हुये हैं जिनका उद्देश्य तत्कालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों, अन्धविश्वासों एवं अन्य बुराइयों को दूर करना रहा है। मध्य युग में भी ऐसे सुधारक, सन्त, सूफी, कवि, विचारक हुये हैं। लेकिन मध्ययुग और आधुनिक युग में एक बड़ा अन्तर रहा है और वह यह कि मध्ययुग में इन सुधारकों का क्षेत्र केवल समाज और धर्म रहा है, आधुनिक युग में इनके साथ सत्ता पक्ष और जुड़ गया। यद्यपि मुसलमान भी बाहर से ही आये थे, लेकिन वे यहाँ आये और बस गये। लेकिन यूरोपीय आये, हुकूमत की और यहाँ बसे नहीं। मुसलमान शासक भी थे तो शासित भी, लेकिन अंग्रेज केवल शासक ही थे। अंग्रेज गवर्नर जनरल, गवर्नर, आई. सी. एस. या अन्य कोई भी अधिकारी अपना कार्यकाल समाप्त कर इंगलैंड वापिस चले गये, भारत के शासन की बागडोर लन्दन से संचालित होती थी, ब्रिटिश संसद भारत के लिये कानून बनाती थी, वहाँ की प्रिवी कौंसिल सर्वोच्च न्यायालय का काम करती थी, इंगलैंड का राजा भारत का बादशाह कहलाता था। कहने का अर्थ यह है कि जबकि मुसलमान इस देश के हो गये, अंग्रेजों ने अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखा और अपने को शासक वर्ग तक सीमित रखा।

यहाँ इतना स्पष्ट करना आवश्यक है कि मध्ययुग में अनेक हिन्दू कवियों, विचारकों

ने इस्लाम के बढते प्रभाव से हिन्दू समाज को बचाने का अवश्य प्रयास किया, लेकिन उनका उद्देश्य मुस्लिम सत्ता को चुनौती देना नहीं था। हिन्दू समाज अनेक जातियों, धर्मों, सम्प्रदायों, मत-मतान्तरों मे इतना विभक्त था कि वह मुस्लिम सत्ता को चुनौती देने मे समर्थ भी नहीं था। अत: हिन्दू समाज अपने पुरातन की ओर झांकने लगा, अपने आदर्श पुरुषों की ओर प्रेरणा हेतु देखने लगा। तुलसीदास द्वारा रामचरित मानस इसी उद्देश्य से प्रेरित महाकाव्य है। दूसरी ओर हिन्दूधर्म और इस्लाम के बीच सवाद भी प्रारंभ हुआ, दोनों की अच्छाइयों पर चर्चा होने लगी और एक मिलीजुली सस्कृति के विकसित किये जाने के प्रयास हुये। धर्मशास्त्र और शरियत को लेकर अनेक रचनाये, व्याख्याये होने लगीं। भक्ति और सूफी आन्दोलनों ने जीवन दर्शन की शाश्वतता, सार्वभौमिकता, पारलौकिकता पर समाज का ध्यान केन्द्रित किया। कबीर का संदेश हिन्दू मुस्लिम भेदभाव की परिधि से ऊपर चला गया, उनका सदेश जीवन दर्शन से जुडा हुआ है। मुसलमान होते हुए भी रसखान ने कृष्ण के जीवन पर अमर काव्य की रचना की। अकबर का दीने-इलाही एक शक्तिशाली लेकिन विवेकशील बादशाह का हिन्दू-मुस्लिम एकता की दिशा में एक सक्रिय प्रयास था। लेकिन आधुनिक युग के सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आन्दोलनों का सबंध समाज और धर्म मे अपेक्षित सुधार कर भारत की अस्मिता की रक्षा करना भी था। जब राष्ट्रीय अस्मिता और गौरव की बात आती है तो निश्चित रूप से यह तब तक सभव नहीं है जब तक कि देश की अपनी राजनीतिक व्यवस्था न हो। स्वतत्र समाज परतंत्र राजनीतिक व्यवस्था की परिधि मे संभव नहीं है। अत: राष्ट्रीय स्वतत्रता की अवधारणा भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इन सुधार आन्दोलनों से जुड गई।

सक्षेप मे, इन सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आन्दोलनों के दो उद्देश्य हो गये- समाज और धर्म में व्याप्त बुराइयों, विसंगतियो को दूर करना और अन्ततोगत्वा ऐसी राज व्यवस्था के निर्माण की दिशा को प्रशस्त करना जिसमे राष्ट्रीय अस्मिता की रक्षा हो सके। ये सुधार आन्दोलन पश्चिम से प्रभावित भी है और पश्चिमी प्रभाव की प्रतिक्रिया भी है। उदाहरणार्थ ब्रह्म समाज पश्चिम से प्रभावित आन्दोलन है लेकिन यह बात आर्य समाज के बारे मे नहीं कही जा सकती। जहाँ तक नेताओं का प्रश्न है राजा राममोहन राय, महादेव गोविन्द रानाडे, गोपालकृष्ण गोखले, जवाहरलाल नेहरू पश्चिमी विचारधारा एवं राजनीतिक, सामाजिक व्यवस्था से प्रभावित है लेकिन विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय, विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द और मोहनदास कर्मचन्द गाँधी के बारे मे यह नहीं कहा जा सकता। ये कहीं-कहीं पश्चिम से प्रभावित हैं तो भी उनका समग्र चिन्तन भारतीयता से ओतप्रोत है और उनका प्रेरणा स्रोत प्राचीन भारत है। लेकिन प्राचीन भारत को भी इन्होंने अपने ढंग से देखा और समझा है। विवेकानन्द, अरविन्द, तिलक और गाँधी की हिन्दुत्व की अवधारणा एक सी नहीं है और न ही इनकी प्राचीन भारत की व्याख्या ही एक सी है। लेकिन इन सबने भारतीय समाज को झकझोरा है, सुषुप्त

राष्ट्र की आत्मा को जगाया है, भविष्य का रास्ता दिखाया है। ये विचारक भिन्न-भिन्न वैचारिक धरातल पर खडे हुये भी एक से ही लगते है जिन्होंने आधुनिक भारतीय चिन्तन को आलोकित किया है, चिन्तन को कर्म की भूमि पर उतारा है।

प्रोफेसर रजनी कोठारी[1] भारत मे परम्परा और परिवर्तन से संबधित चार महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख करते हैं। उनका मानना है कि भारत के सामाजिक और राजनीतिक ढाँचे मे दूरगामी परिवर्तनो के क्रम मे एक महत्त्वपूर्ण बात यह रही है कि देश का आधुनिक विचारों, संचार एवं आवागमन के साधनो, सस्थाओ और तकनीक से सपर्क आया। भारतीय परम्परा मे ही परिवर्तन निहित है और इसलिये परिवर्तन आया इसको कोठारी पूर्णरूप से स्वीकार नहीं करते। नि:सन्देह औपनिवेशिक प्रभाव के साथ परम्परा में परिवर्तन प्रतिलक्षित होने लगा था, लेकिन सच यह है कि इस परिवर्तन का मुख्य कारण पश्चिमीकरण ही है। भारतीय समाज अपने समृद्ध इतिहास और परम्परा को लेकर जिस प्रकार इस प्रभाव के अनुकूल बना इसकी भूमिका को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

प्रो कोठारी इस परिवर्तन के पीछे जो दूसरी बात बताते हैं वह है समाज के केन्द्र मे एक नये अभिजन वर्ग का उदय। यह वर्ग परिवर्तन का शक्तिशाली वाहक बना, इसने एक नई विचारधारा के आधार पर परम्परागत समाज का नेतृत्व किया, इसे रास्ता और दिशा दी। इनमे से अधिकांश पश्चिमी शिक्षा प्राप्त थे और उच्च जातियो से संबधित थे।

परम्परागत ढाँचो को परिवर्तित करने वाले विशिष्ट करिश्माई व्यक्तित्व थे जिनका समाज पर बड़ा व्यापक प्रभाव था। प्रोफेसर कोठारी का कथन है कि भारत इस मामले मे भाग्यशाली रहा है कि ऐसे विशिष्ट व्यक्तियो की शृंखला मे निरन्तरता रही है। कोठारी ने गाँधी, नेहरू और पटेल का उल्लेख किया है लेकिन उनके परे आधुनिक भारत के कुछ और नाम गिनाये जा सकते हैं जिनमे रामकृष्ण परमहस, विवेकानन्द और तिलक के नाम जोड़े जा सकते हैं।

अंतिम बात इंडियन नेशनल कांग्रेस के रूप मे एक महान संगठन से संबंधित है। एक विशाल संगठन के अभाव मे यह होना सम्भव नही था। कोठारी का कथन है कि कांग्रेस मे बड़े लोगो के नेतृत्व के साथ-साथ, एक जादुई प्रभाव और जनता तक यह संदेश भेजने की क्षमता भी थी।

प्रोफेसर योगेन्द्रसिंह[2] के अनुसार आधुनिक भारत के निर्माण की दिशा मे राष्ट्रवाद और प्रजातंत्र की राजनीतिक संस्कृति की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्रवाद एक राष्ट्र की

---

1. रजनी कोठारी, पॉलिटिक्स इन इंडिया, ओरियन्ट लॉगमैन लिमिटेड, पृ 96-97
2. योगेन्द्रसिंह, मोडर्नाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडिशन, थामसन प्रेस (इंडिया) लिमिटेड, पृ 113-114

चेतना और राजनीतिक पहचान से जुड़ा हुआ है जो कि राजनीतिक सहमति से उत्पन्न होता है। इसकी समाजशास्त्रीय अभिव्यक्ति एक राष्ट्र–राज्य का ही विचार है। जनतंत्र एक विशेष प्रकार का राजनीतिक संगठन और मूल्यो की व्यवस्था है जिस पर राष्ट्र–राज्य स्थापित किया जा सकता है। ...... भारत मे राष्ट्रवाद और जनतंत्र भिन्न ऐतिहासिक संदर्भ मे आये हैं। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे भारतीय राष्ट्रवाद जनतांत्रिक राज व्यवस्था का पूर्ववर्ती है, यह पूर्णतया पश्चिमी ढांचे पर निर्मित नहीं है। राममोहन राय से लेकर गाँधी तक राष्ट्रीय चेतना भारतीय परम्परा की ओर उन्मुख रही, चाहे दृष्टिकोणों में थोड़ा बहुत अन्तर रहा हो। राष्ट्रीय नेता आधुनिकता के पक्षधर अवश्य रहे, लेकिन उन्होंने परम्परागत सांस्कृतिक पहचान को तिलांजलि देकर ऐसा कभी नहीं चाहा। तिलक और गाँधी इस प्रकार के आन्दोलन के उन समर्थकों मे रहे जिनकी राष्ट्रवाद की अवधारणा का प्राचीन हिन्दू परम्परा से गहरा जुड़ाव था। भारतीय राष्ट्रवाद के अभ्युदय मे गाँधी की विशेष ऐतिहासिक भूमिका रही है जो कि भारतीय राजनीतिक प्रक्रिया को अद्वितीय बनाती है।

सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आन्दोलन एवं उनके प्रणेता

ब्रह्म समाज एवं राजा राममोहन राय

ब्रह्म समाज की स्थापना आधुनिक भारत के पुनर्जागरण के इतिहास की प्रारंभिक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है। ब्रह्म समाज प्राचीन भारत के श्रेष्ठ तत्त्वों की पुनर्स्थापना एवं कुरीतियों, अन्धविश्वासों एव कलुषित परम्पराओं के उन्मूलन का ठोस प्रयास है। संक्षेप मे इसने एकेश्वरवाद, मानववाद, अद्वैतवाद, धर्मनिरपेक्षतावाद, स्वायत्तता, समानता, सामाजिक–आर्थिक न्याय, नारी स्वतंत्रता पर जोर दिया। मूर्ति–पूजा का भी इसने विरोध किया।

राजा राममोहन राय (1772-1833)

राजा राममोहन राय अद्भुत प्रतिभा के धनी थे। वह बाल्यकाल से ही धर्म, संस्कृति और समाज के गूढ तत्त्वो मे रुचि लेने लगे। उन्होने अनेक भाषाओं एवं धर्मों का गहरा अध्ययन किया। केवल सोलह वर्ष की अल्प आयु मे ही उन्होने फारसी मे मूर्ति पूजा के विरोध में एक छोटी सी पुस्तक की रचना कर डाली। उन्होने हिन्दू धर्म, इस्लाम और बौद्ध धर्म का गहन अध्ययन किया। वह ईस्ट इंडिया कम्पनी की नौकरी में भी रहे लेकिन 1814 मे नौकरी छोड़कर अपना स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने लगे। 20 अगस्त 1828 को उन्होंने ब्रह्मसमाज की स्थापना की जिसका देश के बौद्धिक एवं सामाजिक जीवन में बड़ा योगदान रहा है।

वी. मजूमदार राजा राममोहन की अरस्तू से इस रूप में तुलना करते हैं कि जो

स्थान अरस्तू का पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन में है वही राममोहन राय का आधुनिक भारत के राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में है। यह मत अतिशयोक्तिपूर्ण कहा जा सकता है लेकिन इसमे कोई सन्देह नहीं कि वह बगाली पुनर्जागरण के पितामह थे और यह आन्दोलन धीरे-धीरे समूचे भारत मे फैल गया। इस प्रकार राजा राममोहन राय को उनके अथाह चिन्तन, कर्मनिष्ठा और सामाजिक, धार्मिक कुरीतियो एव अन्धविश्वासों के विरुद्ध सतत सघर्षशीलता के कारण आधुनिक भारतीय सुधार आन्दोलन के जनक के रूप मे माना जाता है।

राममोहन राय ने विवेक, बुद्धिवाद, सहिष्णुता, सह अस्तित्व पर जोर दिया। यद्यपि वह ब्रिटिश शासन के प्रशसक माने जाते है लेकिन इसको एक विशेष सन्दर्भ में ही समझा जाना चाहिये। सदियों पुरानी कलुषित परम्पराओ, विवेकहीन रूढ़ियो, धर्म के नाम पर होने वाले अत्याचारो एव सामाजिक शोषण के विरुद्ध आन्दोलन में उन्हें ब्रिटिश शासन का सहयोग मिला और इसलिये उन्हें लगा कि भारत मे प्रस्तावित परिवर्तन मे शासन का दर्शन बाधक नही बल्कि सहायक है। उदाहरणार्थ सती प्रथा के उन्मूलन मे तत्कालीन गवर्नर जनरल विलियम बैंटिक का सक्रिय सहयोग मिला जबकि समकालीन अनेक भारतीयो ने राजा राममोहन राय की तीव्र आलोचना की। राममोहन राय को लगा कि आधुनिक भारत के निर्माण मे अग्रेजी भाषा की महत्ती भूमिका रहेगी और इसलिये उन्होने 1823 मे सरकार द्वारा प्रस्तावित सस्कृत कॉलेज की स्थापना का विरोध किया और सुझाव दिया कि इसके एवज मे अग्रेजी शिक्षा का सस्थान स्थापित किया जाना चाहिये।

सार रूप मे यही कहा जा सकता है राममोहन राय व्यक्तिगत स्वतंत्रता के पक्षधर थे। इसके लिए प्रेस की स्वतंत्रता पर उनका जोर था। उन्होने प्रेस की स्वतंत्रता के लिए किंग-इन-कौंसिल मे भी अपील की। उसका यह उद्धरण[1] स्पष्ट करता है कि प्रेस की स्वतंत्रता के लिए वह कितने प्रतिबद्ध थे। उन्होंने कहा "सत्तारूढ़ लोग अपने आचरण पर प्रेस द्वारा किये जाने वाले आक्रमण के डर के कारण प्राय: यह भ्राति फैला देते हैं कि प्रेस की स्वतंत्रता सरकार के विरुद्ध असन्तोष पैदा कर देती है। लेकिन एक स्वतंत्र प्रेस ने दुनिया के किसी भी भाग मे क्रांति पैदा नही की है क्योंकि मनुष्य स्थानीय अधिकारियों के आचरण से उत्पन्न शिकायते सर्वोच्च सरकार के समक्ष प्रस्तुत कर सकते हैं और इस प्रकार शिकायतो के निवारण के कारण असतोष उत्पन्न नहीं होता जो कि वस्तुत: क्रांति का कारण बनता।"

राममोहन राय ने राजनीतिक स्वाधीनता के लिए भी जिहाद छेड़ा। उनका विचार था कि स्वतंत्रता के शत्रुओ और तानाशाही के मित्रों को सच्ची विजय प्राप्त नही होती है। वाल्टेयर, मांटेस्क्यू, रूसो की भाँति उन्होने भी स्वतंत्रता के प्रति अपनी प्रतिबद्धता

1 विष्णु भगवान द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 4-5

प्रदर्शित की। वह राष्ट्र की स्वाधीनता की भी चर्चा करते थे, लेकिन अपनी बात का प्रारंभ व्यक्ति की स्वतंत्रता से करते थे जो कि मनुष्य जाति की अमूल्य धरोहर है।

समाज सुधारक के रूप मे राममोहन राय का बहुत बडा स्थान है। सती प्रथा को कानून के द्वारा बन्द कराने में उनका अभिनन्दनीय प्रयास था। सामाजिक चेतना को जगाने में उनका प्रयास महत्वपूर्ण था। वह मानते थे कि सती प्रथा बालविवाह आदि सामाजिक कुरीतियो के मूल मे संकीर्ण मस्तिष्क और स्वार्थलिप्सा है। उन्होने हिन्दू परम्परा का अध्ययन कर सिद्ध करने का प्रयास किया कि सतीप्रथा एवं मूर्तिपूजा का इसमे कोई स्थान नहीं है। सती प्रथा के समर्थक वे लोग हैं जो विधवा को समाज पर भार समझते हैं।

मानववादी के रूप मे भी राजा राममोहन राय को जाना जाता है। वह मानवीय मूल्यों की वकालत करते थे जिनमे सहयोग, सहिष्णुता, प्रेम, भ्रातृभाव, विश्वास मुख्य थे। उन्होने कबीर, नानक, दादू एवं अन्य संतो के उपदेशो को सामाजिक परिवेश में समझाने का प्रयास किया। उनके द्वारा शाश्वतता और मानवता पर बल दिया गया जिसकी प्रसिद्ध अंग्रेज विचारक जर्मी बेन्थम[1] ने भी भूरि-भूरि प्रशंसा की। एक पत्र में बेन्थम ने लिखा "एक पुस्तक के माध्यम से मुझे आपकी कृतियों का पता चला और यदि हिन्दू नाम नहीं होता तो मैं उनकी शैली से यही सोचता कि ये किसी अत्यन्त सुशिक्षित एवं प्रशिक्षित अंग्रेज की कलम की रचनायें हैं।"

राजा ने कानून, न्यायिक सुधार और नैतिकता पर भी पर्याप्त बल दिया। उन्होंने इस बात को स्वीकार नहीं किया कि सारे अनैतिक कार्य गैर कानूनी होते हैं। नैतिकता का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है, लेकिन कानून का नहीं। वह भारतीय उदारवाद के जनक भी कहे जा सकते हैं। व्यक्तिगत एवं राजनीतिक स्वतंत्रता जिनमे अभिव्यक्ति और प्रेस की भी स्वतंत्रता निहित है उनके चिन्तन और कर्म के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। भारतीय उदारवाद के प्रणेता के रूप मे बी एन नायक[2] ने राजा राममोहन राय के बारे मे लिखा है कि "वह स्वयं स्वतंत्रता के मंदिर के निष्ठावान पुजारी थे, उन्होने 1820 में ही यह अनुभव कर लिया था कि स्वतंत्रता का तब ही आनन्द लिया जा सकता है जबकि वह व्यवस्थित हो, स्वतंत्रता एक व्यवस्था भी है तो इसकी अपनी सीमायें भी हैं। सामाजिक और धार्मिक सुधारो के क्षेत्र में और साथ ही पत्रकारिता और राजनीति के क्षेत्र मे उनका प्रयास अपने देशवासियों को न केवल अपने अधिकारों के प्रति जागरुक बनाना था बल्कि समाज के प्रति उनके दायित्वों का भी उन्हे बोध कराना था।"

राज्य के संबंध में उनका यह विचार था कि सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन में

1 कार्टनिंग वर्क्स ऑफ बेन्थम, वोल्यूम 10 पृ 586 विष्णु भगवान द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 8
2. बी एन नायक, इन्डियन लिबरलिज्म, पृ 1 विष्णु भगवान द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 10

राज्य की महती भूमिका है। सती प्रथा के उन्मूलन में उनका योगदान सर्वविदित है। लोभी और संवेदनहीन जमींदारों से शोषित किसानों और श्रमिकों को राहत दिलवाने के लिए भी उन्होंने कानून बनाने के लिए संघर्ष किया। लेकिन राजा राममोहन राय को समाजवादी नहीं कहा जा सकता, वह उदारवादी हैं, मनुष्य की स्वतंत्रता के साथ व्यक्तिगत सम्पति के भी वह समर्थक थे क्योंकि उनकी मान्यता थी कि स्वतंत्रता को अक्षुण्ण बनाये रखने मे सम्पति आवश्यक है।

सार यह है कि आधुनिक भारतीय पुनर्जागरण एवं उदारवाद के वह जनक थे। उन्होंने धर्म और संस्कृति के क्षेत्र मे सहिष्णुता, समन्वय, विवेक, भ्रातृभाव, सह अस्तित्व प्रेम, सहयोग, समानता पर बल दिया। उन्होंने हिन्दू धर्म, इस्लाम और ईसाई धर्म में एक समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने पूर्व और पश्चिम के बीच एक सेतु बनाने का श्रम किया। उन्होंने भारतीय उदारवादियो की संपूर्ण पीढ़ी को प्रभावित किया है जिनमे दादा भाई नौरोजी, महादेव गोविन्द रानाडे एवं गोपाल कृष्ण गोखले प्रमुख हैं।

आर्य समाज और स्वामी दयानन्द सरस्वती

ब्रह्म समाज ने जनमानस को इतना उद्वेलित नहीं किया जितना कि आर्य समाज ने किया। यह एक प्रकार का जन आन्दोलन बन गया जिसने सामाजिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और यहाँ तक कि राजनैतिक क्षेत्र को प्रभावित किया। जहाँ ब्रह्म समाज ने पश्चिमी और पूर्वी संस्कृतियों के मध्य तालमेल एवं समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया, आर्य समाज ने प्राचीन भारत और विशेष तौर पर वेदो से स्फूर्ति और प्रेरणा ग्रहण की। भाग्यवाद की भर्त्सना कर इसने कर्म पर जोर दिया। इसने हिन्दू समाज में व्याप्त कुरीतियो पर प्रबल प्रहार किया और उनमें धार्मिक राष्ट्रवाद की चेतना का संचार किया। बाल विवाह, मूर्तिपूजा और जाति प्रथा की कुरीतियो एवं अन्धविश्वासो के विरुद्ध सतत संघर्ष के द्वारा आर्य समाज शहरी और ग्रामीण दोनो ही क्षेत्रो मे एक प्रचण्ड शक्ति बन गया। यह न परम्परा विरोधी है और न ही इसका समर्थक, स्वस्थ परम्पराओ से प्रेरणा, साहस, स्वावलम्बन, स्फूर्ति मिलती है जबकि दूषित परम्परायें समाज की अस्मिता को नष्ट करती हैं। आर्य समाज ने न केवल सामाजिक परिवर्तन को ही दिशा दी बल्कि राष्ट्रीय स्वाभिमान को भी जगाया। शिक्षा के क्षेत्र में इसका अभूतपूर्व योगदान रहा है, डी ए वी स्कूलो और कॉलेजो का उत्तरी भारत मे जाल सा बिछ गया। अनेक आर्य समाजियो ने राजनीति, शासन और प्रशासन में उच्च स्थान अर्जित किये हैं। हिन्दू समाज को अनेक व्याधियो से इसने मुक्त किया है।

आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती (1824-1883) एक विलक्षण व्यक्ति थे। उनमें समाज बदल देने और सुषुप्त राष्ट्र को जगाने की ऊर्जा थी। इस महान उद्देश्य की प्राप्ति हेतु उन्होंने कठोर साधना की और आजन्म ब्रह्मचर्य

व्रत धारण किया। उन्होंने विदेशी शासन को दुर्भाग्यपूर्ण बताया, लेकिन इस चुनौती का सामना करने के लिए सामाजिक जागृति को आवश्यक समझा। सामाजिक जागृति के लिए वेदों की ओर जाने का आह्वान किया। राष्ट्र गौरव, बिना अतीत के गौरव को अहसास किये असभव था। उन्होंने वेदो मे हमारी समस्याओं का निदान ढूँढ निकाला। धर्म के नाम पर जो कपट और पाखड फैला हुआ था उसका निर्भीक होकर विरोध किया। उन्होंने बताया कि वेदों के अध्ययन का अधिकार सभी को है, यह केवल ब्राह्मणों का एकाधिकार नहीं है। उनके अनुसार ईश्वर सच्चिदानन्द है, वह जन्म मृत्यु से परे है, वह सर्वव्यापक, निराकार, अनन्त न्यायकर्ता एवं सर्वशक्तिमान है। वर्णाश्रम गुण, कर्म और स्वभाव पर आधारित होने चाहिये। शिक्षा से सस्कार मिलते हैं और सच्ची शिक्षा वही है जिससे विद्या, सभ्यता, इन्द्रियो को वश मे करने की शक्ति का संचय होता हो।

यद्यपि दयानन्द का 1883 मे निधन हो गया, लेकिन कालान्तर मे उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज ने राष्ट्रीय आन्दोलन में महती भूमिका अदा की। बेलेन्टाइन शिरोल का मत है कि भारतीय अशाति वास्तव मे हिन्दू अशाति है और इस अशाति के फैलाने में आर्य समाज की प्रबल भूमिका रही है। वैसे दयानन्द पश्चिमी प्रभाव को रोकना चाहते थे और इसके लिए वह राष्ट्रीय जागृति को आवश्यक मानते थे। उनके भाषणों और ग्रंथो का जनमानस पर व्यापक प्रभाव पडा था। उनकी मान्यता थी कि पश्चिमी प्रभाव ही भारतीय संस्कृति और सभ्यता से लोगो को विमुख करता है। शिरोल ने लिखा है कि अनेक आर्यसमाजी नेताओं की क्रातिकारियों से गुप्त मत्रणा होती रहती है। लाला लाजपतराय आर्यसमाजी थे। भाई परमानन्द को लिखे गये लाला लाजपतराय के पत्र शिरोल को कहीं से प्राप्त हो गये। प्रसिद्ध क्रांतिकारी श्यामजी कृष्ण वर्मा के भी आर्य समाजियों से संबंध ब्रिटिश सरकार की नजर मे थे। शिरोल तो आश्वस्त था कि आर्य समाज बाहर से सामाजिक धार्मिक सुधार आन्दोलन है लेकिन इसका मूल उद्देश्य तो स्वतंत्र राष्ट्रीय सरकार की स्थापना करना है।

सत्यार्थ प्रकाश स्वामी दयानन्द का अमर ग्रंथ है। यद्यपि इसमें निहित अधिकांश राजनीतिक विचार मनुस्मृति पर आधारित हैं, लेकिन इन्हे दकियानूसी या मध्ययुगीन नहीं कहा जा सकता। सत्यार्थ प्रकाश पूर्वाग्रहो पर आधारित ग्रंथ नहीं है, बल्कि इसमें तर्क एवं विवेकपूर्ण व्याख्या है। वह राजा के दैविक अधिकारो की भर्त्सना करते हैं और जिस प्रकार के राजा की उन्होंने कल्पना की है वह निर्वाचित राष्ट्राध्यक्ष की भाँति है। उन्होंने जिस राज्य की अवधारणा प्रस्तुत की है उसमें धर्म का समुचित स्थान अवश्य है, लेकिन वह प्रचलित अर्थ में धर्म सापेक्ष राज्य नहीं है जिसमे राजा का धर्म कोई धर्म विशेष हो। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने धर्मतंत्र को स्वीकार नहीं किया।

दयानन्द पारिभाषिक अर्थ मे राजनीतिक चिन्तक नहीं थे। सत्यार्थ प्रकाश और ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका दोनो मे केवल एक एक अध्याय ऐसे हैं जिनमे राजनीतिक विचारों

का विवेचन उपलब्ध है। उनका राजा करीब-करीब उन्हीं योग्यताओं का धारक है जैसा कि वैदिक साहित्य में वर्णित है। वह राजा को निरंकुश नहीं मानते, बल्कि उसे अपराध करने पर सर्वाधिक दण्ड का भागी मानते हैं क्योंकि उसके दुराचरण का सारे समाज पर बुरा असर पड़ता है। दयानन्द विधि पर बहुत जोर देते हैं। कानून ही धर्म है और कानून से ऊपर कोई नहीं हो सकता।

दयानन्द स्वतत्रता के अनन्य उपासक थे। राजनीतिक स्वतंत्रता के बिना आध्यात्मिक स्वतंत्रता संभव नही है अत: राष्ट्रीय स्वतंत्रता को वह अपरिहार्य मानते थे। इस महान राष्ट्र की अस्मिता के विलुप्त होने की उन्हें गहरी वेदना थी और इसलिए उन्होंने राष्ट्र की आत्मा को जगाने मे कोई कसर नहीं छोडी। प्रो वी. पी. वर्मा के शब्दों मे "उनका विश्वास था कि मनुष्य की आत्मा कार्य करने में स्वतंत्र है ......दयानन्द ने मनुष्य के मानस की बौद्धिक स्वतत्रता की घोषणा की और तदर्थ उन्होने सब धर्मों के पवित्र साहित्य की स्वतत्र एवं ओजपूर्ण आलोचना की[1] ...... पुरोहितवाद, पैगम्बरवाद, देवदूतवाद, मानवपूजा, अवतारवाद, गुरुडम आदि के विरोध मे विप्लवी दयानन्द ने आग्नेय उद्‌गार प्रकट किये और उनके तीक्ष्ण प्रहार से धार्मिक मतवादी पोपगण को काफी आघात पहुँचा। चूँकि दयानन्द का पुनरुत्थानवाद सभी संस्कृतियो और सभ्यताओं की चुनौती के विरुद्ध एक सन्तुलनात्मक साधन था, इसलिये वह राष्ट्रीय स्वतंत्रता के पोषक बन गया। स्वामीजी आर्य वैदिक सस्कृति को आद्य रूप मे प्रतिष्ठित करने के पक्ष मे थे।" के.पी. जायसवाल दयानन्द का हिन्दू आत्मा को जगाने में वही योगदान मानते हैं जो कि मार्टिन लूथर का यूरोपीय आत्मा को जगाने मे रहा है। जायसवाल उन्हें उन्नीसवीं शताब्दी का महानतम भारतीय मानते हुये कहते हैं कि - "उन्नीसवीं शताब्दी मे एकेश्वरवाद का ऐसा शक्तिशाली शिक्षक, मानव एकता का ऐसा उपदेष्टा, आध्यात्मिकता के पूँजीवाद के विरुद्ध संघर्ष करने वाला ऐसा सफल योद्धा अन्यत्र नही था।"[2]

□□□

1. वी पी वर्मा, वही पुस्तक पृ 42.
2 के पी. जायसवाल का, दयानन्द को मेमोरियल वाल्यूम में प्रकाशित लेख, पृ 162-163. वी. पी वर्मा द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 43

पठनीय सामग्री

इस युग के चिन्तन पर बहुत लिखा गया है। सर्वप्रथम हम इन विचारकों के स्वरचित मुख्य ग्रंथों का उल्लेख करते हैं जिनमें इनका चिन्तन अभिव्यक्त हुआ है —

1 राममोहन राय दि इंगलिश वर्क्स ऑफ राजा राममोहन राय (जोगेन्द्रचन्द्र घोष द्वारा सम्पादित, (कलकत्ता, श्रीकान्त राय)
2 राममोहन राय. हिज लाइफ, राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज (मद्रास, जी. ए नटेसन एण्ड कं)
3. दयानन्द सरस्वती· सत्यार्थ प्रकाश
4 एनीबीसेंट एन्सियन्ट आइडियल्स इन मोडर्न लाइफ (थियोसोफिकल पब्लिशिंग हाउस, मद्रास)
5 एनीबीसेंट : इंडिया ए नेशन (वही प्रकाश)
6. एनीबीसेंट : इंडिया, लिव आर डाई (नेशनल होम रूल लीग)
7 रवीन्द्रनाथ टैगोर . दि क्रेसेन्ट मून
8 रवीन्द्रनाथ टैगोर : दि रिलीजन ऑफ मैन
9 रवीन्द्रनाथ टैगोर : नेशनलिज्म
10 विवेकानन्द: दि कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द (8 जिल्दें, अल्मोड़ा अद्वैत आश्रम)
11. दादा भाई नौरोजी पावर्टी एण्ड अन ब्रिटिश रूल इन इंडिया (लन्दन, स्वान सोनेनशील एण्ड कं)
12. दादाभाई नौरोजी, स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स (जी ए. नटेसन एण्ड कं, मद्रास)
13. महादेव गोविन्द रानाडे एसेज इन रिलीजियस एण्ड सोशल रिफार्म्स)
14 सुरेन्द्रनाथ बनर्जी· ए नेशन इन मेकिंग (एस के लाहिरा एण्ड कं, कलकत्ता)
15 गोपालकृष्ण गोखले. स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स (जी. ए नटेसन एण्ड कं, मद्रास)
16. बाल गंगाधर तिलक गीता रहस्य
17 बाल गंगाधर तिलक. दि आर्कटिक होम ऑफ दि वेदाज
18 बाल गंगाधर तिलक ओरियन
19 लाला लाजपतराय आत्मकथा (राजपाल एण्ड सन्स, लाहौर)
20 लाला लाजपतराय. दि पोलिटिकल फ्यूचर ऑफ इंडिया (बी.डब्ल्यू ह्यूश, न्यूयार्क)
21 लाला लाजपतराय इंडियाज विल टू फ्रीडम (मद्रास, गणेश एण्ड कं.)
22 अरविन्द· दि लाइफ डिवाइन

23 अरविन्द: दि डाक्ट्रिन ऑफ पेसिव रेजिस्टेन्स
24. अरविन्द: वार एण्ड सेल्फ डिटर्मिनेशन
25. मोहनदास करमचन्द गाँधी : आत्मकथा,
26 मोहनदास करमचन्द गाँधी – हिन्द स्वराज
27 मोहनदास करमचन्द गाँधी : सर्वोदय
28 मोहम्मद अली जिन्ना . स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स (मद्रास, गणेश एण्ड कम्पनी)
29 मानवेन्द्रनाथ राय: वार एण्ड रिवोल्यूशन (रेडिकल डिमोक्रेटिक पार्टी)
30 मानवेन्द्रनाथ राय: न्यू ह्युमनिज्म (कलकत्ता, रेनाशा पब्लिशर्स)
31 मानवेन्द्रनाथ राय व्हाट इज मार्क्सिज्म
32 मानवेन्द्रनाथ राय · पॉलिटिक्स, पावर एण्ड पार्टिज (कलकत्ता, रिनांशा पब्लिशर्स)
33 नरेन्द्रदेव सोसलिज्म एण्ड दि नेशनल रिवोल्यूशन (मुम्बई, पद्‌मा पब्लिकेशन्स)
34 नरेन्द्रदेव राष्ट्रीयता और समाजवाद (वाराणसी, ज्ञान मण्डल)
35 जवाहरलाल नेहरू आत्मकथा (लन्दन, जान लेन, दि बॉडली हैड)
36. जवाहरलाल नेहरू. दि डिसकवरी ऑफ इंडिया (कलकत्ता, दि सिगनेट प्रेस)
37 सुभाषचन्द्र बोस एन इंडियन पिलग्रिम, (कलकत्ता, थेकर सिंपक एण्ड कं.)
38 सुभाषचन्द्र बोस. दी इंडियन स्ट्रगल, (वही प्रकाशक)
39. जयप्रकाश नारायण : फ्राम सोशलिज्म टू सर्वोदय, द रिक्न्स्ट्रक्शन ऑफ इंडियन पोलिटी)

अन्य ग्रन्थ

1. वी.वी. मजूमदार: हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थॉट फ्रॉम राममोहन राय टू दयानन्द (कलकत्ता युनिवर्सिटी प्रेस)
2. अशोक मेहता एवं अच्युत पटवर्द्धन: दि कम्यूनल ट्राइएंगल इन इंडिया (इलाहाबाद किताबिस्तान)
3. राजेन्द्र प्रसाद: आत्मकथा (पटना)
4. रामगोपाल. इंडियन मुस्लिम्स (मुंबई, एशिया पब्लिशिंग हाउस)
5 वैलन्टाइन शिरोल: दि इंडियन अनरेस्ट
6. पट्टाभि सीतारमैया: दि हिस्ट्री ऑफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस 2 जिल्दें (मुम्बई, पद्‌मा पब्लिकेशन्स)
7. रोमा रोला: लाइफ ऑफ विवेकानन्द (अल्मोड़ा, अद्वैत आश्रम)
8. श्रीनिवास शास्त्री: गोपाल कृष्ण गोखले

9. लुई फिशर: दि लाइफ ऑफ महात्मा गाँधी
10. ग्रैग रिचर्ड: दि पावर ऑफ नान वाइलैन्स
11. वी.पी. वर्मा: दि पोलिटिकल फिलोसोफी ऑफ महात्मा गाँधी एण्ड सर्वोदय (आगरा, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल)
12. एम. एस. गोलवलकर: व्ही आर आवर नेशनहुड डिफाइण्ड (नागपुर, भारत प्रकाशन)
13 धनंजय कीर: लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ सावरकर
14. सैयद अहमद खाँ : दि काजेज ऑफ दि इंडियन रिवोल्ट
15 सैयद अहमद खाँ : दि लोयल मोहम्मडन्स ऑफ इंडिया
16. बेग, ए. ए : इकबाल एज ए थिंकर (लाहौर, मुहम्मद अशरफ)
17 माइकेल ब्रेचर : नेहरू : ए पोलिटिकल बायोग्राफी (आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस)
18 फ्रेंक मोरेस . जवाहरलाल नेहरू (मुम्बई, टाइम्स ऑफ इंडिया, प्रेस)
19. हग टोय : दि स्प्रिंगिंग टाइगर (मुम्बई, एलाइड पब्लिशर्स)
20 दादा धर्माधिकारी . सर्वोदय दर्शन
21. एम. ए. बुच, राइज एण्ड ग्रोथ ऑफ इंडियन लिबरलिज्म (बड़ौदा)
22 के. पी. करुनाकरन: कांटिन्यूटि एण्ड चेन्ज इन इंडियन पॉलिटिक्स (न्यू दिल्ली)
23 के. पी. करुनाकरन: मोडर्न इंडियन पोलिटिकल ट्रेडिशन (अलाइड पब्लिशर्स, देहली)
24 वी. पी. वर्मा: आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन (लक्ष्मीनारायण अग्रवाल आगरा)
25 गोपीनाथ धवन. पोलिटिकल फिलोसफी ऑफ महात्मा गाँधी (अहमदाबाद)
26 वी.वी. रमनमूर्ति, नान वाइलैंस इन पोलिटिक्स, ए स्टडी ऑफ गाँधीयन टेक्नीक एण्ड थिंकिंग (देहली)
27. करनसिंह. अरविन्द दि प्रोफेट ऑफ इंडियन नेशनलिज्म (लन्दन)
28 डी. बी. माथुर: गोखले, ए पोलिटिकल बायोग्राफी (मुम्बई)
29 ए आर देसाई सोशल बैक ग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म (मुम्बई)
30 ए आर देसाई. रिसेन्ट ट्रेन्ड्स इन इंडियन नेशनलिज्म (मुम्बई)
31 वी आर मेहता फाउन्डेशन्स ऑफ इंडियन पोलिटिकल थॉट, मनोहर, दिल्ली

8

प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक

विवेकानन्द (1863-1902)

विवेकानन्द का अद्भुत व्यक्तित्व था, आज भी उनके नाम से युवा पीढ़ी चमत्कृत हो उठती है। उनका यह संदेश 'उठो, जागो और प्रतीक्षा मत करो जब तक कि तुम गन्तव्य को प्राप्त न कर लो' युवकों को प्रेरणा देता है। उनका राजनीतिक चिन्तन उनके जीवन दर्शन का एक भाग है अतः इसको संक्षेप में समझे बिना उनके राजनीतिक विचारों को समझा नहीं जा सकता। जीवन-दर्शन के मूल में जीवन परिचय है जिसका संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है।

जीवन-परिचय

कलकत्ता के प्रसिद्ध दत्त (कायस्थ) परिवार में जन्मे विवेकानन्द का प्रारंभिक नाम नरेन्द्र नाथ था। विद्यार्थी जीवन में वह बड़े मेधावी, अध्ययनशील एवं कर्मठ थे और सत्य की खोज हेतु उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य दर्शन का गंभीर अध्ययन किया। वह अक्सर सोचा करते थे कि यदि ईश्वर है तो उससे साक्षात्कार क्यों नहीं हो सकता। इस प्रश्न को लेकर वह अनेक साधु-सन्तों से मिलने लगे और अंत में जहाँ उनकी केवल ज्ञान पिपासा ही शान्त नहीं हुई बल्कि जीवन का संदेश मिल गया वहाँ पहुँच गये। यह दक्षिणेश्वर के संत रामकृष्ण परमहंस थे। उनकी मुलाकात ऐतिहासिक बन गई और कुछ वर्षों बाद परमहंस ने युवा नरेन्द्रनाथ को स्पर्श द्वारा निर्विकल्प समाधि के आनन्द की अनुभूति करायी और फिर कहा कि "आज मैंने तुमको अपना सर्वस्व दे दिया है और अब मैं एक कंगाल फकीर हूँ, मेरे पास अब कुछ नहीं है। इस शक्ति द्वारा संसार का महान कल्याण करोगे और जब तक यह उद्देश्य पूरा नहीं होगा तब तक तुम लौटकर नहीं आओगे।" इसके कुछ ही समय बाद परमहंस ने यह शरीर त्याग दिया।

गुरु के आदेशानुसार उन्होंने मानवता की सेवा का संकल्प किया। परिव्राजक के रूप में उन्होंने देश का भ्रमण किया और जनसाधारण की तकलीफों से वह परिचित हुये। उन्होंने पूर्वी और पश्चिमी दर्शन और साहित्य का विद्यार्थी काल से अध्ययन करना प्रारम्भ कर दिया था जो अब और भी गहन हो गया। उन्होंने वेद, गीता, रामायण के साथ ही साथ ह्यूम, कांट, फिक्टे, स्पिनोजा, डार्विन, मिल, हीगल, शापनहॉवर, मार्क्स आदि का अध्ययन किया। 1893 में वह सर्व धर्म सम्मेलन में भाग लेने शिकागो गये

जहाँ उन्होने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की । उनके भाषण के कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं जिसके कारण वह सर्व प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर जाज्वल्यमान प्रकाश को लेकर उदित हुये .-

जिस सौहार्द्रता और स्नेह के साथ आपने हम लोगो का स्वागत किया है, उसके फलस्वरूप मेरा हृदय अकथनीय हर्ष से प्रफुल्लित हो रहा है । ससार के प्राचीन महर्षियो के नाम पर मैं आपको धन्यवाद देता हूँ तथा सब धर्मों की माता स्वरूप हिन्दू धर्म एवम् भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के लाखो करोडो हिन्दुओ की ओर से धन्यवाद प्रकट करता हूँ ।

मैं उन सज्जनो के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ जिन्होने इस सभा मंच पर से प्राच्य-प्रतिनिधियो के सबंध में आपको यह बतलाया है कि ये दूर देश वाले पुरुष सर्वत्र सहिष्णुता का भाव प्रसारित करने के निमित्त यश और गौरव के अधिकारी हो सकते हैं । मुझको ऐसे धर्मावलम्वी होने का गौरव है जिसने संसार को सहिष्णुता तथा सब धर्मों को मान्यता प्रदान करने की शिक्षा दी है । हम लोग सब धर्मों के प्रति केवल सहिष्णुता मे ही विश्वास नहीं करते वरन् सब धर्मों को सच्चा मान कर ग्रहण करते हैं । मुझे आपसे यह निवेदन करते हर्ष होता है कि मैं ऐसे धर्मों का अनुयायी हूँ, जिसकी पवित्र भाषा सस्कृत मे अंग्रेजी शब्द एक्सक्लूजन का पर्यायवाची नहीं है । मुझे एक ऐसे देश का व्यक्ति होने का अभिमान है, जिसने इस पृथ्वी की समस्त पीड़ित और शरणागत जातियो तथा भिन्न वर्गों व धर्मों के बहिष्कृत मतावलम्वियो को आश्रय दिया है । मुझे यह बतलाते हुए गर्व होता है कि जिस वर्ष यहूदियों का पवित्र मदिर रोमन जाति के अत्याचारो से धूल मे मिला दिया गया उसी वर्ष कुछ अभिजात यहूदी आश्रय लेने दक्षिण भारत मे आये और हमारी जाति ने उन्हे छाती से लगाकर शरण दी । ऐसे धर्म मे जन्म लेने का मुझे गर्व है, जिसने पारसी जाति की रक्षा की और उसका पालन अब तक कर रहा है । भाइयों, मैं आपको एक स्तोत्र के कुछ पद सुनाता हूँ, जिसे मैं अपने बचपन से गाता रहा हूँ और जिसे प्रतिदिन लाखों मनुष्य गाया करते हैं -

'जैसे विभिन्न नदियाँ भिन्न-भिन्न स्रोतो से निकलकर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार हे प्रभो, भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टेढे-मेढ़े अथवा सीधे रास्ते से जाने वाले लोग अन्त मे तुझ मे ही आकर मिल जाते हैं ।'

यह सभा, जो संसार की अबतक की सभाओ में से एक है, जगत के लिए गीता के उस अद्भुत उपदेश की घोषणा एवं विज्ञापन है, जो हमें बतलाता है-

'जो मेरी ओर आता है- चाहे किसी प्रकार से हो - मैं उसको प्राप्त होता हूँ । लोग भिन्न-भिन्न मार्ग द्वारा प्रयत्न करते हुए अन्त मे मेरी ही ओर आते हैं ।'

साम्प्रदायिकता, संकीर्णता और इनसे उत्पन्न भयंकर धर्मविषयक उन्मत्तता इस सुन्दर पृथ्वी पर बहुत समय तक राज्य कर चुकी है । इनके घोर अत्याचार से पृथ्वी भर

गई, उन्होंने अनेक बार मानव-रक्त से धरती को सींचा, सभ्यता नष्ट कर डाली तथा समस्त जातियों को हताश कर डाला। यदि यह सब न होता, तो मानव समाज आज की अवस्था से कहीं अधिक उन्नत हो गया होता। पर अब उनका भी समय आ गया है और मैं पूर्ण आशा करता हूँ कि जो घण्टे आज सुबह इस सभा के सम्मान के लिए बजाये जाते हैं, वे समस्त कट्टरताओं, तलवार या लेखनी के बल पर किये जाने वाले समस्त अत्याचारों तथा एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होने वाले मानवों की पारस्परिक कटुताओं के लिए मृत्युनाद ही सिद्ध होंगे।[1]

विवेकानन्द के चिन्तन की पृष्ठभूमि

1. वेदों एवं वेदांत की परम्परा
2. गुरु परमहंस की शिक्षायें
3. पश्चिमी दर्शन का अध्ययन
4. आध्यात्मिक राष्ट्रवाद की अवधारणा
5. उपनिवेशवाद के विरुद्ध उभरता आक्रोश

विवेकानन्द के चिन्तन का मूलाधार

स्वामी विवेकानन्द प्राचीन भारतीय चिन्तन को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हैं। वह कहते हैं कि मैं ऐसे ईश्वर में विश्वास नहीं करता जो स्वर्ग में तो मुझे आनन्द देगा पर इस जगत में मुझे रोटी भी नहीं दे सकता। उन्होंने युवकों से कहा कि चाहे वह गीता न पढ़ें लेकिन फुटबाल अवश्य खेलें। फुटबाल के मैदान में शरीर को सुदृढ़ बनाकर वह गीता का संदेश भली प्रकार समझ सकते हैं। वह धर्म को जीवन का धर्म मानते हैं लेकिन उनका धर्म पाखण्डवाद, कर्मकाण्ड, पूजापाठ या अन्धविश्वास नहीं है। यह ज्ञान, भक्ति, कर्म और वैराग्य का सम्मिश्रण है। उनका बल हिन्दू धर्म के वैज्ञानिक एवं शाश्वत स्वरूप पर है जिसमें सहिष्णुता, अनुभूति, सार्वभौमिकता, चिन्तनता है। वह धर्म और सामाजिक ढाँचे में अटूट रिश्ता मानते हैं। धर्म और आध्यात्मिकता ही तो सामाजिक जीवन की रीढ़ की हड्डी है, इनके बिना तो सामाजिक जीवन निष्क्रिय, निस्तेज एवं दिशाहीन हो जायेगा।

विवेकानन्द का संदेश कर्मयोग है, वह धार्मिक संकीर्णता कट्टरपन, जटिलता पर निर्मम प्रहार करते हैं। उनकी नजर में सारे धर्म सच्चे और श्रेष्ठ हैं अतः किसी व्यक्ति को अपना धर्म छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। 'स्वधर्मेनिधनंश्रेयः परः धर्मो भयावहः' की बात ही यह कहते हैं। उनके विचार में ईश्वर निराकार, साकार और सत्-असत् से

1. शिकागो वक्तृता, स्वामी विवेकानन्द (श्री रामकृष्ण आश्रम नागपुर) पृ 10-12
   पुरुषोत्तम नागर, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन (राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी) नव संस्करण, पृ 54

परे है, हिन्दू धर्म आध्यात्मिकता से ओतप्रोत है, यह एक वैज्ञानिक और पुरातन धर्म है, इसमे उत्पन्न कुरीतियो और विकृतियों से ही इसे मुक्त करने की आवश्यकता है। उनका कथन है कि यूरोपीय राष्ट्र भौतिकवाद में फँसे हुये हैं, भौतिकवाद मनुष्य को शांति नहीं दे सकता, शांति तो आध्यात्म में ही है जो विश्व संस्कृति को भारत की अनुपम देन हैं। हिन्दू धर्म श्रेष्ठ है लेकिन हिन्दुओं ने उसके अनुकूल आचरण नहीं किया, इसमे दोष उनका है, धर्म का नहीं। उन्होंने कहा, भला या बुरा, धार्मिक आदर्श भारत में हजारों वर्षों से प्रवहमान रहा है। वह वातावरण में व्याप्त है, हमारे रक्त मे घुल गया है, हमारी नसो की प्रत्येक बूंद के साथ सनसनाता है, हमारी शरीर रचना के साथ एकाकार हो गया है और हमारे जीवन का प्राणतत्त्व बन गया है। क्या आप प्रतिक्रिया मे उतनी ही ऊर्जा जाग्रत किये बिना शक्तिशाली नदी में जो हजारों वर्षों में अपने लिये जो सरणि काटी है उसे भरे बिना, उसे त्याग सकते हैं? क्या आप चाहते हैं कि गंगा अपने बर्फीले उद्गम को लौट जाए और नया मार्ग प्रारंभ करे।[1]

विवेकानन्द का चिन्तन गीता के दर्शन से ओतप्रोत है। लेकिन यह महज धार्मिक या आध्यात्मिक बात नहीं है, यह समस्त जीवन को अनुप्राणित करता है। जीवन को समग्र दृष्टि से देखा जाना चाहिए, इसके भिन्न-भिन्न पक्ष हैं लेकिन सही चिन्तन तो समग्रता को लिये हुये ही होता है। व्यक्ति राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक किसी भी क्षेत्र में कार्यरत हो, उसको कर्मयोग का मूल दर्शन तो समझना चाहिए और वह निहित है अनासक्ति में। उन्हीं के शब्दों में 'कर्मफल मे आसक्ति रखने वाला व्यक्ति अपने भाग्य में आये हुए कर्त्तव्य पर भिनभिनाता है। अनासक्त पुरुष के सब कर्त्तव्य एक समान हैं। उसके लिए तो वे कर्त्तव्य स्वार्थपरता तथा इन्द्रिय परायणता को नष्ट करके आत्मा को मुक्त कर देने के लिए शक्तिशाली साधन हैं। हम अपने कर्त्तव्य पर जो भिनभिनाते हैं, उसका कारण यह है कि हम सब अपने को बहुत समझते हैं और अपने को बहुत योग्य समझा करते हैं, यद्यपि हम वैसे हैं नहीं। प्रकृति ही सदैव कडे नियम से हमारे कर्मों के अनुसार उचित कर्मफल का विधान करती है, इसमें तनिक भी हेरफेर नहीं हो सकता और इसलिए अपनी ओर से चाहे हम किसी कर्त्तव्य को स्वीकार करने के लिए भले ही अनिच्छुक हो, फिर भी वास्तव में हमारे कर्मफल के अनुसार ही हमारे कर्त्तव्य निर्दिष्ट होंगे। स्पर्द्धा से ईर्ष्या उत्पन्न होती है और उससे हृदय की कोमलता नष्ट हो जाती है। असन्तुष्ट तथा तकरारी पुरुष के लिए सभी कर्त्तव्य नीरस होते हैं। उसे तो कभी भी किसी चीज से सन्तोष नहीं होता और फलस्वरूप उसका जीवन दूभर हो उठना है और असफल हो जाना स्वाभाविक है। हमे चाहिए कि हम काम करते रहें,

1 लेक्चर्स फ्राम कोलम्बो टू अल्मोड़ा, पृ 86
विश्वनाथ प्रसाद वर्मा आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन से उद्धृत पृ 85

जो कुछ भी हमारा कर्तव्य हो। उसे करते रहें, अपना कन्धा सदैव काम से भिड़ाये रखें और तभी हमारा पथ ज्ञानालोक से आलोकित हो जायगा।'[1]

राजनीतिक चिन्तन

स्वामी विवेकानन्द का चिन्तन समग्र है, उनके चिन्तन में व्यक्ति और समाज एकाकार हो जाते हैं चूँकि वह संपूर्ण समाज के अध्येता हैं राष्ट्र, राज्य, व्यक्ति स्वतः उनके चिन्तन में गुंथ जाते हैं। फिर भी उनके राजनीतिक विचारों को पृथक् कर उनका विवेचन किया जा सकता है। उनके बारे में प्रायः यह भ्रांत धारणा है कि वह संन्यासी, वेदान्ती, धर्मोपदेशक एवं हिन्दूधर्म के वैज्ञानिक स्वरूप के प्रचारक थे और यह उनका भारतीय राजनीतिक आन्दोलन एवं राजनीतिक चिन्तन से कोई सरोकार नहीं था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह वेदान्ती और संन्यासी थे, लेकिन वह राष्ट्रवादी, प्रखर चिन्तक एवं बुद्धिवादी भी थे जिन्होंने राष्ट्रवाद, समाजवाद, स्वतंत्रता आदि पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

विवेकानन्द ने आध्यात्मिक राष्ट्रवाद की अवधारणा का प्रतिपादन किया है। विवेकानन्द यद्यपि हीगल की भाँति यह तो नहीं कहते कि राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का बढ़ता कदम है लेकिन उनकी इस बात से अवश्य सहमत हैं कि प्रत्येक राष्ट्र का जीवन किसी एक विशेष तत्त्व की अभिव्यक्ति है। भारतीय संदर्भ में यह तत्त्व धर्म है। वह आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के प्रणेता हैं। उनका मानना है कि जिस प्रकार संगीत मे एक प्रमुख स्वर होता है वैसे ही प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में एक प्रधान तत्त्व होता है जो न केवल उसके अस्तित्व को ही बनाये रखता है बल्कि उसकी प्रगति को दिशानिर्देश देता है, उसके जीवन को अनुप्राणित करता है।

स्वामी विवेकानन्द का मानना है कि भारतीय राष्ट्रवाद को केवल धर्म ही अनुप्राणित कर सकता है। धर्म के कारण ही भारत ने विश्व में अपनी सांस्कृतिक पताका फहराई थी और आज भारत के पराभव के मूल में आध्यात्म का लुप्त हो जाना ही है। उन्हें विश्वास था कि भविष्य में धर्म ही भारतीय राष्ट्रीय जीवन का मूलाधार बनेगा। कोई भी राष्ट्र अपने अतीत को भुलाकर महान नहीं बन सकता। अपने अतीत को भुला देने के कारण ही भारत अधोगति को प्राप्त हुआ है अतः भारत को जगना होगा और इससे केवल उसका ही नहीं बल्कि विश्व का कल्याण होगा। लेकिन भारत केवल धर्म के द्वारा ही जग सकता है क्योंकि भारतीय राष्ट्र की मूल प्रवृत्ति ही धर्म है। इसी के कारण ही तो यह कभी विश्वगुरु रहा था। प्रो. वी. पी. वर्मा के शब्दों में 'विवेकानन्द कहा करते थे कि अतीत में भारत की सृजनात्मक प्रतिभा की अभिव्यक्ति मुख्यतः धर्म के क्षेत्र से ही हुई थी। धर्म ने भारत में एकता और स्थिरता को बनाये रखने के लिए एक सृजनात्मक शक्ति का काम किया था, यहाँ तक कि जब कभी राजनीतिक सत्ता शिथिल और दुर्बल

1. स्वामी विवेकानन्द . कर्मयोग, रामकृष्ण मठ, नागपुर, पृ 71.

हो गयी तो धर्म ने उसकी पुन: स्थापना में योग दिया। इसलिए विवेकानन्द ने घोषणा की कि राष्ट्रीय जीवन का धार्मिक आदर्शों के आधार पर संगठन किया जाना चाहिए। उनके विचार में आध्यात्मिकता अथवा धर्म का अर्थ शाश्वत तत्त्व का साक्षात्कार करना था। सामाजिक मतवादों, धर्मसंघों द्वारा प्रतिपादित आचार संहिताओं और पुरानी रूढ़ियों को धर्म नहीं समझना चाहिये। वे कहा करते थे कि धर्म ही निरन्तर भारतीय जीवन का आधार रहा है, इसलिये सभी सुधार धर्म के माध्यम से ही किये जाने चाहिये। तभी देश की बहुसंख्यक जनता उन्हें अंगीकार करेगी। अत: राष्ट्रवाद का आध्यात्मिक अथवा धार्मिक सिद्धांत राजनीतिक चिन्तन को विवेकानन्द की प्रथम महत्त्वपूर्ण देन माना जा सकता है। बंकिम की भांति विवेकानन्द भी भारत को एक आराध्य देवी मानते थे और उसकी देदीप्यमान प्रतिमा की कल्पना और स्मरण से उनकी आत्मा जगमगा उठती थी। यह कल्पना कि भारत देवी माता की दृश्यमान विभूति है, बंगाल के राष्ट्रवादियों और आतंकवादियों की रचनाओं तथा भाषणों में आधारभूत धारणा रही है।'[1]

यद्यपि विवेकानन्द राजनीतिज्ञ नहीं थे लेकिन उनका राजनीतिक चातुर्य इस बात में निहित है कि उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की खुल्लमखुल्ला आलोचना न कर, भारत की दयनीय स्थिति से उबरने के लिये अतीत से प्रेरणा लेने का आव्हान किया। उन्होंने युवकों को ललकारा कि वे दृढ़ संकल्प लेकर मातृभूमि को पुन. गौरवमंडित करें। उन्होंने कहा, 'आज हमारे देश को जिन चीजों की आवश्यकता है वे हैं लोहे की मांसपेशियाँ, इस्पात की तंत्रिकाएँ, प्रखर संकल्प, जिसका कोई प्रतिरोध न कर सके, जो अपना काम हर प्रकार से पूरा कर सके, चाहे मृत्यु से साक्षात्कार ही क्यों न करना पड़े। यह है जिसकी हमें आवश्यकता है और हम तभी सर्जन कर सकते हैं, तभी सामना कर सकते हैं और तभी शक्तिशाली बन सकते हैं जबकि हम अद्वैत के आदर्श का साक्षात्कार कर लें, सबकी एकता के आदर्श की अनुभूति करलें, अपने में विश्वास, विश्वास और विश्वास। यदि तुम्हें अपने तैंतीस करोड पौराणिक देवताओं में तथा उन सब देवताओं में विश्वास है जिन्हें विदेशियों ने तुम्हारे बीच प्रतिष्ठित कर दिया है किन्तु फिर भी अपने में विश्वास नहीं है तो तुम्हारा उद्धार नहीं हो सकता। अपने मे विश्वास रखो और उस विश्वास पर दृढतापूर्वक खडे रहो। क्या कारण है कि हम तैंतीस करोड लोगो पर पिछले एक हजार वर्ष से मुट्ठी भर विदेशी शासन करते आये हैं? क्योंकि उन्हें अपने में विश्वास था और हमें नहीं।'[2]

सार यह है कि विवेकानन्द का राष्ट्रवाद हिन्दुत्व और आध्यात्म से ओतप्रोत है। इनका हिन्दुत्व सकीर्ण नहीं है, यह सार्वभौम है, यह गतिशील और वैज्ञानिक है।

---

1 वी. पी. वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पृ 138
2 दी कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 3, पृ 190
पुरुषोत्तम नागर द्वारा उद्धृत वही पुस्तक पृ 63

यह कर्मयोग है। उन्हीं के शब्दों में 'कर्मयोग नि स्वार्थपरता और सत्कर्म द्वारा मुक्ति लाभ करने की एक विशिष्ट प्रणाली है। कर्मयोगी को किसी भी प्रकार के धर्ममत का अवलम्बन करने की आवश्यकता नहीं। वह ईश्वर मे चाहे विश्वास करे या न करे, आत्मा के सबंध मे भी अनुसन्धान करे या न करे, किसी प्रकार का दार्शनिक विचार भी करे अथवा न करे, इससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं। उसके सम्मुख उसका बस अपना निःस्वार्थपरता लाभ रूप एक विशिष्ट ध्येय रहता है और अपने प्रयत्न द्वारा ही उसे उसकी प्रगति कर लेनी पड़ती है। उसके जीवन का प्रत्येक क्षण ही मानो प्रत्यक्ष अनुभव होना चाहिए क्योंकि उसे तो अपनी समस्या का समाधान किसी भी प्रकार के मतामत की सहायता न लेकर केवल कर्म द्वारा ही करना होता है, जबकि ज्ञानी उसी समस्या का समाधान अपने ज्ञान और आन्तरिक प्रेरणा द्वारा तथा भक्त अपनी भक्ति द्वारा करता है।'[1]

विवेकानन्द का राष्ट्रवाद न तो सकीर्ण है और न ही यह कट्टरपन पर आधारित है। यह उग्र इस अर्थ मे है कि राष्ट्र को आराध्य देव के रूप मे चित्रित किया गया है जहाँ निजी स्वार्थ और हित लुप्त हो जाते हैं और व्यष्टि और समष्टि एक दूसरे के लिए समर्पित हैं, जहाँ दोनों के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं रहती। लेकिन यह फासीवादियों या नाजीवादियों की राष्ट्र की कल्पना से पूर्णरूपेण भिन्न है। विवेकानन्द की राष्ट्रवाद की कल्पना में व्यक्ति की स्वतत्रता अक्षुण्ण बनी रहती है क्योंकि राष्ट्र के साथ जुड़कर वह और भी आनन्द का अनुभव करता है। आखिर मनुष्य का जीवन अपने साथियो के हित सम्पादन से ही तो सार्थक बनता है। यही तो विवेकानन्द का कर्मयोग है। 'बहुत्व में एकत्व ही सृष्टि का नियम है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष मे व्यक्तिगत रूप मे कितना भी भेद क्यों न हो, उन सबके पीछे वह एकत्व ही विद्यमान।'[2] दूसरे शब्दों में सब एक से ही हैं, जो एक को दूसरे से पृथक् करता है वह अज्ञान है, अधर्म और स्वार्थ है।

स्वतंत्रता

विवेकानन्द स्वतत्रता के प्रबल समर्थक है। यही उनकी विशेषता है कि जहाँ एक ओर वह उग्र राष्ट्रवाद के प्रणेता हैं वहाँ दूसरी ओर वह व्यक्तिगत स्वतत्रता के भी प्रबल समर्थक हैं। प्रायः उग्र राष्ट्रवाद के समर्थको ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता की बलि दे दी है जिसके परिणाम स्वरूप स्वतत्र राष्ट्र और गुलाम नागरिक जैसी स्थिति नजर आती है। हिटलर कालीन जर्मनी और मुसोलनी के इटली की यही स्थिति थी। साम्यवादी व्यवस्था यद्यपि राष्ट्र-राज्य की अवधारणा मे विश्वास नहीं करती, लेकिन श्रमिकों की तानाशाही की आड़ में आम नागरिक व्यक्तिगत स्वतत्रता से वंचित ही हो गया। विवेकानन्द स्वतत्र व्यक्तियों के स्वतंत्र राष्ट्र की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं जो कि वास्तव मे अभिनन्दनीय है।

---

1 स्वामी विवेकानन्द : कर्मयोग, पृ 131-132.

2 स्वामी विवेकानन्द : कर्मयोग, पृ 22

स्वामी विवेकानन्द मानते हैं कि स्वतंत्रता ही मानव समाज के विकास का मूलमंत्र है। उस अनुभूति का नाम ही स्वतंत्रता है जो संपूर्ण विश्व में जीवन का बोध कराती है। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्ति में यह बोध होना चाहिए कि उसके समान सभी स्वतंत्र हैं और चन्द लोगों के हितों के खातिर अन्य लोगों को परतन्त्र नहीं बना सकते। मनुष्य को राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, आत्मिक और नैतिक प्रगति के लिए स्वतंत्रता परम आवश्यक है। जवाहरलाल नेहरू ने उनके बारे में ठीक ही लिखा है कि 'स्वामीजी राजनीति से अलग रहे, उन्हें अपने वक्त के राजनीतिज्ञ नापसन्द थे। लेकिन उन्होंने आजादी, बराबरी और जनता को उठाने की जरूरत पर बार बार बल दिया। सिर्फ सोच विचार और कामकाज की आजादी ही जिन्दगी, तरक्की और खुशहाली की शर्त है।'

विवेकानन्द के सन्यासी के गीत में स्वतंत्रता के आदर्श की अभिव्यक्ति मिलती है जिससे प्रेरणा पाकर अनेक राष्ट्रवादियों ने ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने का संकल्प लिया था।

> अपनी बेड़ियों को तोड डालो।
> उन बेडियों को जिन्होंने तुझे बांधकर डाल रखा है।
> वे दीप्तिमान सोने की हों,
> अथवा काली निम्न कोटि की धातु की,
> प्रेम, घृणा, शुभ, अशुभ -
> द्वैधता के सभी जजालों को तोड़ डाल,
> तू समझले कि दास दास है,
> उसे प्रेम पूर्वक पुचकारा जाय, अथवा कोड़ो से पीटा जाए,
> वह स्वतंत्रता नहीं है,
> क्योंकि बेड़ियाँ की ही क्यों न हों,
> बांधने के लिए कम मजबूत नहीं होती,
> इसलिए हे वीर सन्यासी उन्हें उतार फेंक और बोल
> ओम् तत् सत् ओम्।

नीचे लिखी पंक्तियाँ आन्तरिक स्वतंत्रता और आत्म-विश्वास पर जोर देती हैं और परम्परा से हटकर हैं :-

> तू कहाँ ढूंढ रहा है।
> तुझे वह स्वतंत्रता न यह लोक न वह लोक दे सकता है, न वह
> व्यर्थ में तू ढूंढ रहा है ग्रंथों और मन्दिरो में,
> तेरा अपना ही तो हाथ है जो घसीट रहा है।
> उस रज्जू को पकडे है जो तुझे

इसलिए तू विलाप करना छोड़ दे ।
रज्जू को हाथ से जाने से, हे वीर संन्यासी,
और बोल, – ओम् तत् सत् ओम् ।

विवेकानन्द, अरविन्द और गाँधी बाह्य और आन्तरिक स्वतंत्रता में अन्तर करते हैं और कहते हैं कि आप जितनी आन्तरिक स्वतंत्रता का आनन्द लेते हैं उसी अनुपात में ही बाह्य स्वतंत्रता का उपभोग कर सकते हैं । विवेकानन्द के लिए यद्यपि स्वतंत्रता की अवधारणा आध्यात्मिकता का पुट लिये हुये है, इसमें माया के बन्धनों से मुक्ति की बात कही गयी है, लेकिन यह केवल काल्पनिक थोथी स्वतन्त्रता नहीं है । यह भौतिक जगत से भी जुड़ी हुई है । उनका कहना है कि स्वतंत्रता उपनिषदों का मुख्य सिद्धान्त रहा है और यह शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में व्याप्त है । गुलाम व्यक्ति मानसिक और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का आनन्द ले ही नहीं सकता । अमेरिकी स्वाधीनता का उन्होंने स्वागत किया और 4 जुलाई 1776 को प्राप्त यह स्वतंत्रता विश्वभर में प्रतिष्ठित हुई । उन्होंने चार जुलाई के प्रति शीर्षक कविता की रचना की जो इस प्रकार है ——

तुझको कोटिशः अभिवादन, हे प्रकाश के प्रभु
आज तुम्हारा नव स्वागत,
विश्व को प्रदीप्त कर रहे हो,
हे दिवाकर । आज तुम स्वतंत्रता से
विश्व को प्रदीप्त कर रहे हो,
हे प्रभो ! अपने अनवरोध्य मार्ग पर निरन्तर बढ़ते जाओ,
जब तक कि तुम्हारे मध्याह्न का प्रकाश विश्व भर में न फैल जाय,
जब तक हर देश प्रकाश को प्रतिबिम्बित न करने लगे,
जब तक कि पुरुष और स्त्रियाँ मस्तक ऊँचा करके,
अपनी बेड़ियों को टूटा हुआ न देख ले,
और जब तक कि यौवन के आह्लाद में उनका जीवन नया न हो जाय ।[1]

विवेकानन्द का क्रांतिकारी संदेश यह है कि स्वतंत्र व्यक्ति और राष्ट्र को चाहिये कि वह दूसरे व्यक्तियों एवं राष्ट्रों को स्वतंत्र होने में सहयोग दे । जो नियम, कानून, परम्परा एवं रीति-रिवाज मनुष्य को स्वतंत्र होने से रोके उन्हें समूल नष्ट कर दिया जाय ।

समाजवाद

प्रायः वर्ग-संघर्ष में आस्था रखने वाले लोग ही समाजवादी कहलाये हैं, लेकिन यह धारणा ठीक नहीं है । सामाजिक समरसता, सामञ्जस्य और सहिष्णुता के आधार

---

1. वी. पी. वर्मा द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 139.

पर भी समाजवाद के मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जा सकता है। विवेकानन्द और गाँधी को इस श्रेणी के समाजवादियों में रखा जा सकता है जिन्होंने असमानता, दरिद्रता, शोषण, अन्याय, अलगाव, उत्पीड़न के विरुद्ध जिहाद छेड़ा और स्वतंत्रता एवं समानता के आदर्श को स्वीकारा। स्वामी विवेकानन्द यूरोप और पश्चिमी जगत के बढ़ते पूँजीवाद के दुष्परिणामों के प्रति सजग थे और इसलिये एक ऐसी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था के प्रबल पक्षधर थे जिसके अन्तर्गत मानव स्वतंत्रता और समानता पर आधारित मूल्यों का जीवन में आत्मसात कर सके। उनकी रूस के क्रांतिकारी अराजकतावादी विचारक प्रिंस क्रोपोटकिन से भेंट हुई थी जिसका उन पर प्रभाव पड़ा। स्वामीजी ने स्वयं को समाजवादी कहना प्रारंभ भी किया और पुस्तक की रचना भी की जिसका शीर्षक था 'मैं एक समाजवादी हूँ।'

उन्होंने अहसास किया कि वह दिन दूर नहीं है जबकि शूद्रों के रूप में ही शूद्र शासक बन जायेंगे। उनके अनुसार समाज पर अब तक पुरोहितों, पादरियों, मौलवियों, सैनिकों एवं व्यापारियों ने राज्य कर लिया है, अब शूद्रों का राज होगा। यह इसलिये होगा कि उनमें अब चेतना जाग्रत हो रही है कि उनके श्रम का और लोगों ने शोषण किया है अत. वे अब संगठित हो रहे हैं। अब उच्च वर्ग निम्न वर्गों का शोषण नहीं कर पायेंगे। उन्होंने कहा कि भूख सबसे बड़ी बीमारी है और भूखे आदमी से नैतिक आचरण की अपेक्षा नहीं की जा सकती। उन्होंने उद्घोष किया, 'बुभुक्षितं किम न करोति पापम्'। स्वामीजी का हृदय गरीबों की करुणाजनक स्थिति पर पसीज उठता था और उन्होंने कहा कि देशभक्ति की दिशा में पहला कदम इन निराश्रित, पराश्रित, असहाय, दुर्बल एवं दीन-हीन लोगों के लिए रोटी की व्यवस्था करना है। उन्होंने भावुक मन से यहाँ तक कह दिया कि रोटी में ही भगवान के दर्शन होते हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने भारत के उच्च वर्गों के लोगों पर निर्मम प्रहार किया है जिन्होंने सदियों तक सत्ता-सुख भोगा है और अब भी गरीबों, शूद्रों, पिछड़ों, गरीबों के कल्याण हेतु कुछ भी नहीं करना चाहते। उन्होंने उन्हें इन कठोर शब्दों में ललकारा है —

'भारत के उच्च वर्गों, क्या तुम अपने को जीवित समझते हो ? तुम तो केवल दस हजार वर्ष पुरानी ममियाँ हो। भारत में यदि किसी में तनिक भी प्राणशक्ति शेष रह गई है तो वह उन लोगों में है जिन्हें तुम्हारे पूर्वज चलती फिरती लाश समझकर घृणा करते थे। चलती फिरती लाश तो वास्तव में तुम हो, भारत के उच्च वर्गों। माया के इस जगत में असली माया तुम हो, तुम्हीं गूढ़ पहेली और मरुस्थल की मृगमरीचिका हो। तुम भूतकाल के प्रतिनिधि हो, तुम अतीत के विभिन्न रूपों के अव्यवस्थित जमघट हो, लोगों को तुम वर्तमान में भी दृष्टिगोचर प्रतीत होते हो, यह तो मन्दाग्नि से उत्पन्न दु.स्वप्न है। तुम शून्य हो, तुम भविष्य की सारहीन नगण्य वस्तु हो। स्वप्न-लोक के निवासियों, तुम अब भी क्यों लड़खड़ाते हुए घूम रहे हो ? तुम पुरातन भारत के शव के मांसहीन और रक्तहीन

अस्थिपंजर हो, तुम शीघ्र ही राख बन कर हवा मे विलीन क्यो नहीं हो जाते ? तुम अपने को शून्य में विलीन कर दो और तिरोहित हो जाओ, और अपने स्थान पर नये भारत का उदय होने दो। उसे (नये भारत को) उठने दो, हल की मूंठ पकड़ किसान की कुटिया में से, मछुओ, मोचियों और भंगियो की झोपड़ियो में से। उठने दो उसे परचूनी वाले की दुकान से और पकोडी बेचने वाले की भट्ठी से। उठने दो उसे कारखानों से, हाटो से और बाजारों से। उसे कुजों, बनो, पहाडियो और पर्वतो से उठने दो। इन साधारण जनों ने हजारों वर्षों तक उत्पीड़न सहन किया है और बिना शिकायत किये और बडबड़ाये सहन किया है, जिसके परिणामस्वरूप उनमे आश्चर्यजनक सहनशक्ति उत्पन्न हो गई है। वे अनन्त दु:खो को सहते आये हैं जिसने उन्हे अविचल शक्ति प्रदान कर दी है। मुट्ठी भर दानों पर जीवित रहकर वे संसार को झकझोर सकते हैं। उन्हे रोटी का आधा टुकड़ा ही दे दीजिये और फिर तुम देखोगे कि सारा विश्व भी उनकी शक्ति को सम्भालने के लिये पर्याप्त नही होगा। उनमे रक्तबीज की अक्षय शक्ति विद्यमान है। इसके अतिरिक्त उनमे आश्चर्यजनक शक्ति है जो शुद्ध और नैतिक जीवन से उपलब्ध होती है और जो ससार मे अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलती। ऐसी शान्तिपूर्णता, ऐसा सन्तोष, ऐसा प्रेम, शान्तिपूर्वक तथा निरन्तर काम करते रहने की ऐसी शक्ति और काम के समय ऐसे सिहतुल्य पौरुष का प्रदर्शन – यह सब तुम्हे कहाँ मिलेगा ? अतीत के अस्थिपजरो। यहाँ तुम्हारे समक्ष तुम्हारे उत्तराधिकारी खड़े हैं जो भविष्य का भारत है। अपनी तिजोरियो की और अपनी उन रत्नजड़ित मुदरियों को उनके बीच जितनी शीघ्र हो सके, फेक दो और तुम हवा में विलीन हो जाओ जिससे तुम्हें भविष्य मे कोई देख न सके – तुम केवल अपने कान खुले रखो। जिस क्षण तुम तिरोहित हो जाओगे उसी क्षण तुम नवजाग्रत भारत का उद्घाटन – घोष सुनोगे।'[1] सर्वहारा वर्ग की इससे ज्यादा प्रभावशाली ढग से शायद ही किसी ने वकालत की हो।

वैसे स्वामी विवेकानन्द समाजवाद को एक आदर्श व्यवस्था नहीं मानते। परम्परागत समाजवाद से उनका मेल भी नहीं खाता। न तो वह वर्ग संघर्ष मे विश्वास करते थे और न ही श्रमिक वर्ग की तानाशाही के सिद्धान्त मे ही जैसा कि मार्क्सवादी करते हैं। वे वेदान्तवादी हैं और वर्गहीन समाज की अवधारणा मे उस प्रकार विश्वास नहीं करते जिस प्रकार कि मार्क्सवादी करते हैं। उन्होंने स्वीकार किया कि प्रकृति ने सबको समान नहीं बनाया है इसलिये जो दुर्बल है उसे आगे बढ़ाने के लिये ज्यादा तवजोह की आवश्यकता है। उन्होंने कहा कि एक ब्राह्मण को उतनी शिक्षा की आवश्यकता नहीं है जितनी कि चाण्डाल को। वस्तुत उनका आदर्श एक सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक भातृभाव था जिसमें आर्थिक समानता का पक्ष भी निहित है। चूँकि वह मनुष्य को केवल

1 दी कम्प्लीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, जिल्द 7, पृ 326-28 वी पी वर्मा द्वारा उद्धृत वही पुस्तक, पृ 148.

भौतिक प्राणी नही मानते इसलिये आध्यात्मिक एवं नैतिक पक्ष पर बल देते हैं क्योंकि जीवन का ध्येय केवल भौतिक जगत मे समानता प्राप्त करना नही है बल्कि आत्म साक्षात्कार करना है। आत्म साक्षात्कार के रास्ते मे गरीबी, उत्पीड़न, शोषण, अलगाव आदि न आयें इसलिये वह भौतिक जगत की समानता और स्वतंत्रता की बात करते हैं। लेकिन स्वतंत्रता केवल आर्थिक एवं राजनीतिक अर्थ मे ही नही है, बल्कि समस्त बधनो से मुक्ति है। समाजवादी इस अर्थ में समानता और स्वतंत्रता की बात नही करते। उनके चिन्तन मे आध्यात्मिक और नैतिक पक्ष गायब है। विवेकानन्द इसलिये प्रचलित समाजवाद के प्रति आकृष्ट नहीं हैं। उन्हीं के शब्दों मे "मैं समाजवादी इसलिये नही हूँ कि मैं समाजवाद को एक श्रेष्ठ व्यवस्था मानता हूँ, बल्कि (पूरी) रोटी के न होने से आधी रोटी का होना बेहतर है। अन्य व्यवस्था को आजमाया जा चुका है और वे विफल सिद्ध हुई हैं। इसे भी आजमाया जाय यदि किसी अन्य वजह से नहीं तो केवल नवीनता के लिए ही सही। दु:ख और सुख का पुनर्वितरण उस स्थिति की अपेक्षा तो अच्छा ही है जिसमे कुछ व्यक्ति सदैव दु:ख और कुछ सदैव सुख का अनुभव करते हैं। इस दु:खपूर्ण ससार मे व्यक्ति को कभी न कभी तो सुख प्राप्त होना चाहिये।"[1]

विवेकानन्द का योगदान इस अर्थ मे है कि उन्होने समग्र मनुष्य का अध्ययन किया जिसमे उसके भौतिक, आध्यात्मिक और नैतिक पक्ष समाहित हुये। उन्होने शक्ति और निर्भीकता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया जो राजनीतिक चिन्तन की शब्दावली मे प्रतिरोध का सिद्धान्त कहलाता है। उन्होंने भारतीय राष्ट्र की अवधारणा प्रतिपादित की और सुषुप्त भारतीय मानस को जगाया। उन्होने ललकारा कि जिसका अतीत इतना भव्य है वह राष्ट्र कब तक अचेतन पड़ा रहेगा। उन्होने पश्चिम के अन्धानुकरण की भी भर्त्सना की। उनकी राष्ट्रवाद की अवधारणा ने अनेक स्वतंत्रता सेनानियो को प्रेरणा दी। उनकी स्वतत्रता की अवधारणा भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। वह मिल की भाँति थोथी स्वतंत्रता के मसीहा नहीं हैं। वस्तुत: उनकी यह अवधारणा काफी विस्तृत एवं संपूर्ण है। उनकी समाजवाद की अवधारणा भी परम्परागत समाजवादियों से कहीं अधिक उन्नत प्रतीत होती है। सबसे बड़ी बात यह है कि विवेकानन्द एक महान् कर्मयोगी और तपस्वी संन्यासी थे जिन्होने सर्वप्रथम भारत के गौरवशाली अतीत से पश्चिम को परिचित कराया। उनका 1893 का शिकागो सर्वधर्म सम्मेलन मे दिया गया भाषण अब भी बड़े गौरव के साथ स्मरण किया जाता है। परकीय सत्ता के चंगुल मे बंधा हुआ, अपनी अस्मिता को विस्मृत किया हुआ, सुषुप्त, अचेतन भारत को इस युवा संन्यासी ने जाग्रत किया और उनका यह संदेश कि उठो, जागो और प्रतीक्षा मत करो जबतक कि तुम अपने ध्येय को प्राप्त न कर लो' विद्युत प्रवाह से भारत के कोने कोने में फैल गया। उन्हें गर्व के साथ भारतीय आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का जनक कहा जाता है।

1 दी कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, वोल्यूम 6, पृ 381-2, अद्वैत आश्रम। अल्मोड़ा।

गोपाल कृष्ण गोखले (1866 - 1915)

महाराष्ट्र के रत्नागिरी जिले में जन्मे गोपाल कृष्ण गोखले प्रमुख उदारवादी नेता थे। वह स्वतंत्रता संग्राम के अत्यन्त प्रतिष्ठित अग्रणी नेता होने के साथ ही साथ एक प्रखर वक्ता, चिन्तक, संविधान विशेषज्ञ एवं लेखक थे। गाँधीजी ने उन्हें अपना राजनीतिक गुरु माना है और लिखा है कि वह गंगा के समान पवित्र एवं गम्य है जिसमें डुबकी लगाकर भी कोई बाहर आ सकता है जबकि लोकमान्य तिलक प्रशान्त महासागर की भाँति गंभीर एवं फिरोजशाह मेहता हिमालय की भाँति ऊँचे हैं।

बड़े संघर्षों के बाद वह विद्या अध्ययन कर पाये थे लेकिन मेधावी होने के कारण सभी समस्याओं से जूझते हुये भारत के उज्ज्वल सितारे बन सके। विद्यार्थी जीवन में वह प्रसिद्ध अंग्रेज विचारक एडमंड बर्क से प्रभावित हुये जिनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'रिफ्लेक्शन्स आन दि फ्रेंच रिवोल्यूशन' की उन पर गहरी छाप पड़ी। गणित और अंग्रेजी में उन्होंने असाधारण योग्यता अर्जित की। डेक्कन एजुकेशनल सोसाइटी के सदस्य के रूप में उन्होंने अभूतपूर्व सामाजिक सेवायें अर्पित की। उन्होंने शिक्षक के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ किया लेकिन योग्यता, विद्वता और देशभक्ति के कारण वह 39 वर्ष की अपेक्षाकृत अल्प आयु में ही राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुये। 22 वर्ष की आयु में ही वह बम्बई विधान परिषद के सदस्य मनोनीत हुये। 1902 में वह वायसराय की विधायी परिषद् के सदस्य मनोनीत हुए। इन दोनों परिषदों में उनके भाषण चमत्कारिक होते थे, उनके बजट भाषण को सुनने के लिए बड़े-बड़े बुद्धिजीवी लालायित रहते थे। उनकी भाषणकला, तथ्यों का निरूपण, मृदुभाषिता, तर्कशक्ति एवं भाषा पर अधिकार उनकी सफलता की कुंजी थी। उनके सुझावों की लार्ड कर्जन जैसे अनुदार भारत विरोधी और दम्भी वायसराय भी प्रशंसा करते थे। संसदीय व्यवस्था के तो वह माने हुए विशेषज्ञ थे, वह आलोचना केवल आलोचना के लिये नहीं करते थे, उनकी आलोचना सदा रचनात्मक होती थी, किसी मॉडल की भर्त्सना उसमें सुधार की दृष्टि से करते थे। यही कारण था कि अंग्रेज शासक भी उनके भाषणों को बड़े ध्यान से सुनते थे और उनके सुझावों को कार्यान्वित करने का प्रयास करते थे।

गोखले पर महादेव गोविन्द रानाडे का गहरा प्रभाव पड़ा। जब वह फर्ग्यूसन कॉलेज पूना में शिक्षक के रूप मे कार्यरत थे तब ही रानाडे से उनकी भेंट हुई जिसका उनपर इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने रानाडे को अपना राजनीतिक गुरु मान लिया और उनके नेतृत्व में सार्वजनिक कार्य प्रारम्भ किया। रानाडे के राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक चिन्तन का उनपर गहरा प्रभाव पड़ा। रानाडे की धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद, उदारवाद, मानव अधिकार एवं जनतंत्र की अवधारणा गोखले के चिन्तन की आधारशिला बन गई। रानाडे के अतिरिक्त दो अन्य व्यक्तियों का प्रभाव भी गोखले पर पड़ा। ये थे — दादाभाई नौरोजी और फिरोजशाह मेहता। नौरोजी के सीधे-सादे पवित्र जीवन, देश भक्ति और

राष्ट्रीयता की भावना ने उन्हें प्रभावित किया। फिरोजशाह मेहता से उन्होंने दलीय सगठन और उसकी तकनीक सीखी। वह मेहता से इतने प्रभावित हुये कि एक बार उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि फिरोजशाह के साथ रहकर गलती करना पसन्द करेंगे मुकाबले उनके बिना सही काम करने के।

उन्होंने भारत की दयनीय आर्थिक स्थिति से अवगत कराने वेल्बी कमीशन के समक्ष अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करने हेतु इंगलैंड की यात्रा की। उन्होंने देश के वित्त पर भारतीयों के नियत्रण एव प्रशासनिक सेवाओ के भारतीयकरण के मुद्दो पर प्रभावशाली ढग से अपने विचार प्रस्तुत किये। उन्होंने 1905 मे सर्वेन्ट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी की स्थापना की जिससे अनेक विशिष्ट व्यक्ति जुडे और इसके माध्यम से अनेक महत्त्वपूर्ण सामाजिक कार्य सम्पादित हुए। गोखले का समकालीन भारत के सार्वजनिक जीवन मे लोकमान्य तिलक के करीब–करीब समकक्ष ही स्थान था यद्यपि अपने उग्र और क्रांतिकारी विचारो के कारण तिलक को अधिक लोकप्रियता मिली। उनकी अपेक्षाकृत कम आयु मे ही मृत्यु हो गई। मृत्यु पर शोक व्यक्त करते हुए बालगंगाधर तिलक ने कहा कि गोखले भारत के हीरे और महाराष्ट्र के आभूषण थे। वह अपनी अपरिमित प्रतिभा, योग्यता और कठोर परिश्रम के बल पर ही उन्होंने इतनी प्रसिद्धि अर्जित की।'[1]

गोखले के विचार

भारत–ब्रिटिश सहयोग के समर्थक के रूप मे गोखले की आलोचना भी की गई है। प्रारम्भ मे वह यह मानकर चलते थे कि ब्रिटिश राज भारत मे वरदान है लेकिन धीरे–धीरे अग्रेजो के कुकृत्यो एवं जुल्मो से क्षुब्ध होकर वह अपने विचारो को बदलने लगे। वह देशभक्ति मे किसी से पीछे न थे लेकिन उनका मानना था कि राष्ट्रीय पुनर्निर्माण हेतु सभी क्षेत्रो का समन्वित विकास होना चाहिए। राजनीतिक स्वतंत्रता के पूर्व सामाजिक सुदृढता एव चरित्र–निर्माण आवश्यक है। आजादी को अक्षुण्ण बनाये रखने हेतु सामाजिक चेतना जगाना आवश्यक है। वह पश्चिम के जनतंत्र, उदारवाद, मानव–मूल्य, प्रशासनिक व्यवस्था, सामाजिक समानता एवं समरसता, सविधानवाद की अवधारणाओ से प्रभावित थे और चाहते थे कि भारत मे भी ऐसा सुराज स्थापित हो। तिलक और गोखले मे यही मुख्य अन्तर था। जहाँ तिलक स्वराज्य पर जोर देते थे गोखले का बल सुराज पर था, वह इंगलैंड की सस्थाओ को भारत में लाने के पक्षधर थे और चाहते थे कि प्रशासनिक सुधार हो जिसके मूल मे सत्ता का विकेन्द्रीकरण और जन सहभागिता रहे। वह शासन मे मितव्ययिता, स्वस्थ वित्तीय नीति, शिक्षा के आधुनिकीकरण एवं व्यापकता पर जोर देते थे। वह क्रमिक विकास चाहते थे और नारों, प्रदर्शनों एवं उकसाने वाले भाषणो को पसन्द नही करते थे। उन्हें भय था कि ऐसा करने पर ब्रिटिश सरकार का आक्रोश बढ़ेगा और जनता पर वह जुल्म ढहायेगी जिसकी कोई आवश्यकता नही है। वह ब्रिटिश

---

1 विष्णु भगवान द्वारा उद्धृत, इंडियन पॉलिटिकल थिंकर्स, आत्माराम एण्ड सन्स, देहली, पृ 93

जनता और सरकार की सदाशयता के प्रति आश्वस्त थे। वह राजनीति में नैतिकता और संविधानवाद के प्रबल पक्षधर थे। वह देश में प्रचलित व्यवस्था को तोड़कर अराजक स्थिति नहीं चाहते थे, उन्होंने कहा कि जनता को उकसाना आसान है, लेकिन इससे देश को कोई लाभ नहीं होगा, इससे तो सरकारी आतंक ज्यादा बढेगा और कानून और व्यवस्था की आड़ में सरकार ज्यादा जुल्म ढहायेगी। अत: उन्होंने संयम, धैर्य, सहिष्णुता, चेतना, चरित्र निर्माण पर ज्यादा बल दिया।

राजनीति का आध्यात्मीकरण

गोखले राजनीति का स्तर ऊँचा उठाने मे विश्वास करते थे। राजनीति को वह व्यवसाय या पेशा न मानकर मिशन मानते थे। राजनीति समाज सेवा करने का एक माध्यम है और इसलिये यह व्यक्तिगत हितो और स्वार्थों से ऊपर रहनी चाहिए। इसमे आदर्शों, उद्देश्यो और आयामों को सतत ध्यान में रखना चाहिये और इसलिये राजनीति से जुड़े लोगों को उच्चादर्श और पवित्र जीवन को सतत ध्यान मे रखना चाहिए। राजनीति मे नैतिकता का अभाव इसे भ्रष्ट कर देता है। इसलिये अच्छे उद्देश्यो की प्राप्ति हेतु अच्छे साधनो की भी आवश्यकता होती है। सत्य, सवैधानिकता, साधनो की पवित्रता, और व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन मे शुचिता की गोखले ने जोरदार वकालत की और इनका गाँधी ने अनुसरण किया। गलत तरीकों से अर्जित स्वतन्त्रता, जनतंत्र एवं मानवाधिकार कोई अर्थ नहीं रखते। वह स्वतन्त्रता हो ही नहीं सकती जिसको प्राप्त करने के लिए गलत साधनों का उपयोग किया गया हो। उनकी दृढ़ मान्यता थी कि बिना व्यक्ति के चरित्र निर्माण के कुछ भी ठोस उपलब्धि नहीं हो सकती।

धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद

गोखले प्रखर राष्ट्रवादी थे, लेकिन यह राष्ट्रवाद उदार था जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण बनाये रखे। सर्वेन्ट्स ऑफ सोसाइटी के प्रत्येक सदस्य को यह शपथ लेनी पड़ती थी कि वह अपने चिन्तन मे सर्वोच्च प्राथमिकता राष्ट्रीयता को देगा और सभी भारतीयों को चाहे वे किसी भी मजहब, वर्ण, प्रांत एवं जाति के हो, अपना भाई समझेगा।

व्यावहारिक आदर्शवादी के रूप मे उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियो मे केवल उसी बात पर बल दिया जो प्राप्त की जा सकती थी। यही कारण था कि उन्होंने लोकमान्य बालगंगाधर तिलक की भाँति स्वराज्य का नारा नहीं दिया। उन्होंने स्वशासन शब्द का प्रयोग किया। यद्यपि वह धीरे-धीरे ब्रिटिश सरकार की नेकनियति मे अविश्वास करने लगे थे, लेकिन फिर भी उन्होंने सवैधानिक तरीको को त्यागने की बात नहीं कही। कांग्रेस के 1905 मे हुये बनारस अधिवेशन मे अध्यक्ष के नाते उन्होंने निम्नलिखित बातें कहीं[1] (1) विधान परिषद मे निर्वाचित सदस्यो की संख्या बढ़ाकर कुल संख्या की

---

1 विष्णु भगवान, वही पुस्तक, पृ 94

आधी कर दी जाय, (2) भारतीय परिषद मे तीन भारतीयों को शामिल किया जाय, (3) देश के सभी जिलों में परामर्शदायी बोर्डों का गठन, (4) न्यायपालिका का कार्यपालिका से पृथक्कीकरण, (5) सैनिक व्यय मे कटौती, (6) तकनीकी और औद्योगिक शिक्षा का विस्तार, (7) न्यायपालिका मे भारतीय सिविल सर्विस के कानून विशेषज्ञों की भर्ती, (8) प्राथमिक शिक्षा का विस्तार।

यह उन्हीं के नेतृत्व का प्रभाव था कि सूरत में हुये कांग्रेस अधिवेशन में यह माँग की गई कि भारत में भी ऐसी सरकार की स्थापना की जाय जैसी कि ब्रिटिश साम्राज्य के अनेक स्वशासित देशों मे है ताकि भारत भी उन देशों की भाँति ब्रिटिश साम्राज्य की जिम्मेदारियो और अधिकारों मे भागीदारी कर सके। उनका सदा यही मत रहा कि उद्देश्यों की प्राप्ति संवैधानिक तरीकों से ही की जानी चाहिए, प्रशासन तंत्र में सुधार हो, राष्ट्रीय एकता को सुदृढ किया जाय, सामाजिक सेवा की भावना का विकास हो एवं देश के बौद्धिक, नैतिक, आर्थिक एवं औद्योगिक संसाधनो को संगठित किया जाए।

गोखले का स्पष्ट मत था कि भारत की प्रगति हिन्दू-मुसलमानो के मध्य सौहार्द्रपूर्ण संबंधो के बिना असंभव है, उनका कथन था कि 'तुम दोनों मे से किसी से भी छुटकारा नही पा सकते। दोनों को ही इस भूमि पर साथ साथ रहने की आदत डालनी है, उन्हें साथ रहना है, अत. उन्हें मिलकर कार्य करना चाहिए। गोखले के इन विचारो का तत्कालीन नेताओ, समाज सुधारकों एवं चिन्तको के मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पडा। इसका एक बहुत बड़ा उदाहरण यह है कि द्विराष्ट्र सिद्धान्त के प्रबल समर्थक और एक दृष्टि से प्रवर्तक मोहम्मद अली जिन्ना की इच्छा एक मुस्लिम गोखले बनने की थी।'[1]

धर्मनिरपेक्षता की अपनी अवधारणा को आगे बढ़ाते हुए गोखले चाहते थे कि भारत के सभी संप्रदायों एवं धर्मों के लोगो को एक ही राजनीतिक मंच पर खड़ा होना चाहिए। धर्म राष्ट्र प्रेम में बाधक नहीं होना चाहिए बल्कि इससे तो राष्ट्र प्रेम और सार्वजनिक जीवन मे सहभागिता को बल मिलना चाहिए। धर्म इन्सान को श्रेष्ठ बनाता है, अत व्यक्तिगत जीवन की श्रेष्ठता सार्वजनिक जीवन मे प्रतिष्ठापित होनी चाहिए।

संविधानवाद और उदारवाद

यह सभी विद्वानो का मत है कि गोखले का भारतीय राजनीतिक चिन्तन को योगदान जिन दो विशिष्ट विन्दुओ पर टिका हुआ है वे है संविधानवाद और उदारवाद। वह शासक और शासितों के बीच वार्ता पर जोर देते थे, शासक शासितों की दिक्कतो, परेशानियों और शिकायतों को सुने और उनपर अमल करे एवं शासित भी शासको की दिक्कतों को समझे। दोनों पक्षो के बीच सौहार्द्रपूर्ण संबंध हों और व्यवहार मे सहिष्णुता

1 डी.बी. मथुर द्वारा उद्धृत गोखले पॉलिटिकल बायोग्राफी, पी सी मानकतला, बंबई, पृ 394

बनी रहे। राजनीति और सार्वजनिक जीवन में हिंसा, असहिष्णुता, पूर्वाग्रह, असहयोग आदि का कोई स्थान नहीं है, आमूल चूल परिवर्तन कभी संभव नहीं होता, हिंसा, असहिष्णुता का व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन में कोई स्थान नहीं है। गोखले के बारे में इन्द्रविद्या वाचस्पति[1] ने लिखा है कि उनके स्वभाव की यह विशेषता थी कि वह अपने हृदय को मस्तिष्क पर हावी नहीं होने देते थे तथा हृदय की गर्मी मस्तिष्क तक पहुँच कर उनके व्यवहार तथा भाषण में ऐसा तेज उत्पन्न कर देती थी जो कांग्रेस की राजनीति में नवीन बात थी। 'कांग्रेस के इतिहास मे पट्टाभिसीतारमैया ने भी लिखा है कि 'गोखले को कठोर से कठोर बात को कोमल से कोमल शब्दों मे कहने की कला ज्ञात थी।'

गोखले मानव अधिकारों और स्वतंत्रता को बहुत महत्त्व देते थे। उनकी मान्यता थी कि बिना प्रतिनिधि संस्थाओं के मानव स्वतंत्रता संभव नही है। वह जान स्टुअर्ट मिल से प्रभावित अवश्य थे, लेकिन स्वतंत्रता हेतु आवश्यक परिस्थितियों के निर्माण पर भी उनका जोर था। वह सम्पत्ति के अधिकार को आवश्यक मानते थे, लेकिन सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में इसकी व्याख्या करते थे। वह दरिद्रों की दशा से दुःखी हो उठते थे, लेकिन वह किसी की भूमि को सरकार द्वारा अपने नियंत्रण मे लेने के भी विरोधी थे। यही कारण था कि उन्होने 1901 में बम्बई की विधान परिषद मे प्रस्तुत लैंड एलीनियेशन बिल का विरोध भी किया। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं लगाया जाना चाहिए कि उदारवाद के नाम पर वह किसी वर्ग विशेष के अधिकारो के समर्थक थे। मिल की भाँति उन्होने आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का इसलिए पक्ष लिया ताकि अल्पसंख्यकों को भी प्रतिनिधि संस्थाओं में स्थान मिल सके। बहुसंख्यको की मनमानी पर अंकुश लगाने हेतु अल्पसंख्यको का प्रतिनिधित्व भी आवश्यक है।

गोखले बहिष्कार की राजनीति के विरोधी थे। वह सवैधानिक प्रक्रिया के माध्यम से ही परिवर्तन के समर्थक थे। यदि संवैधानिक प्रक्रिया मे आस्था हो तो हिंसा, विद्रोह, सशस्त्र क्रांति या सत्ता पलटने हेतु विदेशियों से ली जाने वाली सहायता अवांछनीय है। यदि शासक के विरुद्ध असंतोष व्यक्त करना हो तो याचिकायें, न्याय के लिए प्रार्थना, प्रतिनिधि संस्थाओ एवं सभाओ के द्वारा जनमत जागरुक करना, लेख लिखना, अखबार निकालना आदि वैधानिक कदम उठाये जाने चाहिए। यदि स्थिति बहुत की विकट हो और शासक हृदयहीन एवं निष्ठुर हो तो विरोध स्वरूप करों को न चुकाना भी जायज है। यद्यपि आगे चलकर महात्मा गाँधी ने निष्क्रय प्रतिरोध को अपनाया, लेकिन उनके गुरु गोपालकृष्ण गोखले ने इसकी अनुमति नहीं दी। तत्कालीन भारतीय परिस्थितियों मे गोखले ने निष्क्रिय प्रतिरोध की व्यावहारिकता पर ही प्रश्न चिह्न लगा दिया और कहा

1 इन्द्रविद्या वाचस्पति, भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृ 100.

कि जो ऐसा सोचते हैं कि ऐसा करने से स्वशासन मिल जायेगा वे शीघ्र ही अपनी भूल को स्वीकार करेंगे।[1]

राज्य की अवधारणा और सत्ता का विकेन्द्रीकरण

गोखले सत्ता के केन्द्रीयकरण के विरोधी थे। इसके पीछे दो मुख्य कारण थे प्रथम सैद्धांतिक और दूसरा व्यावहारिक। उदारवादी और संविधानवादी होने के नाते राज्य के अधिक शक्तिशाली होने की बात उन्हें वैसे ही असंगत लगती थी क्योंकि राज्य सत्ता का केन्द्रीयकरण मनुष्य की स्वतंत्रता के लिए घातक है। व्यावहारिक पक्ष यह है कि जब तक राज्य सत्ता का विकेन्द्रीकरण नहीं होगा भारतीयों का प्रशासन से जुड़ाव नहीं हो पायेगा। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि केन्द्रीयकरण प्रशासकीय निरंकुशता को जन्म देता है और इसमे शासक की स्वेच्छाचारिता बढ़ती है। अरस्तू की भाँति गोखले भी मानते थे कि राज्य का कार्य जनता की भौतिक और नैतिक प्रगति करना है। राज्य का काम व्यक्तियो के लिए उन परिस्थितियो का निर्माण करना है जिनमें वे अपना सर्वोच्च विकास कर सके। गोखले के अनुसार राज्य न एक आवश्यक या अनावश्यक बला है और न ही यह पुलिस राज्य ही है। *राज्य एक आवश्यक संस्था है, यह उपयोगी भी है लेकिन* इसका विकेन्द्रित स्वरूप ही जनहित मे सार्थक है।

सत्ता के विकेन्द्रीकरण हेतु उन्होने समय समय पर अनेक सुझाव भी दिये थे जिसमें मुख्य निम्नलिखित हैं —

शासन के केन्द्रीयकरण से उत्पन्न समस्याओं के समाधान हेतु उन्होने सर्वप्रथम प्रांतीय शक्तियों मे वृद्धि की वकालत की। इसके लिए उन्होंने प्रांतीय विधान परिषदों को अधिक शक्तिशाली बनाने पर जोर दिया। उन्होंने सुझाव दिया कि परिषदों को अधिकार होना चाहिए कि वे अपने बजट पर स्वयं ही विचार कर सकें। ब्रिटिश शासन मे कलेक्टर इतना शक्तिशाली बन गया था कि उस पर अकुश लगाना मुश्किल हो गया था। इसलिये जिला प्रशासन में उसकी स्वेच्छाचारिता को रोकने के लिए गोखले का सुझाव था कि जिला स्तरीय परिषद का निर्माण किया जाय जो कलेक्टर को प्रशासकीय मामले में सलाह दे सके। हाबहाउस विकेन्द्रीकरण आयोग के समक्ष उन्होने तीन ठोस सुझाव दिये — सत्ता का अहसास जनसाधारण को हो और साथ ही उसकी सहभागिता बढ़ाने की दृष्टि से सबसे नीचे ग्राम पचायत गठित हो और इनके पास पर्याप्त अधिकार होने चाहिये, दूसरे स्तर पर जिला परिषदे हों जिसकी जिले के प्रशासन मे भागीदारी हो एवं शिखर पर पुनर्गठित विधान परिषदे हों जिनकी प्रांतीय प्रशासन में महत्त्वपूर्ण भूमिका हो।

गोखले ने सत्ता के विकेन्द्रीकरण के साथ साथ यह भी माँग की कि देश का सैनिक

---

1 गोपालकृष्ण गोखले स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ मद्रास, पृ 112

व्यय कम किया जाना चाहिए। प्रशासन पर होने वाले ताबड़तोड़ व्यय पर भी अंकुश लगाने की माँग की। उनका तर्क यह था कि इससे राजस्व का बहुत बड़ा भाग केवल इन दो मदों पर खर्च हो जाता है और जनता के विकास की योजनायें बन ही नहीं पातीं। अतः शासन की प्राथमिकताओं में जनता का जीवनस्तर उन्नत करने की योजनायें और उनका कार्यान्वयन होना चाहिए।

वह नौकरशाही के भी आलोचक थे। उन्होंने इंगित किया कि ब्रिटिश नौकरशाही अत्यधिक केन्द्रीकृत है और यूरोप से आने वाले शीर्ष अधिकारी जन आकांक्षाओं को न समझ पाते हैं और न उनकी इन समस्याओं को समझने में रुचि ही होती है। उनमें से अनेकों का कार्यकाल भी सीमित होता है और इसलिए समझने का उन्हें समय ही नहीं मिलता। अतः उनका आग्रह यह था कि उच्च प्रशासनिक पदों पर शिक्षित भारतीयों को लगाया जाना चाहिए क्योंकि वे इस धरती से जुड़े हुये हैं और जन आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व भी करते हैं। एक उनका कथन यह भी था कि अधिकारी वर्ग की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश लगाना बहुत आवश्यक है क्योंकि वे अपने हितों को ही प्राथमिकता देते हैं। उन्हें उत्तरदायी बनाया जाना आवश्यक है।

सार यह है कि गोखले राज्य को एक सकारात्मक दृष्टि से देखते हैं और सामाजिक परिवर्तन एवं विकास में उसकी महती भूमिका स्वीकार करते हैं। वह अराजकतावादियों की तरह न तो राज्य को अनावश्यक बुराई मानते हैं और न ही व्यक्तिवादियों की तरह आवश्यक बुराई ही। वह उदारवादी हैं और राज्य की महत्ता एवं आवश्यकता को स्वीकार करते हैं लेकिन उसे निरंकुश होने से बचाने के लिये सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर बल देते हैं। लेकिन गाँधी की तरह वह ग्राम स्वराज्य के पक्षधर भी नहीं हैं।

वह चाहते थे कि राज्य एक सकारात्मक भूमिका का निर्वाह करे और समाज के विकास में अपना योगदान दे। वह ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करे जिनमें मनुष्य अपने विकास के नये आयाम ढूँढ सके, अपने व्यक्तित्त्व निर्माण के कार्य मे निर्विघ्न आगे बढ़ सके। वह जहाँ राज्य के निरंकुश होने से रोकना चाहते हैं वहाँ दूसरी ओर उसे केवल पुलिस राज्य तक भी सीमित नहीं रखना चाहते। सामाजिक बुराइयों जैसे मद्यपान, जुआ, अज्ञान, अशिक्षा, गरीबी आदि को दूर करने में वह राज्य को माध्यम बनाना चाहते हैं। वह आर्थिक और औद्योगिक विकास में भी राज्य की भूमिका को स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि जहाँ स्वैच्छिक संस्थायें एवं सहकारी संगठन असफल रहे या किसी कार्य को करने मे असमर्थ हो वहाँ राज्य को आगे आकर कानून के जरिये और जनता के सहयोग से उन कार्यों को करना चाहिये। आखिर समाज में एक प्रशासनिक यंत्र की आवश्यकता तो होती है और वह यंत्र राज्य ही तो है। सार यह है कि गोखले की राज्य की अवधारणा एक लोकतांत्रिक और कल्याणकारी राज्य की है जो समाज के हित में,

उसके विकास हेतु कार्य करे । गोखले की राज्य की कल्पना न तो अधिनायकवादियों की सर्वाधिकारी राज्य की है और न व्यक्तिवादियों, गाँधीवादियों एवं अराजकतावादियों की ही है ।

उदारवाद

गोखले स्वतंत्रता संग्राम के उदारवादी कहे जाने वाले प्रमुख नेताओं में थे । उनकी ब्रिटिश उदारवाद में आस्था थी । ब्रिटिश उदारवाद के दार्शनिक प्रणेताओं के विचारों से वह प्रभावित थे । इनमें जान लॉक, जर्मी बेन्थम और जान स्टुअर्ट मिल के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं । वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता, लोकतंत्रीय शासन प्रणाली, मानवीय अधिकार में विश्वास करते थे । सामाजिक समानता, भ्रातृभाव, धार्मिक सहिष्णुता, स्वतंत्रता, उदार राष्ट्रवाद में आस्था थी । वह अंग्रेजी राज, न्याय, निष्पक्षता, प्रशासनिक कुशलता से प्रभावित थे, लेकिन उनकी एक मात्र शिकायत यह थी कि वह ऐसा राज्य भारत को क्यो नहीं देते ? वह ब्रिटिश शासन को भारत के लिए वरदान भी मानते थे क्योंकि वह एक व्यवस्थित और नियमों पर आधारित शासन था, लेकिन उनको दुःख इस बात का था कि अंग्रेज साम्राज्यवादी भारत की समस्याओ के समाधान के लिये क्यों नही समर्पित होते ? उन्होने नवम्बर 15, 1905 को लन्दन स्थित न्यू रिफार्म क्लब मे दिये गये भाषण मे कहा 'आपकी पालियामेन्ट ने 1833 मे भारतीय जनता के समक्ष यह घोषणा की थी कि इस देश की सरकार का संचालन इस तरह से होगा कि कोई भी शासक वर्ग की जाति नहीं होगी, शासन दोनों जातियों (ब्रिटिश और भारतीय) के लिए समानता पर आधारित होगा । इस बात को कहे तीन चौथाई शताब्दी बीत चुकी है और फिर भी वहाँ एक ही शासक जाति बनी हुई है और उसका वर्चस्व पहिले की भाँति आच्छादित है । ··· -जहाँ तक कुशलता का प्रश्न है मेरी मान्यता है कि यह स्वशासन के द्वारा ही संभव है और नौकरशाही इसे कभी प्राप्त नहीं कर सकती । आपकी सरकार में ऐसे स्थायी लोग नहीं हैं जिनकी भारत के कल्याण मे रुचि हो । वे भारत जाते हैं और पेन्शन के हकदार बनते ही इगलैंड लौट आते हैं । ····· आर्थिक स्तर पर ब्रिटिश शासन के घातक परिणाम निकले हैं । ·· ··· आपकी नौकरशाही के द्वारा स्थिति मे सुधार लाना असंभव लगता है । इसलिये समाधान एक ही है और वह है स्वशासन की दिशा मे ठोस कदम उठाये जाना ।'[1]

यहाँ गोखले जब स्वशासन का उल्लेख करते हैं तो उनका मन्तव्य तिलक की भाँति न तो स्वराज्य है और न ही गाँधी की भाँति पंचायती राज या ग्रामीण स्वराज्य से है । उनका अर्थ प्रशासन से अधिक है जो तब ही संभव है जबकि देश के पढ़े-लिखे, प्रबुद्ध लोगो को इससे जोड़ा जाय और जनता की स्थानीय स्वशासन संस्थाओं के माध्यम से सहभागिता जोडी जाय । वह ब्रिटिश शासन और विशेषतौर पर नौकरशाही के आलोचक

---

1 के पी करुनाकरन द्वारा उद्धृत मोडर्न इंडियन पोलिटिकल ट्रेडिशन, एलाइड पब्लिशर्स, पृ 76

थे। धीरे-धीरे यह आलोचना तीव्र होती चली गई और उनकी आस्था ब्रिटिश न्याय में टूटने लगी। उन्होंने 1902 में इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में अपने पहले बजट भाषण में कहा 'आवश्यकता इस बात की है कि हमें अनुभव करने दिया जाय कि हमारी सरकार विदेशी होते हुये भी भावना से राष्ट्रीय है वह भारतीय जनता के कल्याण को सर्वोपरि तथा अन्य सब बातों को उसकी तुलना में निम्नकोटि का मानती है, वह विदेशों में भारतवासियों के साथ किये गये अपमानजनक व्यवहार से उतनी क्रुद्ध होती है जितने कि अंग्रेजों के साथ किये गये दुर्व्यवहार से और वह यथा सामर्थ्य हर उपाय से भारतीय जनता के भारत में तथा भारत के बाहर नैतिक तथा भौतिक कल्याण का परिवर्धन करने का प्रयत्न करती है। जो राजनीतिक भारतीय जनता के हृदय में इस प्रकार की भावनायें उत्पन्न कर सकेगा वह इस देश की महान तथा गौरवपूर्ण सेवा करेगा और भारतीय जनता के हृदय में अपने लिये स्थायी स्थान प्राप्त कर लेगा। यही नहीं उसके कार्य का महत्त्व इससे भी अधिक होगा। वह साम्राज्यवाद की सही भावना की दृष्टि से अपने देश की भी महान सेवा करेगा। श्रेष्ठ प्रकार का साम्राज्यवाद वह है जो साम्राज्य में सम्मिलित सभी व्यक्तियों और जातियों को अपनी नियामतों तथा सम्मान आदि का समान रूप से उपभोग करने देता है। वह साम्राज्यवाद संकीर्ण है जो यह मानता है कि संपूर्ण विश्व एक जाति के लिये ही बनाया गया है और अधीन जातियाँ उस एक जाति की चरण पादुकाओं के रूप में सेवा करने के लिये बनायी गई हैं।'[1]

गोखले यहाँ ब्रिटिश साम्राज्यवाद को सुधारने की बात कह रहे हैं, साम्राज्यवाद के अस्तित्व को स्वीकार कर रहे हैं। वह ब्रिटिश ताज के संरक्षण में ही भारत के विकास की आस्था लिये हुये हैं। वह भारत और ब्रिटेन के बीच सामंजस्यपूर्ण सहयोग की बात कह रहे हैं, टकराव टालकर एक दूसरे को समझने और सहिष्णुतापूर्वक संवाद करने पर जोर दे रहे हैं। वह इस बात को स्वीकार नहीं करते कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद एक घृणित बुराई है जिसके तत्वावधान में श्रेष्ठ कार्य नहीं हो सकता। वह व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन की बात नहीं सोचते, लेकिन जितना आवश्यक और संभव हो उतना किया जाना चाहिये जोकि किसी भी शासन के लिए अपरिहार्य है। सार यह है कि वह व्यवस्था को तोड़ना नहीं चाहते, इसमें सुधार करने के पक्षधर हैं। वह राजनीतिक स्वतंत्रता पर जोर देने के पूर्व सामाजिक परिवर्तन को अधिक महत्त्व देते थे। शायद उनका चिन्तन यही रहा कि भारतीय समाज अनेक रूढ़ियों, अशिक्षा, अज्ञान और गरीबी से ग्रस्त है अतः वह स्वतंत्रता को झेल भी नहीं पायेगा। इसलिये संवैधानिक तरीकों से शिक्षा के अधिकाधिक प्रसार एवं राष्ट्रीय चेतना जगाकर जनता को संगठित किया जाय। इसी दृष्टि से उन्होंने 1905 में सर्वेन्ट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी की स्थापना भी की जिसके मुख्य उद्देश्यों में राजनीतिक शिक्षा देना, सेवा और त्याग के द्वारा देशभक्ति की भावना

---

1 वी. पी. वर्मा द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ. 218

उत्पन्न करना, विभिन्न सप्रदायों, धर्मों एव जातियों के मध्य सद्भावना एवं सहयोग बढाना, पिछड़े वर्गों एवं स्त्रियो के लिए शिक्षा की व्यवस्था करना एवं दलितों के उत्थान हेतु कार्य करना था।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि गोखले की ब्रिटिश न्याय और प्रशासन में धीरे-धीरे आस्था कम होती जा रही थी। उनके राष्ट्रीय कांग्रेस के बनारस मे 1905 मे आयोजित अध्यक्षीय भाषण के उद्धरण इसे स्पष्ट करते हैं। उन्होने कहा सात वर्षों तक रहे लार्ड कर्जन के शासन का अंत हुआ है ....मैं इसकी तुलना हमारे इतिहास के औरंगजेब के शासन से कर सकता हूँ। हमे इन दोनों शासको में अनेक समानतायें मिलती हैं .... अत्यधिक केन्द्रीकृत शासन, स्वेच्छाचारी व्यक्तिगत निर्णय, अविश्वास और दमन। लार्ड कर्जन का सबसे बड़ा समर्थक भी यह नहीं कह पायेगा कि उसने भारत में ब्रिटिश राज की नींव को मजबूत किया है। .....कर्जन के अनुसार भारत वह देश है जहाँ अंग्रेज सदा के लिए अपनी सत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखना अपना कर्तव्य समझता है। भारतीयो का एक मात्र कार्य शासित होना है .....कांग्रेस का ध्येय है कि भारत में शासन इस प्रकार किया जाय जिसके अन्तर्गत भारतीयो का हित हो सके और कालान्तर मे एक ऐसी सरकार का गठन किया जा सके जैसी कि ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य स्वशासित उपनिवेशो में है। यह अच्छा हो या बुरा, हमारी नियति ब्रिटिश साम्राज्य से जुड गई है और इसलिये कांग्रेस स्वीकार करती है कि जो कुछ भी आगे बढ़ने की योजना हो वह ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत ही हो। ....हमारा भविष्य इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न से जुडा हुआ है कि इन दोनो नस्लो (भारतीय और ब्रिटिश) के बीच के संबंध कैसे हो ? एक नस्ल का दूसरी पर आधिपत्य जबकि इन दोनों की सभ्यताओ की बौद्धिक क्षमताओं मे कोई बड़ी असमानता नहीं है, अधीन नस्ल के लोगों के लिए घोर पीड़ा जनक है। नैतिक दृष्टि से यह वर्तमान स्थिति हमारी सृजन और कर्म शक्ति को कुंठित कर रही है। भौतिक दृष्टि से यह हमें भयावह गरीबी में ढकेल रही है। सौ वर्ष से भी अधिक समय तक भारत विजयी राष्ट्र के लिए ऐसा देश बन गया जहाँ से पैसा इकट्ठा कर अन्यत्र खर्च किया जाय ... इस देश की अपार दौलत देश से बाहर ले जाई गई है।'[1]

गोखले आदर्शोन्मुख यथार्थवादी थे। जो प्रचलित परिस्थितियों में संभव नहीं है उस पर शक्ति व्यय न कर जो संभव है उस पर ध्यान और प्रयास केन्द्रित करने में विश्वास करते थे। उदाहरणार्थ अपने बनारस कांग्रेस के इसी अध्यक्षीय भाषण में अपनी तात्कालिक माँगों को ब्रिटिश शासन के समक्ष प्रस्तुत किया जिनमें निम्नांकित मुख्य थीं —

1 भारत सचिव एवं देश की अन्य एक्जीक्युटिव कौंसिलों मे भारतीयों की नियुक्ति और कालान्तर मे यूरोपियनो के सभी स्थानों पर उनकी नियुक्ति।

---

1 के पी करुनाकरन द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 86 से 101.

2. न्यायपालिका का कार्यपालिका से पृथक्कीकरण, पुलिस सुधार एवं अन्य आवश्यक प्रशासनिक सुधार।
3 वित्तीय साधनों की न्यायोचित और विवेकपूर्ण व्यवस्था ताकि करदाता पर व्यर्थ का बोझ न पड़े।
4 प्राथमिक शिक्षा का प्रसार, औद्योगिक और तकनीकी शिक्षा का प्रबन्ध।
5 विधान परिषदों मे निर्वाचित सदस्यों की संख्या कुल संख्या की आधी हो, उनकी शक्तियों मे वृद्धि हो, बजट उनके द्वारा पारित हो और उन्हें संशोधन प्रस्तुत करने का अधिकार हो।
6. वायसराय की विधान परिषद मे आधे सदस्य निर्वाचित हों।
7. भारत सचिव की कौंसिल में कम से कम तीन भारतीयो की नियुक्ति की जाय।
8 सभी जिलों मे सलाहकार बोर्डों का गठन किया जाय।
9 इंडियन सिविल सर्विस की न्यायिक शाखा में कानूनी पेशेवालों की नियुक्ति की जाय।
10. भारतीय कृषकों की गरीबी दूर करने के लिए ठोस उपाय सोचा जाय।

अपने इस महत्वपूर्ण अध्यक्षीय भाषण को रानाड़े के इस आशापूर्ण संदेश के साथ समाप्त किया कि पुनः ऊर्जा प्राप्त कर यह देश विश्व के अन्य देशों मे एक सम्मानजनक स्थान बनायेगा - यही ध्येय है जिसे मातृभूमि के लिये प्राप्त करना है।'[1]

स्वदेशी

गाँधी के पूर्व गोखले उन चन्द विचारकों और स्वतंत्रता सेनानियों में से थे जिन्होने स्वदेशी के विचार को प्रचारित प्रसारित किया। यद्यपि वह बहिष्कार को पसन्द नहीं करते थे और इस अस्त्र का प्रयोग तब ही स्वीकृत करते थे जबकि कोई अन्य विकल्प ही न हो। लेकिन बहिष्कार करने के पूर्व शासन और शासितो मे संवाद करने के पक्षधर थे। इसके पीछे दुर्भावना, घृणा या पूर्वाग्रह नहीं होना चाहिये। एक उदाहरण देकर उन्होने स्पष्ट किया कि यदि हम केवल ब्रिटिश माल का बहिष्कार करें और अन्य देशों के माल को खरीदें तो इससे स्वदेशी आन्दोलन को बल नहीं मिलेगा।

उन्होंने स्वदेशी को प्रोत्साहन देते हुए बताया कि यह देश भक्ति के साथ साथ एक आर्थिक आन्दोलन भी है। स्वदेशी का विचार अपने देश के प्रति श्रेष्ठतम भावनाओं से ओतप्रोत है। अपने बनारस कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कवि की इन पंक्तियों

1 के पी करुनाकरन द्वारा उद्धृत वही पुस्तक, पृ 102-7.

के साथ कि वह आदमी मृतक समान है जिसने कभी यह नहीं कहा कि यह मेरी जन्मभूमि है। स्वदेशी के दर्शन को उच्चतम आदर्श बताया जो मातृभूमि की सेवा करने की प्रेरणा देता है। उन्होने अर्थशास्त्री के दृष्टिकोण से भी स्वदेशी को अपनाने की अपील की और बताया कि देश के आर्थिक विकास मे इसकी महती भूमिका है।

गोखले ने एक युग को प्रभावित किया है। नि.सन्देह वह उदारवादियो के सिरमौर थे, भारत के सवैधानिक विकास मे उनका महत्त्वपूर्ण योगदान था। वह विख्यात अर्थशास्त्री, सविधानवेता एव आदर्शोन्मुख यथार्थवादी थे। देशभक्ति मे वह किसी से कम नहीं थे, लेकिन वह आश्वस्त थे कि भारत के कल्याण का रास्ता इसी मे है कि वह सवैधानिक, अहिंसक तरीके से अपना मार्ग प्रशस्त करे। राजनीतिक स्वतत्रता के पूर्व सामाजिक सरचना वह आवश्यक मानते थे। वह पश्चिमी उदारवाद, सविधानवाद, ससदीय लोकतंत्र एवं मानवाधिकार की अवधारणा से प्रभावित थे। उनके ओजस्वी भाषण तार्किक होते थे और वह भावनाओ को नहीं मस्तिष्क को स्पर्श करते थे। उनकी आलोचना केवल आलोचना के लिए नहीं होती थी, बल्कि व्यवस्था के सुधार के लिये होती थी, उनके सुझाव रचनात्मक होते थे। वह विध्वस मे नहीं, निर्माण मे विश्वास करते थे। उनकी भाषा सयत और ससदीय होती थी। वह प्रचलित परिस्थितियो मे देश के लिये क्या उचित और सभव है इसी को ध्यान मे रखकर चलने की सलाह देते थे।

गाँधीजी ने गोखले को अपना गुरु माना जैसे गोखले ने महादेव गोविन्द रानाडे को अपना गुरु माना था। जैसाकि पहिले भी उल्लेख किया जा चुका है गाँधी ने गोखले को गगा के समान पवित्र माना जिसमे स्नान करने से आदमी तरोताजा अनुभव करता है। गंगा मे डुबकी लगाकर बाहर निकलना सहज है। राजनीति के आध्यात्मीकरण की बात गाँधी ने हृदयंगम करली। लोकमान्य तिलक से यद्यपि उनके मतभेद थे, लेकिन उनके निधन पर तिलक ने गोखले को भारत का हीरा, महाराष्ट्र का आभूषण एवं कार्यकर्ताओ का सिरमौर बताया। रेम्जे मेक्डानल्ड का कथन था कि गोखले ने मस्तिष्क और आत्मा की सौम्य गरिमा बनाये रखी जो अपने देश के प्रति दृढ़ आस्था से उत्पन्न होती है। लार्ड कर्जन, जिससे गोखले का प्रबल विरोध रहा, का मानना था कि गोखले से अधिक संसदीय क्षमताये शायद ही किसी मे हो। वह विश्व की किसी भी संसद में विशिष्ट स्थान प्राप्त कर सकते थे। वास्तव मे गोखले न तो दुर्बल हृदय उदारवादी थे और न ही छिपे हुए राजद्रोही; वह वास्तव में जनता और सरकार के बीच एक योग्य मध्यस्थ थे।

गोखले को किसी राजनीतिक दर्शन का प्रतिपादक नहीं कहा जा सकता। उन्होने कोई नया राजनीतिक सिद्धान्त भी नहीं दिया। वह पश्चिमी राजनीतिक परम्परा से प्रभावित थे और भारतीय परिवेश में विषम परिस्थितियो के बावजूद उसका संस्थानीकरण करना चाहते थे। वह जो भाषा बोलते थे वह अंग्रेजी राज समझता था, उनके तर्कों एवं ओजस्वी

भाषणों से लज्जित भी अनुभव करता था। देशभक्ति, समाज सेवा और बौद्धिक प्रखरता का गोखले संगम थे। विवेक, ज्ञान, निश्छल बुद्धि और त्याग की वह मूर्ति थे। संविधानवाद, लोकतंत्र और संसदीय व्यवस्था के इतिहास में वह शिखर पुरुष के रूप में याद किये जायेंगे।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक
(1856 – 1920)

1920 तक के भारतीय स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में बाल गंगाधर तिलक सर्वाधिक प्रभावशाली राष्ट्रीय नेता थे। 1920 के उपरान्त जो स्थान मोहनदास करमचन्द गाँधी का है ठीक 1920 के पूर्व वही स्थान तिलक का है यद्यपि दोनों की कार्यशैली और उद्देश्यों में भी पर्याप्त अन्तर है। स्वयं गाँधी ने स्वीकार किया है कि 'हमारे समय के किसी भी व्यक्ति का जनता पर उतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना कि तिलक का ......स्वराज्य के संदेश का किसी ने इतने आग्रह से प्रचार नहीं किया जितना लोकमान्य ने।'[1] उन्होंने बहुत ही प्रभावशाली ढंग से कहा कि स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसको लेकर रहूँगा। तिलक का यह मंत्र बिजली की तरह सर्वत्र फैल गया और आज आजादी के पचास वर्ष बाद भी बड़े सम्मान के साथ याद किया जाता है।

23 जुलाई 1856 को महाराष्ट्र के रत्नागिरी जिले में जन्मे तिलक प्रारंभ से ही बड़े मेधावी थे। उन्होंने 1876 में प्रथम श्रेणी में बी. ए. एवं 1879 में एल– एल. बी. परीक्षा पास की। वह चितपावन ब्राह्मण परिवार से थे जिसका शिवाजी के समय बड़ा प्रभाव था। कानून की पढ़ाई करने के पीछे उनका उद्देश्य जन जागरण और ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध संघर्ष करना था। उन्होने महाराष्ट्र में शैक्षणिक क्रांति उत्पन्न करदी। पूना न्यू इंगलिश स्कूल, दक्षिण शिक्षा समाज एवं फर्ग्यूसन कॉलेज के व्यवस्थापक के नाते उनकी शैक्षणिक जगत में बहुत ख्याति फैल गई। पत्रकारिता के क्षेत्र में भी उन्होंने जबर्दस्त काम किया। 'मराठा' और 'केसरी' के माध्यम से उन्होंने जनमानस को झकझोर दिया। 'शिवाजी' और 'गणपति' उत्सवों के द्वारा जनता में देशभक्ति की भावना का संचार किया। वह बंबई विधान परिषद के सदस्य भी रहे जहाँ उनके निर्भीक भाषणों से सरकारी पक्ष घबराने लगा। एक प्रख्यात राष्ट्रीय नेता के साथ ही साथ वह एक बड़े विद्वान भी थे। उनके दो अमर ग्रंथ 'गीता रहस्य' और 'दि आर्कटिक होम ऑफ दि वेदाज' आज भी विद्वता पूर्ण दो अनुपम कृतियाँ मानी जाती हैं।

तिलक ने 1889 मे कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण की। उनका सबसे बड़ा योगदान यह रहा कि उन्होंने इसे एक सशक्त जन आन्दोलन बना दिया अन्यथा यह केवल

---

1 दुर्गादास, भारत, कर्जन से नेहरू और उनके पश्चात, पृ 59

बुद्धिजीवियो के ड्राइग रूमो और विचार गोष्ठियो तक ही सीमित थी। 1920 में जब उनका निधन हुआ उस समय वह न केवल काग्रेस और देश के सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रभावशाली नेता ही थे वल्कि उन्होने काग्रेस का रूपान्तरण कर दिया था और इसे ब्रिटिश सत्ता से विकट सघर्ष करने का एक ऊर्जावान सगठन भी बना दिया था। उनका स्पष्ट मत था कि भारत मे अग्रेजी नौकरशाही से अनुनय-विनय करके हम कुछ भी नहीं पा सकते। ऐसे प्रयत्न करते रहना तो पत्थर से सिर टकराने के समान है। वे काग्रेस के उदारवादी नेताओ के आलोचक थे और उन्हे सतत् चेतावनी देते रहते थे कि अग्रेजो की न्यायप्रियता और दयालुता के मिथ्या आवरण को समझकर उनके विरुद्ध देश में चेतना का सचार करे। अपने पावों पर खडा होना पडेगा और भारत के गौरवशाली अतीत से प्रेरणा लेकर परकीय सत्ता के विरुद्ध प्रबल सघर्ष का अन्य कोई विकल्प ढूँढना कायरता है। प्रखर देशभक्ति, स्वदेशी की भावना, सतत् सघर्ष एव अन्ततोगत्वा स्वराज्य की प्राप्ति– सक्षेप मे यही तिलक के जीवन और दर्शन का मूलमत्र है। राष्ट्रीय सग्राम के उन पुरोधा व्यक्तियों के वह सरताज थे जो मनसा, वाचा, कर्मणा राष्ट्र और केवल राष्ट्र के प्रति सपूर्ण समर्पित हो। वेलेन्टाइन शिरोल ने जो तिलक के तीव्रतम आलोचक थे, लेकिन फिर भी उन्होने उनकी प्रशसा करते हुए लिखा है कि वह अकृत्रिम देशभक्त और भारत मे ब्रिटिश राज्य के विरुद्ध असतोष पैदा करने वालो के जनक थे।

तिलक के राजनीतिक दर्शन का आधार

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तकों की भाति तिलक राजनीति को एक स्वतत्र व्यवहार की वस्तु न मानकर एक साधन मानते थे जिसके द्वारा सामाजिक सेवा एव मानव का नैतिक उत्थान हो। वह भारतीय सन्दर्भ मे मानव का उत्थान भारतीय आदर्शों के अनुरूप और भारतीय सामाजिक एव नैतिक मूल्यो का पुनरुत्थान चाहते थे। वह पश्चिम विरोधी थे और पाश्चात्य आधार पर होने वाले परिवर्तन का वह विरोध करते थे। इसका एक बडा उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। यद्यपि वह बाल विवाह के पक्षधर नहीं थे और उनके परिवार मे कोई बालविवाह नहीं हुआ, लेकिन उन्होने सहमति आयु विधेयक का जमकर विरोध किया। वह सिद्धान्तत: इस विधेयक के विरुद्ध नहीं थे क्योंकि वह भी बालविवाह को रोकना चाहते थे, लेकिन इसका विरोध उन्होने इसलिए किया कि यह विदेशी सरकार द्वारा लाया गया है जो कि भारत के सामाजिक मामलो में हस्तक्षेप है। एक यह भी उनका तर्क था कि सुधारो के पक्ष मे सामाजिक चेतना जगाई जानी चाहिए और सामाजिक परिवर्तन में विदेशी सरकार द्वारा निर्मित कानूनों का सहारा नहीं लिया जाना चाहिए। लोकमान्य हिन्दू समाज की बुराइयों को दूर करना चाहते थे, लेकिन विदेशी सरकार को यह अधिकार देना वह भारत के सास्कृतिक और सामाजिक जीवन मे हस्तक्षेप मानते थे। उनके प्रबल आलोचक वेलेन्टाइन शिरोल ने तिलक के इस दृष्टिकोण को बिना समझे ही उन्हें रूढ़िवादी, पुरातनवादी, सकीर्ण और दकियानूसी तक

कह दिया, लेकिन सच तो यह है कि इस सबके पीछे तिलक का राष्ट्रवाद परिलक्षित होता है। रूढ़िवादी न कहकर तिलक को उदार परम्परावादी कहना ज्यादा उचित होगा।

तिलक के राजनीतिक चिन्तन के मूलाधार के रूप में वेदान्त का अद्वैतवाद, प्राकृतिक अधिकार, स्वतन्त्रता एक दैवी अधिकार के रूप में, आत्म निर्णय की अवधारणा, राष्ट्रवाद एवं स्वशासन को गिनाया जा सकता है। उन्होंने 13 दिसम्बर 1919 को 'मराठा' के अंक में लिखा[1] 'सच्चा राष्ट्रवादी पुरानी नींव पर ही निर्माण करना चाहता है। जो सुधार पुरातन के प्रति घोर असम्मान की भावना पर आधारित है, उसे सच्चा राष्ट्रवादी संरचनात्मक कार्य नहीं समझता। हम अपनी संस्थाओं को अंग्रेजियत के ढांचे में नहीं ढालना चाहते, सामाजिक तथा राजनीतिक सुधार के नाम पर हम उनका अराष्ट्रीयकरण नहीं करना चाहते।'

लोकमान्य के लिए राजनीति समाज को आगे बढ़ाने का एक माध्यम था। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि राजनीति साधन है और सामाजिक उत्थान साध्य है। राष्ट्रीयता और एकता उनके राजनीतिक चिन्तन के मूल में है। वह भारत की आत्मा को जगाना चाहते थे और इसके लिये प्राचीन संस्कृति और धर्म का संदेश जन जन तक पहुँचाना चाहते थे। उनके सभी प्रकार के भाषण चाहे वे राजनीतिक हों या सामाजिक इसी संदेश से ओतप्रोत होते थे। उन्हें प्राचीनता और आधुनिकता में कहीं विरोध नज़र नहीं आता था, उनके विचार में प्राचीन भारत में इतनी ऊर्जा थी कि वह वर्तमान और भविष्य को आलोकित कर सकता है। उनके लिये हिन्दू शब्द सांप्रदायिक नहीं राष्ट्रीय था। प्राचीन भारतीय संस्कृति और धर्म को राष्ट्रीय एकता एवं सामाजिक सामंजस्य हेतु वह आवश्यक मानते थे। उनका मानना था कि जो देश अपने अतीत को विस्मृत करता है वह आगे नहीं बढ़ सकता।

उन्होंने धर्म, संस्कृति और राजनीति को एक प्रकार से जोड़ भी दिया। राष्ट्रवाद के मार्ग को प्रशस्त करने हेतु राजनीति का आध्यात्मीकरण करने हेतु उन्होंने शिवाजी और गणपति उत्सवों का उपयोग राष्ट्रवाद की भावना का संचार करने और इसके फलस्वरूप परकीय सत्ता के विरुद्ध असंतोष को संगठित करने हेतु किया। उनका कहना था कि उत्सव प्रतीक का काम करते हैं जिनसे राष्ट्रवाद की भावना पनपती है। उत्सवों का दोहरा महत्व है। एक ओर तो इनके माध्यम से एकता की भावना अभिव्यक्त होती है और दूसरी ओर उत्सवों में भाग लेने वाले व्यक्ति यह अनुभव करने लगते हैं कि उनके संगठन और उनकी एकता को किसी श्रेष्ठतर कार्य में लगाया जा सकता है। राष्ट्रीय उत्सव, राष्ट्रगान, राष्ट्रध्वज आदि देशवासियों के संवेगों और भावों में तीव्रता लाते हैं तथा उनकी राष्ट्रवादी भावनाओं को प्रसुप्त नहीं होने देते। इसे राष्ट्रवाद का प्रतीकात्मक

---

1. वी. पी. वर्मा : वही पुस्तक, पृ 252 द्वारा उद्धृत

प्रदर्शन कहा जा सकता है जिससे सांस्कृतिक अभिवृद्धि होती है और समूह-राष्ट्रवाद का निर्माण होता है। तिलक ने प्राचीन उत्सवों को किसी प्रकार आधुनिक राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुकूल बना दिया, यह नि.सन्देह उनकी राजनीतिक और नेतृत्व प्रतिभा का एक सुन्दर उदाहरण है।[1]

राजनीतिक उग्रवाद एवं प्रखर राष्ट्रवाद

दादा भाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, महादेव गोविन्द रानाडे और गोपालकृष्ण गोखले जो तिलक के पूर्ववर्ती और समकालीन राष्ट्रीय नेता थे, सभी उदारवादी और नरम दल के कहलाए। कारण यह कि वे ब्रिटिश सरकार के आलोचक होते हुए भी उससे समझौता करने में विश्वास करते थे। वह सवैधानिक प्रशासनिक सुधारो की सरकार से और सामाजिक एव धार्मिक सुधारों की समाज से अपेक्षा करते थे। उदारवादी सामाजिक सुधारो पर ज्यादा बल देते थे ताकि लोगो मे चेतना का सचार हो और आगे आने वाले संभावित राजनीतिक और प्रशासनिक उत्तरदायित्व के लिए योग्य बने, लेकिन तिलक जैसे उग्रवादी सामाजिक सुधारो की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी राजनीतिक स्वतंत्रता को प्राथमिकता देते थे। उनकी मान्यता थी कि जब परकीय सत्ता भारत मे समाप्त हो जायेगी हम अपने घर को अच्छी तरह सभाल लेगे क्योंकि हम को विभाजित करने वाली शक्ति ही अग्रेज हैं। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि 'मैं अपने घर की चाबी अपने पास रखना चाहता हूँ नकि केवल अजनबी को बाहर निकालना है। स्वशासन हमारा ध्येय है।' जवाहरलाल नेहरू ने तिलक के बारे में लिखा है कि तिलक भारतीय स्वाधीनता संघर्ष के प्रतीक थे, वह केवल एक बहादुर योद्धा ही नहीं थे लेकिन एक कप्तान थे, एक सगठित सरकार के कप्तान नही बल्कि भारत की असंगठित जनता के कप्तान। हमारे अधिकाश लोगो मे पर्याप्त अकर्मण्यता को दूर कर जन जागृति और आत्म चेतना का संचार करना इस सघर्ष का उद्देश्य था जिसका नेतृत्व तिलक ने किया।'[2]

तिलक के बारे में अक्सर कहा जाता है कि राजनीति में वह उग्रवादी और सामाजिक सुधारों की दृष्टि से अनुदारवादी थे। वह गोखले और अन्य उदारवादी नेताओं की इसलिए आलोचना करते थे कि ब्रिटिश न्याय में उनका जो विश्वास बना हुआ है वह मिथ्या है, इसमें केवल छलावा है अत: परकीय सत्ता के विरुद्ध अविरल संघर्ष करना ही होगा। इस संघर्ष मे भारत का गौरवशाली अतीत प्रेरणा का स्रोत बन सकता है। अपने संकल्प मे तिलक दृढ थे और कोई उन्हें डिगा नहीं सकता था। उदारवादियों की प्रार्थना, याचिकाओं और अंग्रेजों की मानसिकता मे परिवर्तन लाने की बातों को वह भिक्षावृत्ति, कायरता एवं पलायन मानते थे।

---

1 वी पी वर्मा आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, पृ 307-308

2 विष्णु भगवान द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 52

तिलक के आक्रामक राष्ट्रवाद के चार प्रमुख तत्त्व थे — स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा एवं निष्क्रिय प्रतिरोध। तिलक द्वारा प्रतिपादित भारतीय राष्ट्रवाद को स्पष्ट करते हुए डॉ. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा ने लिखा है 'तिलक ने भारतीय राष्ट्रवाद की नींव का निर्माण किया और अशांति तथा राजद्रोह की भावना तीव्र की, किन्तु वह क्रांतिकारी नहीं थे। पर यदि क्रांति का अर्थ आधारभूत परिवर्तन हो तो यह कहा जा सकता है कि तिलक विद्यमान ऐतिहासिक स्थिति में गंभीर परिवर्तन चाहते थे। चूँकि तिलक सामाजिक व्यवस्था में आधारभूत परिवर्तन चाहते थे अतः इस व्यापक अर्थ में उन्हें क्रांतिकारी कहा जा सकता है। किन्तु वह सामाजिक शास्त्रों में प्रयुक्त संकीर्ण अर्थ में क्रांतिकारी नहीं थे। उन्हें बाकुनिन, क्रोपोट्किन अथवा लेनिन आदि क्रांतिकारियों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता और न वह सशस्त्र विद्रोह में विश्वास करने वाले किसी दल के ही नेता थे। उनका संदेश यह नहीं था कि किसी ऐसे दल के नेतृत्व में सामूहिक हिंसा संगठित की जाय जो प्रशिक्षित हो और क्रांति के अग्रगामी दल का काम करता हो। उनका विचार था कि भारत जैसे पूर्णतः निःशस्त्रीकृत और विघटित समाज में सशस्त्र क्रांति राष्ट्रीय इतिहास को गति प्रदान नहीं कर सकती। तिलक ने यही तर्क दिया कि मैं राष्ट्रवादी हूँ और अपने देश से प्रेम करता हूँ किन्तु मैं ऐसी किसी योजना से परिचित नहीं हूँ जिसका उद्देश्य वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था को हिंसात्मक तरीके से उलट देना हो। तिलक ने नीति और लाभकारिता को ध्यान में रखते हुए क्रांतिकारी अस्त्रों के प्रयोग की अनुमति नहीं दी, पर साथ ही यह भी है कि उन्होंने क्रांतिकारी तरीकों की कभी नैतिक आधार पर निंदा भी नहीं की।'[1] वास्तव में तिलक का क्रांति में अविश्वास नहीं था पर देश की तत्कालीन परिस्थितियों में वे क्रांतिकारी साधनों की उपादेयता के बारे में पूर्ण आश्वस्त नहीं थे। लेकिन क्रांति की उन्होंने भर्त्सना भी नहीं की।

पुनरुत्थानवादी

इसमें कोई सन्देह नहीं कि तिलक पुनरुत्थानवादी थे। जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है कि वह प्राचीन भारतीय संस्कृति और हिन्दू धर्म से प्रेरणा लेकर राष्ट्र की सुप्त आत्मा को जगाना चाहते थे। उनके लिए राष्ट्र ज्यादा महत्त्वपूर्ण था न कि राज्य, राज्य तो राष्ट्र निर्माण के अनेक माध्यमों में से एक माध्यम है। वह धर्म को राष्ट्रीयता का एक तत्त्व मानते थे। भारत धर्म महामंडल बनारस[2] को संबोधित करते हुये उन्होंने हिन्दूधर्म की महानता पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा सनातन धर्म का अर्थ यही है कि हमारा धर्म बहुत पुराना है — उतना ही पुराना जितना कि मानव जाति का इतिहास। वैदिक धर्म आर्यों का प्रारम्भ से ही धर्म रहा है। ......धर्म राष्ट्रीयता का एक तत्त्व है।

---

1. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा : वही पुस्तक, पृ 271
2. 3 जनवरी 1906 को दिये गये भाषण से उद्धृत, के. पी. करुनाकरन: वही पुस्तक, पृ. 134-138

धर्म का अर्थ ईश्वर और हमारे साथियों के प्रति हमारा कर्तव्य। हिन्दू धर्म नैतिक और सामाजिक दायित्व है। वैदिक काल मे भारत आत्मनिर्भर और सगठित महान राष्ट्र था। यह एकता छिन्न-भिन्न हो गई है और इसे पुन स्थापित करना हमारा कर्तव्य है। .... दुनिया मे हिन्दू धर्म के अलावा कोई धर्म ऐसा नहीं है जो यह कहता है कि जब जब आवश्यकता होगी ईश्वर इस धरती पर आयेगा। .... हिन्दू धर्म सत्य पर आधारित है और सत्य कभी मरता नहीं। ...... हमारा धर्म कहता है कि सभी धर्म सत्य पर आधारित हैं —— तुम अपने धर्म को मानो, मैं अपने धर्म को मानू। ..... श्रीकृष्ण कभी ऐसा नही कहते कि दूसरे धर्मो के मतावलम्बियो को नरक मिलेगा। मैं चुनौती देता हूँ कि कोई किसी अन्य धर्म के ग्रथो मे ऐसी कोई लिखी हुई बात बताये। यह किसी अन्य धर्म में नही मिल सकती क्योंकि अन्य धर्म आशिक सत्य पर आधारित हैं जबकि हिन्दू धर्म पूर्ण सत्य पर। . हिन्दू धर्म का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, इतना ही व्यापक इसका साहित्य है। गीता मे ज्ञान भरा है, मुझे विश्वास है कि कोई भी दार्शनिक पद्धति चाहे वह पश्चिमी हो अथवा अन्य इससे लोहा नहीं ले सकती। . . हम इतने आत्मविस्मृत हो चुके हैं कि हमे विदेशियो से प्रमाण चाहिये कि हमारा खजाना सोने से भरपूर है, नकि लोहे से। आधुनिक विज्ञान और शिक्षा तुम्हारी मदद कर रही है यदि तुम उनसे लाभ उठाना चाहो और वह समय शीघ्र ही आ सकता है जबकि ईसाइयो के द्वारा ईसाई धर्म के प्रचारक के स्थान पर हमे संसार में सनातन धर्म के प्रचारक मिलेगे।' उन्होंने मराठा और केसरी के माध्यम से पश्चिमी सस्थाओ, पश्चिमी शासन और जीवनशैली पर प्रहार किये। उनके भाषणो मे भी यही क्रम चलता रहा। उनके कथन का सार यह था कि भारतीय राष्ट्रवाद को अतीत से ही प्रेरणा लेनी होगी।

उनका स्वदेशी का विचार भी उनके पुनरुत्थानवादी होने की पुष्टि करता है। स्वदेशी का दर्शन आध्यात्म और अर्थशास्त्र दोनो ही से जुडा हुआ है। अपने देश को प्यार करना स्वदेशी दर्शन के अन्तर्गत ही आता है। इसका अर्थशास्त्र भी देश प्रेम से जुडा हुआ है। गोखले और तिलक की स्वदेशी की अवधारणा मे अन्तर है। गोखले स्वदेशी की बात करते हैं लेकिन विदेशी माल के बहिष्कार की बात नही कहते। जबकि तिलक के लिए स्वदेशी और विदेशी माल का बहिष्कार एक दूसरे से जुडे हुये हैं। 23 दिसम्बर, 1907 को सूरत काग्रेस के अधिवेशन मे उन्होंने स्पष्ट शब्दो में कहा, 'हमारा उद्देश्य स्वशासन है। जितना जल्दी हो यह प्राप्त होना चाहिये। जो लोग कांग्रेस का अधिवेशन सूरत मे कर रहे हैं, यद्यपि नागपुर वाले भी तैयार थे, वे काग्रेस को पीछे धकेलना चाहते हैं। ये लोग बहिष्कार और स्वराज्य प्रस्तावो के खिलाफ है। राष्ट्र दमनकारी नीति को बर्दाश्त नहीं कर सकता। ये लोग खुलकर बहिष्कार के बारे में कुछ नही कहना चाहते। इनमें नैतिक साहस नहीं है। ये बहिष्कार के विरुद्ध हैं लेकिन स्वदेशी के पक्षधर हैं। यदि तुम्हे यह करना है तो डरो मत। कायर मत बनो, जब तुम स्वदेशी चाहते हो

तो विदेशी माल का तो बहिष्कार करना ही पड़ेगा, बहिष्कार के बिना स्वदेशी ला ही नहीं सकते। यदि तुम स्वदेशी को स्वीकार करते हो तो बहिष्कार को भी स्वीकार करना पड़ेगा। हम यह कहते हैं कि जो तुम नहीं करना चाहते उसे कहो मत, जो कहते हो उसे करो।..... हमे हमारे आदर्श से जुड़ा रहना चाहिये। नरमदल वालो की नीति विध्वंसात्मक है। यह आत्मघाती नीति है। मैं नहीं चाहता कि आप इसका अनुसरण करें, हमें प्रगति करनी है।'[1]

सुधारवादी

तिलक बहुत बड़े सुधारवादी थे, लेकिन अपने समकालीन अन्य सुधारवादियो से हटकर थे। जैसा कि पहिले भी उल्लेख किया जा चुका है कि उनके चिन्तन के मूल में राष्ट्रवाद है, ऐसा राष्ट्रवाद जो हिन्दुत्व से ओतप्रोत है, जिसका प्रेरणा स्रोत भारतीय संस्कृति, भारतीय आदर्श एवं भारतीय इतिहास पुरुष एवं घटनायें हैं। तिलक के पूर्व और उनके समय में जो सामाजिक सुधार हुये उनमें अनेक पश्चिम से प्रभावित थे। उनमें कुछ ऐसे भी थे जो भारत के अतीत से प्रेरणा लेना चाहते थे, लेकिन उन्हें इस बात में आपत्ति नहीं थी यदि भारत में अंग्रेज सरकार इन सुधारों को लागू करने के लिए कानून बनाये। बल्कि वे सरकार से कानून बनाने का अनुरोध भी करते थे। ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज जैसे समाज सुधार आन्दोलन पश्चिम की विचारधारा, वहाँ हुयी सामाजिक प्रगति से प्रभावित होकर भारत में भी सामाजिक परिवर्तन की दिशा में अग्रसर हुये। इन्होंने अपने प्रभाव को काम में लेकर सरकार से कानून बनवाने मे भी सफलता अर्जित की। विलियम बैंटिक द्वारा कार्यान्वित सती प्रथा के उन्मूलन संबंधी कानून के पीछे राजा राममोहन राय का ही व्यक्तित्व था। यद्यपि आर्यसमाज भारतीय संस्कृति और वेदों के दर्शन को ही आधार बना कर चला, लेकिन इसने भी सरकार के माध्यम से शारदा एक्ट पारित करने की महत्त्वपूर्ण भूमिका बनाई। तिलक समाज सुधार को बहुत ही महत्त्वपूर्ण मानते थे और उन्होंने अनेक सुधारों के लिये संघर्ष भी किया, लेकिन उनका दृष्टिकोण अपने समय के सभी सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आन्दोलनों से पूर्णतया भिन्न था। संक्षेप मे, उनका दृष्टिकोण यह था कि विदेशी सरकार को हमारे अन्दरूनी मामलो मे हस्तक्षेप करने का क्या अधिकार है ? सुधार समाज करेगा, राज्य और प्रशासन को इसमें दखलंदाजी करने का कोई अधिकार नहीं है।

तिलक वस्तुतः सामाजिक और राजनीतिक मामलों को मिलाना नही चाहते थे। वह चाहते थे कि सामाजिक बदलाव से पूर्व राजनीतिक प्रगति होनी चाहिये क्योंकि समाज एकदम नहीं बदलता, उसमें बदलाव धीरे-धीरे आता है। वह उदारवादियों एवं अन्य लोगो से सहमत नहीं थे कि सामाजिक सुधार राजनीतिक प्रगति की पूर्वावस्था है। वह

1 के पी करुणाकरन द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 139-42.

हिन्दू संस्कृति के नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों को सुरक्षित रखना चाहते थे और वह मानते थे कि राजनीतिक अधिकारों के बिना सांस्कृतिक स्वायत्तता बनाये रखना मुश्किल हो जाता है। प्रो विश्वनाथ प्रसाद वर्मा के शब्दों मे "इसलिए हिन्दू दर्शन के शाश्वत मूल्यों के समर्थक तिलक भारतीय राष्ट्रवाद के महारथी बन गये। वे राजनीतिक अधिकार चाहते थे क्योंकि वे समझते थे कि उनको प्राप्त करके ही राष्ट्र के बहुमुखी कार्यकलाप के विकास के लिये समुचित वातावरण का निर्माण किया जा सकता था। इसी बीच मे वे यह भी चाहते थे कि उपदेश और उदाहरण के द्वारा राष्ट्र की चेतना को सामाजिक परिवर्तन अंगीकार करने के लिए तैयार किया जाय। समाज सुधार के प्रति तिलक के रवैये में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह था कि वे सामाजिक एवं धार्मिक विषयों में नौकरशाही के हस्तक्षेप के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि जब कोई सामाजिक कानून बनाया जायेगा तो उसे लागू करना पड़ेगा और उसको भग करने के संबंध मे विवादों का निर्णय करने की आवश्यकता होगी। इससे ब्रिटिश शासकों और न्यायाधीशो की शक्ति का प्रसार होगा। तिलक नौकरशाही की शक्ति के विस्तार करने के विरुद्ध थे। वे इस पक्ष में नहीं थे कि नौकरशाही का उस क्षेत्र में आक्रमण और हस्तक्षेप हो जो उस समय तक स्वायत्त और हस्तक्षेप से मुक्त रहता चला आया था। उनका कहना था कि एक भिन्न सभ्यता के मूल्यों को मानने वाले विदेशी शासकों को सामाजिक विषयों में कानून बनाने और न्याय करने का अधिकार नहीं देना चाहिये क्योंकि ये विषय समस्त हिन्दू जनता की भावनाओं और संवेगो से ओतप्रोत हैं। विदेशी नौकरशाही की तथाकथित सर्वज्ञता मे विश्वास करना और उसे कूटस्थ होकर भारत की सामाजिक स्थिति का सिंहावलोकन करने का अवसर देना बुद्धिमानी नहीं है। तिलक को यह अपमानजनक मालूम पड़ता था कि हिन्दू लोग नौकरशाही के समक्ष जाकर उससे सामाजिक कानून बनाने की याचना करें और इस प्रकार दूसरों को दिखाये कि हिन्दू इतने पतित हो चुके हैं कि वे अपनी सामाजिक समस्याओ को भी नहीं सुलझा सकते। तिलक का कहना था कि इस प्रकार की याचक-वृत्ति से समाज की नैतिक और बौद्धिक नींव कमजोर होगी।'[1]

वैसे तिलक भारतीय समाज की कुरीतियो और अन्धविश्वासो के प्रति जागरुक थे और उन्हें दूर करना चाहते थे। 1890 मे उन्होंने इस दृष्टि से कुछ ठोस सुझाव दिये जो कि निम्नांकित हैं —

1. लड़के और लड़की का विवाह अल्पायु मे नहीं होना चाहिये जोकि उस समय एक परम्परा सी बन गई थी। अत लड़के और लड़की की न्यूनतम आयु क्रमश. 20 और 16 वर्ष होनी चाहिये।

2 तिलक बाल विवाह ही नहीं वृद्ध विवाह रोकने के भी पक्षधर थे। उनका

---

1 वी पी वर्मा आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, पृ 243-44

कहना था कि चालीस वर्ष की आयु के उपरान्त पुरुष को शादी नहीं करनी चाहिये और यदि वह करना ही चाहे तो किसी विधवा से करे।

विवाहोत्सव आदि मांगलिक कार्यों के अवसर पर मद्यपान निषेध हो।

4. दहेज प्रथा बन्द हो।

5. विधवाओं को विरूप नहीं किया जाना चाहिये।

6. प्रत्येक समाज सुधारक अपनी आय का दसवां भाग सार्वजनिक कामो मे लगाये।

जैसाकि पूर्व मे उल्लेख भी किया जा चुका है कि यद्यपि तिलक ने अपने परिवार की लड़कियों की शादी 16 वर्ष की आयु प्राप्त करने के उपरान्त ही की, लेकिन उन्होंने सहमति आयु अधिनियम, 1891 का विरोध किया। इसका कारण यही था कि वह नहीं चाहते थे कि ब्रिटिश नौकरशाही भारतीयों के सामाजिक और पारिवारिक मामलों में हस्तक्षेप करे। यहाँ शारदा सदन विवाद का भी उल्लेख किया जाना अप्रासंगिक न होगा। विदुषी रमाबाई एक ईसाई बन गयी थी। विदेश से लौटकर आने पर उन्होंने 1889 में बंबई और पूना में विधवाश्रम खोले जिसके लिये वित्तीय सहायता अमेरिका से प्राप्त हो रही थी। तिलक ने इसका डटकर विरोध किया जिसका मुख्य कारण यह था कि ईसाई धर्म- निरपेक्षता का चाहे कितना ही ढोल क्यो न पीटें, वस्तुत: यह एक विदेशी धन से धर्म-परिवर्तन का रास्ता खुल जायेगा। 21 दिसम्बर 1889 के इलस्ट्रेटेड वीकली में जब यह सनसनीपूर्ण खबर छपी कि दो विधवाओं ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया है तो तिलक की पूर्व चेतावनी सही निकली। इसी प्रकार तिलक ने अस्पृश्यता के विरुद्ध भी संघर्ष छेड़ा। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि अस्पृश्यता का अंत होना चाहिये और इस कुरीति को किसी भी आधार पर न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता। उन्होंने तो दलित वर्ग संघ की एक सभा में गरजकर यहाँ तक कह दिया कि 'यदि ईश्वर भी अस्पृश्यता को सहन करने लगे तो मैं ऐसे ईश्वर को भी स्वीकार नहीं करूँगा।' इससे सिद्ध होता है कि तिलक को पुरातनपंथी कहना उचित नहीं है, वह देशकाल के अनुसार होने वाले परिवर्तनों को समझ रहे थे और हिन्दू समाज को सुदृढ़ बनाने हेतु आवश्यक परिवर्तनो को केवल स्वीकार ही नहीं करते थे, बल्कि संघर्ष भी करने को तत्पर थे।

तिलक की स्वराज्य की अवधारणा

उग्रवादियों का दो बातों पर जोर था – स्वतंत्रता और समानता। उनके अनुसार ये दोनों व्यक्ति के मूल अधिकार हैं। विपिनचन्द्र पाल के अनुसार स्वतंत्रता मनुष्य के स्वभाव का एक अभिन्न अंग है। मनुष्य ईश्वर का ही अंश है, चूंकि ईश्वर स्वयं शाश्वत रूप से स्वतंत्र है अत: मनुष्य भी स्वतंत्र है। वेदान्त दर्शन के अनुकूल अरविन्द के अनुसार मानव अस्तित्व के पूर्व की स्थिति पूर्ण स्वतंत्रता की थी। अत: सभी बन्धनों से मुक्ति

ही इस ससार में मनुष्य का ध्येय है। 'सामाजिक सन्दर्भ मे स्वतंत्रता का अर्थ स्वधर्म की अनुपालना करना है, आत्म साक्षात्कार की ओर अग्रसर होना है और अपने परिवेश के साथ पूर्ण सामजस्य स्थापित करना है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन सकारात्मक है जबकि पश्चिमी चिन्तन नकारात्मक है। पश्चिम के संदर्भ में स्वतंत्रता का अर्थ नियंत्रण का अभाव है। वेदान्त में स्वराज्य का अर्थ उच्चतम आध्यात्मिक अवस्था है जिसमें मनुष्य सभी बन्धनों से मुक्त होकर अपना ईश्वर से तादात्म्य स्थापित करता है।'[1] ऐसी स्थिति में मनुष्य अपनी पूर्णता को अनुभव करता है और किसी प्रकार के संघर्ष की परिधि से बाहर रहता है। सांसारिक जगत में इसके कार्यान्वयन का अर्थ है कि राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में मनुष्य स्वतंत्र है। लोकमान्य तिलक, विपिनचन्द्र पाल एवं अरविन्द का एक महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि उन्होंने वेदान्त में स्वराज्य के दर्शन को आधुनिक परिवेश में परिभाषित किया। यह अनुभूति इतनी व्यापक बनी कि यह केवल आध्यात्मिक जगत तक सीमित न रहकर लौकिक जगत से जुड़ गई जिसका अर्थ भारतीय संदर्भ में यह रहा कि आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र मे इसका सूत्रपात हो। यहाँ स्वराज्य का अर्थ यह हुआ कि परकीय सत्ता से मुक्ति और इसके उपरान्त आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में सभी बन्धनों से मुक्ति। प्रोफेसर एस. एन. दुबे[2] ने भारतीय चिन्तन की विशेषता बताते हुये लिखा है कि 'यह स्पष्ट है कि भारतीय उग्रवादियों ने प्राचीन वेदान्त दर्शन का आधुनिक जगत के सर्वाधिक प्रगतिशील राजनीतिक आदर्शों में समन्वय स्थापित करने का अद्भुत प्रयास किया है। इससे भी अधिक प्रभावशाली बात यह है कि उन्होंने राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में पश्चिम के बड़े से बड़े विचारकों से सफलतापूर्वक लोहा लिया है। पश्चिमी राजनीतिक दर्शन विगत अढाई हजार वर्षों में दो विपरीत दिशाओं में झूलता रहा है – एक ओर उग्र व्यक्तिवाद और दूसरी ओर उग्र समष्टिवाद एवं अधिनायकवाद। तिलक, पाल और अरविन्द ने दोनों धाराओ की मूल त्रुटियों को ढूंढ़ लिया और दोनों के परस्पर विरोधी तत्त्वों का समाधान भी निकाला। हो सकता है कि कोई इनके दार्शनिक पक्ष से सहमत न हो लेकिन इनके निष्कर्षों से इन्कार नहीं कर सकता। आधुनिक मानववाद के प्रकाश में उन्होंने जीवन के प्रति परम्परागत हिन्दू दृष्टिकोणों, आध्यात्मिक अराजकतावाद और सामाजिक-समष्टिवाद को भी ठीक करने का प्रयास किया।'

तिलक के अनुसार स्वराज्य व्यक्तिगत और राष्ट्रीय जीवन के उत्थान के लिए अत्यन्त आवश्यक है। उनके अनुसार व्यक्ति की स्वतंत्रता और राष्ट्रोत्थान हेतु स्वराज्य प्रथम आवश्यकता है। स्वराज्य का अर्थ राष्ट्रवासियो के हाथ मे उस शक्ति से है जो राज्य, शासन और प्रशासन को नियंत्रित करती है। उनके अनुसार राजनीतिक क्षेत्र में

1 एस एन दुबे इवल्यूशन ऑफ पोलिटिकल थॉट इन इंडिया, अम्बे पब्लिकेशन्स, देहली, पृ 60
2 एस एन दुबे, वही पुस्तक, पृ 63

स्वराज्य का सार यह है कि हम अपनी इच्छानुसार शासन तंत्र को संचालित और नियंत्रित कर सकें। सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में भी स्वराज्य के बिना विकास की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

तिलक का राजनीतिक दर्शन स्वराज्य की अवधारणा के इर्द-गिर्द ही अवस्थित है। जैसा कि पहले भी जिक्र किया जा चुका है हिन्दू शास्त्रों से उन्हें यह विचार मिला और शिवाजी के जीवन से इसे प्राप्त करने की अनुभूति प्राप्त हुई। तिलक गीता के दर्शन से बहुत प्रभावित थे और उनका 'गीता-रहस्य' दर्शन और कर्मयोग का अमर ग्रंथ है। वह स्वराज्य को केवल अधिकार ही नहीं बल्कि धर्म भी समझते थे। उन्होंने स्वराज्य को राजनीतिक, नैतिक और आध्यात्मिक अर्थ दिया। राजनीतिक दृष्टि से स्वराज्य का अर्थ होमरूल अर्थात् स्वशासन है। नैतिक दृष्टि से आत्म-संयम की पूर्णता प्राप्त करना है जो स्वधर्म की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। इसका आध्यात्मिक अर्थ यह है कि मनुष्य आन्तरिक स्वतंत्रता का अनुभव कर, शांति की रोशनी की अनुभूति प्राप्त करे। स्वयं तिलक के शब्दों में, 'स्वराज्य स्वआश्रित और स्वचालित जीवन है। इस लोक और परलोक में भी स्वराज्य है। हमारे ऋषियों ने स्वधर्म को स्वीकार कर जंगलों में तपस्या की क्योंकि जनता स्वराज्य का अनुभव कर रही थी और इसकी रक्षा क्षत्रिय राजा करते थे। परलोक में यह प्राप्त नहीं हो सकता, यदि इस जीवन में इसका उन्होंने अनुभव नहीं किया है।'[1] यह स्पष्ट है कि तिलक के स्वराज्य में राजनीतिक और आध्यात्मिक दोनों ही स्वतंत्रतायें निहित हैं। उनका यही मन्तव्य है जबकि उन्होंने यह घोषणा की 'स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा।'

इस स्वराज्य की प्राप्ति हेतु उन्होंने चार बातों पर जोर दिया। वे हैं – स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा और निष्क्रिय प्रतिरोध।

स्वदेशी

स्वदेशी पर तिलक ने बहुत जोर दिया। जैसा कि उल्लेख भी किया जा चुका है यह एक आर्थिक अवधारणा ही नहीं है बल्कि इसके पीछे आध्यात्मिक, नैतिक और राष्ट्रीय भावना भी है। अंग्रेजों से लड़ने का यह एक बहुत बड़ा हथियार था, अतः स्वदेशी तिलक की परकीय सत्ता से संघर्ष हेतु रणनीति का भी भाग था। ब्रिटिश शासन की आर्थिक व्यवस्था को ध्वस्त करने का यह एक शक्तिशाली अस्त्र था। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि यदि हमें अंग्रेजों का गुलाम नहीं बने रहना है तो स्वदेशी को स्वधर्म समझकर अपनाना चाहिये। इससे ब्रिटिश आर्थिक साम्राज्यवाद को धक्का लगेगा और भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना और आर्थिक आत्म-निर्भरता आयेगी। 7 जून 1906 को कलकत्ता में दिये एक भाषण में उन्होंने जोर देकर कहा, ''स्वदेशी और स्वदेशी ही हमारा शाश्वत उद्घोष है,

---

1 विष्णु भगवान वही पुस्तक, पृ 57.

इसी से हमारी अभिवृद्धि होगी चाहे शासक कुछ भी चाहे। स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा ये दो साधन हैं।"[1]

तिलक ने स्वदेशी का बड़ा व्यापक अर्थ लगाया। उदाहरणार्थ उन्होंने कहा कि आर्यों की इस प्राचीन भूमि को अपनी माँ समझना स्वदेशी आन्दोलन है। स्वदेशी व्यवहार में वन्दे मातरम् ही है।

बहिष्कार

बहिष्कार और स्वदेशी साथ-साथ चलते हैं। तिलक ने कहा कि जब तक विदेशी माल का बहिष्कार नहीं करेंगे स्वदेशी को व्यावहारिक धरातल पर लाना बहुत मुश्किल है। वह उदारवादियों की इस बात पर कटु आलोचना करते थे कि वह स्वदेशी की बात तो करते हैं लेकिन बहिष्कार की वकालत करते डरते हैं। इसको वह कायरता और आत्म प्रवचना कहते थे। उन्होने अपने भाषणो और लेखो मे कहा कि वे अपने अधिकारो के लिए लड़े। यदि उनमें जरा भी आत्म सम्मान की भावना है, न्याय के लिए संघर्ष के लिये उद्यत होना चाहिए। यदि उनमे अपने महान पूर्वजो के प्रति तनिक भी सम्मान बचा है तो उन्हें विदेशी सामान का तत्काल बहिष्कार करना चाहिये। उन्होंने स्पष्ट किया कि बहिष्कार एक राजनीतिक हथियार भी है, हम उनकी राजस्व सग्रह मे मदद नहीं करे। हम हमारे खून और धन से भारत के बाहर अंग्रेजों के युद्ध प्रयासों मे सहायता नहीं करे। हम उन्हे न्याय का प्रशासन चलाने मे सहयोग नही दे। हम हमारे अपने न्यायालय स्थापित करेगे और एक दिन आयेगा जबकि कर भी नही देगे। इस प्रकार बहिष्कार का स्वदेशी की भांति तिलक ने बहुत ही व्यापक अर्थ लगाया। गाँधी पर तिलक का प्रभाव स्पष्ट नजर आता है। गाँधी ने तिलक द्वारा प्रतिपादित स्वदेशी, बहिष्कार और निष्क्रिय प्रतिरोध को केवल स्वीकार ही नहीं किया बल्कि उनको व्यावहारिक रूप में उतारने के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन का अंग बना दिया। तिलक के जीवनी लेखक धनंजय कीर ने इसी कारण उनको भारत का प्रथम जननेता कहा है। उन्होने स्वतंत्रता संग्राम और कांग्रेस मे जान फूंकी अन्यथा अब तक प्रार्थना, अनुनय, विनय, प्रस्ताव और संविधानवाद तक ही सारी गतिविधियाँ सीमित थी। जनवरी 1907 मे इलाहाबाद मे दिये गये एक भाषण में तिलक ने कहा[2] "सरकार के विरुद्ध प्रथम आरोप यह है इसने देश के उद्योग धधो को प्रोत्साहन देने के लिए कुछ भी नहीं किया है। औद्योगिक शिक्षा न देकर इसने इन्हें नष्ट कर दिया है ······ औद्योगिक शिक्षा की यह व्यवस्था इंगलैंड मे करती है लेकिन भारत में नहीं ······ मैं ऐंग्लो-इंडियन अखबारों की इस घोषणा को स्वीकार करता हूँ

---

1 बालगंगाधर तिलक राजनीतिक स्थिति, के पी करुनाकरन द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 152

2 लोकमान्य तिलक, दि बेसिक अप्रोच ऑफ दि एक्स्टिमिस्ट्स, के पी करुनाकरन द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 152-53

कि अंग्रेज इस देश मे अधिकार पूर्वक इसलिये रह रहे हैं कि उन्होंने इसे तलवार की ताकत से जीता है । ऐसा मानने वाली सरकार भाषणों और प्रार्थनाओं से झुकने वाली नहीं है । दुनिया के इतिहास में कहीं ऐसी मिसाल नहीं है जहाँ शक्ति के द्वारा अपना राज स्थापित करने वाली सरकार अपने आप वहाँ के लोगों को स्वशासन का अधिकार सौंप दे । यह मानव स्वभाव मे ही नहीं है । शासक अपना हित देखते हैं, शासितों का नहीं । मानव प्रेम राजनीति का अग नहीं है······ हमे स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि नौकरशाही की हुकुमत की कृपा की आकांक्षा करने या पार्लियामेन्ट को प्रार्थनापत्र देने से हमारी मुक्ति नहीं है । यह कहावत है कि ईश्वर उसी की मदद करता है जो अपनी मदद करता है । क्या ब्रिटिश सरकार सर्वशक्तिमान भगवान से भी बड़ी है ?"

राष्ट्रीय शिक्षा

तिलक ने राष्ट्रीय शिक्षा पर बहुत जोर दिया । इसमें उन्होंने दो लाभ देखे, यह पश्चिमी औपनिवेशिक शिक्षा से मुक्ति दिलायेगी और इससे राष्ट्रीय चेतना का संचार होगा । वह मानते थे कि अंग्रेजो ने जो यहाँ शिक्षा पद्धति प्रारम्भ की उसका उद्देश्य क्लर्क और स्वामीभक्त लोग पैदा करना था । उन्होंने आत्मनिर्भरता, आत्म-ज्ञान और आत्मविश्वास हेतु राष्ट्रीय शिक्षा को राष्ट्रीय आन्दोलन का ही हिस्सा बनाने की बात कही ।

निष्क्रिय प्रतिरोध

1902 में उन्होंने सार्वजनिक घोषणा मे स्पष्ट कहा कि चाहे आप पद दलित और उपेक्षित क्यों न हों, आपमें यह चेतना अवश्य रहे कि आप यदि निर्णय कर ले तो प्रशासन को ठप्प कर सकते हैं । स्वदेशी और बहिष्कार को वह निष्क्रिय प्रतिरोध की ही तकनीक मानते थे । यद्यपि तिलक के बारे में कहा जाता है कि वह आवश्यकता पड़ने पर हिंसा के प्रयोग को न्यायोचित मानते थे लेकिन उन्होंने निष्क्रिय प्रतिरोध में संवैधानिक तरीकों का ही समर्थन किया । इसका कारण यह नहीं है कि तिलक हिंसा का बिल्कुल समर्थन नहीं करते थे । उन्होंने शिवाजी द्वारा अफजलखान की हत्या का औचित्य को स्वीकार करते हुए कहा कि 'यदि हमारे घर मे चोर घुस जाये और हममें उन्हे बाहर निकालने की शक्ति नहीं हो तो निःसंकोच उन्हें बन्द कर जला देना चाहिये ।[1] लेकिन भारत की परिस्थितियाँ और शासक की शक्ति को दृष्टिगत रखते हुए उन्होंने संवैधानिक तरीकों को अपनाने की सलाह दी थी । लेकिन इसका कदापि यह अर्थ भी नहीं लिया जाना चाहिये वह सदा संवैधानिक रास्ते को अपनाने पर ही बल देते थे और न यह भी मानना चाहिये कि वह गैर संवैधानिक रास्ते को अस्वीकार करते थे । तिलक के लिए साध्य महत्वपूर्ण था न कि साधन । यहाँ गाँधी और तिलक मे भारी मतभेद है । गाँधी के लिए

1. सर वेलेन्टाइन शिरोल, इंडियन अनरेस्ट, पृ 46-47 एम एन. दुबे द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक पृ 79.

साधनों की पवित्रता पवित्र साध्य की प्राप्ति हेतु आवश्यक है। तिलक ने उन लोगों की भर्त्सना नहीं की जिन्होंने स्वराज्य हेतु हिंसा का रास्ता चुना, बल्कि उन्हें प्रोत्साहन ही दिया। एक बार उन्होंने गाँधी से कहा[1] 'मैं सशस्त्र क्रांति को भी सवैधानिक ही मानता हूँ। केवल दिक्कत यही है कि वर्तमान परिस्थितियो मे यह सभव नहीं है। यदि कोई मुझे आश्वस्त कर दे कि सशस्त्र क्रांति रुपये में आठ आना भी सफल हो जायेगी तो मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हुआ कि यह आठ आना ही सफलता प्रदान करे, मैं सशस्त्र क्रांति प्रारंभ कर दूँगा।'

तिलक की विद्वता

तिलक का कट्टर से कट्टर विरोधी भी न उन्हें भारतीय स्वतंत्रता इतिहास से पृथक् कर सकता है और न ही भारत के उच्चकोटि के विद्वानों की फहरिस्त से ही। परकीय सत्ता से जूझने वाले, शासकों के वर्चस्व को चुनौती देने वाले, सार्वजनिक जीवन में सक्रिय तिलक शोध और चिन्तन की गहराइयों में भी जा सकते हैं यह आश्चर्यजनक है। उनका भारत के पुनर्जागरण के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है, उनका पाडित्य का बड़ा व्यापक क्षेत्र था। ज्योतिष, दर्शन, धर्म, गणित, विधि आदि अनेक विविध विषयो मे उनकी अद्भुत गति थी। गीता रहस्य उनका अमर ग्रथ है। कर्मयोग और निष्काम कर्म का इस ग्रन्थ मे निहित सदेश आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद की प्रेरणा बन गया। वी. पी. वर्मा के शब्दों[2] मे 'गीता रहस्य एक चिरस्थायी ग्रन्थ है। वह मराठी भाषा में एक युगान्तरकारी कृति है। हिन्दी के दार्शनिक साहित्य मे भी उसका उतना ही महत्त्व है। उसने सहस्त्रों राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओ तथा आचार्यों के चिन्तन को प्रभावित किया है। राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं को इससे त्याग, सेवा, कष्टक्षमता और तितिक्षा की शिक्षा मिली है। यह प्रथम श्रेणी का दार्शनिक ग्रथ है। इसमे विचारो की गंभीरता और शैली की सरलता का सामन्वय है। उसकी ओजपूर्ण गद्य स्फूर्ति प्रेरणादायक है। प्रवृत्ति मार्ग का वैशिष्ट्य प्रतिपादित कर लोक संग्रहार्थ निष्काम कर्म का शिक्षण करने के कारण राजनीतिक दृष्टि से भी इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके दो अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ओरियन और दि आर्कटिक होम ऑफ दि वेदाज हैं।

मूल्यांकन

1920 मे तिलक का निधन हुआ। अपने निधन काल तक के वह सर्वाधिक प्रभावशाली स्वतंत्रता सेनानी एवं जन नेता थे।

---

1 जी वी केटकर रेमिनिसेन्सेज एण्ड एनेकडोट्स अबाउट लोकमान्य तिलक, वोल्यूम I, पृ 26
विष्णु भगवान द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 62

2 वी पी वर्मा फिलॉसोफी ऑफ हिस्ट्री इन दि भगवद गीता,
दि फिलॉसोफिकल क्वार्टर्ली, अमलनेर जिल्द 30, सख्या, जुलाई 1957, पृ 93-114
वी पी वर्मा द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 307

वेलेन्टाइन शिरोल ने उन्हें अकृत्रिम राष्ट्रवादी और भारतीय अशांति का जनक कहा है। गांधी[1] ने उनके बारे में लिखा, 'मैं लोकमान्य तिलक का अनुयायी होने का दावा नहीं कर सकता। करोड़ों देशवासियों की भांति मैं भी उनके दुर्दमनीय संकल्प, देशभक्ति और सबसे अधिक उनके वैयक्तिक जीवन की पवित्रता तथा महान त्याग की प्रशंसा करता हूँ, आधुनिक युग के महान पुरुषों में वे ही ऐसे थे जिन्होंने अपने देशवासियों की कल्पना को सबसे अधिक सम्मोहित किया। उन्होंने हमारी आत्मा में स्वराज्य की भावना फूँक दी।'

तिलक पहले स्वतंत्रता सेनानी थे जिन्होंने स्वतंत्रता आन्दोलन को जन आन्दोलन बना दिया। वह उस उभरते हुये भारतीय राष्ट्रवाद के जनक थे जिसकी तेजस्विता के समक्ष ब्रिटिश शासन भयभीत होने लगा था। वह उस युग के प्रवर्तक थे जो राष्ट्रप्रेम की भावना से ओतप्रोत था। सन्त निहालसिंह ने तिलक को श्रद्धांजलि देते हुये ठीक ही लिखा है कि 'यदि तिलक न होते तो भारत अब भी पेट के बल सरक रहा होता, सिर धूल में दबा होता और उसके हाथ में दरख्वास्त होती। तिलक ने भारत की पीठ को बलिष्ठ बनाया। मुझे विश्वास है कि देश जब सीधा होकर चलने लगेगा और तब देश उस व्यक्ति को आशीर्वाद देगा जिसने धूल में से उठाकर उसे खड़ा कर दिया।'

अरविन्द

(1872-1950)

15 अगस्त 1872 को कलकत्ते में अरविन्द का एक अत्यन्त संभ्रान्त एवं प्रतिष्ठित परिवार में जन्म हुआ। उनकी शिक्षा-दीक्षा पर पश्चिमी प्रभाव रहा था। वह चौदह वर्ष इंगलैंड रहे। वहाँ उन्होंने बड़ी निष्ठा, तन्मयता एवं अध्यवसाय के साथ विद्या अर्जित की। अनेक विषयों एवं भाषाओं का उन्होंने गहन अध्ययन किया। वह अत्यन्त प्रतिभाशाली एवं मेधावी थे एवं उनका बहुमुखी व्यक्तित्व था। वह कवि, लेखक, साहित्यकार, मनीषी, चिन्तक, देशभक्त, मानववादी एवं राजनीतिक दार्शनिक थे। भारतीय पुनर्जागरण एवं राष्ट्रवाद के इतिहास में अरविन्द का बहुत ही ऊँचा स्थान है। रोमां रोलां ने कहा है कि पूर्व और पश्चिम की श्रेष्ठतम प्रतिभा का सामंजस्य अरविन्द के व्यक्तित्व में है। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार अरविन्द भारतीय राजनीतिक विचारकों की श्रेष्ठतम श्रेणी में सम्मिलित हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर अरविन्द से इतने प्रभावित हुये थे कि उन्होंने इन्हें भारतीय संस्कृति का मसीहा बताया और कहा कि इनके माध्यम से भारत विश्व को अपना संदेश देगा। देशबन्धु चितरंजन दास ने कहा कि 'अरविन्द

1. मोहनदास करमचन्द गांधी : विश्वास की घोषणा, यंग इंडिया, 23 जुलाई 1921 ए. डी. सी. वर्मा द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 284

देशभक्ति के कवि, राष्ट्रवाद के मसीहा एवं मानवता के प्रेमी के रूप में जाने जायेंगे। उनके शब्दों की प्रतिध्वनि न केवल भारत बल्कि सुदूर देशों तक सुनाई देगी।'

यद्यपि लम्बे चौदह वर्षों तक अरविन्द भारतीय परिवेश से दूर रहे, लेकिन उन्हें इंगलैंड रास नहीं आया। उन्होंने इंगलैंड में 'इंडियन मजलिस' की सदस्यता ग्रहण कर ली जो कि भारतीय स्वतंत्रता हेतु गठित एक क्रांतिकारी संस्था थी। उन्होंने भी 'लोटस एण्ड डैगर' नाम से एक संस्था का गठन किया जिसका उद्देश्य मातृभूमि की सेवा करना था। वैसे अरविन्द ब्रिटिश सरकार की सेवा करने के इच्छुक नहीं थे, लेकिन फिर भी आई. सी. एस. की परीक्षा में बैठे और उत्तीर्ण हुये। उनके देशभक्ति पूर्ण भाषणों एवं गतिविधियों के कारण सरकार ने घोड़े की सवारी में उन्हें अनुत्तीर्ण कर आई. सी. एस. में लेने से इन्कार कर दिया। इसका भी अरविन्द के मस्तिष्क पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा और उन्होंने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध अधिकाधिक असंतोष पैदा करने का संकल्प लिया ताकि भारतीयों में अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने की चेतना जाग्रत हो। इंगलैंड से लौटने के बाद बड़ौदा रियासत मे उन्होंने नौकरी की, लेकिन कुछ वर्षों बाद त्यागपत्र दे दिया। बड़ौदा प्रवास के दौरान उन्होंने अपनी राजनीतिक गतिविधियाँ जारी रखीं। 'इन्दु प्रकाश' नामक अखबार में उनके क्रांतिकारी लेख छपने लगे। वह कांग्रेस के भी आलोचक बन गये। उन्हें लगा कि कांग्रेस एक जुझारू संस्था नहीं है और उसके कार्यक्रम प्रभावशाली नहीं हैं। अरविन्द कांग्रेस के उदारवादियों को राष्ट्रवादी भी मानने को तैयार नहीं थे। इन लोगों मे भारत की आध्यात्मिक महानता का कोई बोध नहीं है, वे तो भारत को दूसरा यूरोप बना देना चाहते हैं।

अरविन्द उग्र विचारों के थे। विपिनचन्द्र पाल द्वारा स्थापित वन्दे मातरम् के वह सम्पादक बन गये। इसके माध्यम से उन्होंने जन जागृति का संदेश फैलाना प्रारंभ किया। 1906 में अरविन्द बड़ौदा से कलकत्ता आ गये जहाँ से उन्होंने 'युगान्तर' नामक पत्र निकाला। उन्होंने गुप्त क्रांतिकारी सभायें भी स्थापित की और क्रांतिकारियों से नजदीकी संबंध बनाये रखे। 1902 में अहमदाबाद में संपन्न हुये कांग्रेस अधिवेशन में भी वह सम्मिलित हुये। जहाँ लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक से उनकी भेंट हुई। 1904 में बंबई मे हुये कांग्रेस के अधिवेशन मे भी वह सम्मिलित हुये। फिर 1905 में कांग्रेस के बनारस अधिवेशन मे वह उग्रवादियों से मिले और बंग भंग विरोधी दल का उन्होंने निर्माण भी किया। कुल मिलाकर अरविन्द कांग्रेस के आलोचक ही बने रहे और उन्हें नहीं लगा कि इसके माध्यम से देश सही दिशा मे बढ़ जायेगा। वह कांग्रेस उग्रवादियों से अवश्य प्रभावित हुये। उन्होंने कांग्रेस को एक दुर्बल, निष्क्रिय एवं निष्प्राहीन संस्था बताया। *उन्होंने कहा कि कांग्रेस संपूर्ण समाज का प्रतिनिधित्व नहीं करती और न ही इसका नेतृत्व* गतिशील एवं निष्ठावान है।

अरविन्द के जीवन मे एक निर्णायक मोड़ आया जिसने उन्हें क्रांतिकारी से योगी

बना दिया और वह एक ऋषि, चिन्तक, लेखक एवं आध्यात्मिक पुरुष के रूप में विख्यात हुये और उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिली। उनके उग्र विचारों एवं क्रांतिकारी गतिविधियों के कारण ब्रिटिश सरकार की उन पर कड़ी निगरानी थी। उन्हें सरकार ने आतंककारी गतिविधियों में लिप्त होने का आरोप लगाकर एक वर्ष के लिये अलीपुर जेल में रखा। यद्यपि वह निर्दोष पाये जाकर जेल से रिहा हो गये, लेकिन उनके विचारों में भारी परिवर्तन आया। वह योग साधना और ईश्वरोपासना में संलग्न हो गये, लेकिन ब्रिटिश सरकार की कड़ी नजर उन पर अब भी रही। उन्होंने कर्म योगी और धर्म नायक दो साप्ताहिक पत्र प्रकाशित करना प्रारंभ किया, लेकिन अब उनमें वह उत्साह नहीं रहा। अन्ततोगत्वा वह ब्रिटिश सरकार के चंगुल से मुक्त होने की दृष्टि से चन्द्रनगर चले गये जो कि फ्रांस के अधीन था। वहाँ से अप्रैल 1910 में पांडीचेरी चले गये जो उनकी मृत्युपर्यन्त कर्मभूमि बन गई। यहाँ उन्होंने योग साधना और साहित्य निर्माण में अपना संपूर्ण जीवन व्यतीत किया। ऐसा कहा जाता है कि संभवतः शायद ही अन्य किसी राष्ट्रवादी नेता ने इस प्रकार के साहित्य की रचना की हो जिसमें गहन दार्शनिक चिन्तन, प्रत्यक्ष क्रांतिकारी कर्म जिसमें आध्यात्मिक पुट हो एवं राजनीतिक सिद्धान्त का सामंजस्य हो। उनका विश्व के बड़े योगियों, साधकों, चिन्तकों एवं आध्यात्मिक पुरुषों में स्थान है।

अरविन्द के राजनीतिक विचार

उनके राजनीतिक दर्शन के मूल में आध्यात्मिक राष्ट्रवाद है। 1908 में प्रकाशित एक भाषण में उन्होंने बताया कि राष्ट्रवाद केवल राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है। यह तो एक धर्म है जिसके माध्यम से हम राष्ट्र में और राष्ट्रवासियों में ईश्वर की छवि देखते हैं। उन्होंने कहा कि हम तीस करोड़ भारतवासियों में ईश्वर की प्रतिमा देखते हैं, हम अपने लिये नहीं बल्कि दूसरों के लिए उत्सर्ग करने को तत्पर रहते हैं। जब बंगाली युवक राष्ट्रहित में जेल जाता है अथवा कष्ट भोगता है तो वह खुशी का अनुभव करता है, वह निर्भीक होकर यातना सहता है। यही राष्ट्रीय भावना है जिससे प्रेरणा लेकर समूचा देश एक सूत्र में बांधा जा सकता है। उनके ही शब्दों में, 'राष्ट्रवाद धर्म है जो कि ईश्वर से प्राप्त हुआ है। राष्ट्रवाद एक पुनीत कर्तव्य है जिसके लिये तुम्हें जीना है। यदि तुम राष्ट्रवादी हो तो तुम्हें राष्ट्रवाद के धर्म को स्वीकार करना पड़ेगा और यह धार्मिक भावना और उत्साह के साथ ही किया जाना चाहिये। तुम्हें यह अहसास होना चाहिये कि तुम ईश्वर के ही यंत्र हो – राष्ट्रवाद नष्ट नहीं हो सकता। ईश्वर की शक्ति से राष्ट्रवाद ओतप्रोत है और इसलिये यह अस्त्र-शस्त्रों से कुचला नहीं जा सकता, राष्ट्रवाद अमर है।'[1] राष्ट्रवाद एक आध्यात्मिक शक्ति है, नैतिक बल है। राष्ट्र केवल भौगोलिक अभिव्यक्ति नहीं है, यह प्रेरक शक्ति है जो व्यष्टि को समष्टि से जोड़ता है। अरविन्द

---

1 विष्णु भगवान द्वारा उद्धृत वही पुस्तक, पृ 151.

भारत को एक दैविक शक्ति मानते थे, वह मातृभूमि की दिव्यता मे आस्था रखते थे। देश की स्वतत्रता के लिए सघर्ष को वह यज्ञ मानते थे। मातृभूमि के प्रति प्रेम सर्वोच्च धर्म है, इस प्रकार उन्होंने राष्ट्रवाद को सर्वोच्च धर्म के रूप मे परिभाषित किया। राष्ट्रवाद ही जाति, सप्रदाय, धर्म, नसलवाद, क्षेत्रवाद जैसी विभिन्न प्रवृत्तियो को एकता के सूत्र में आवद्ध करता है। यह सात्विकता की ओर ले जाने वाली शक्ति है, मनुष्य को उदात्त ध्येय की ओर अग्रसर करने वाला तत्त्व है। वह राष्ट्र को एक विराट पुरुष मानते हैं जिसमे सभी समाहित होते हैं। व्यक्ति राष्ट्रवाद की अवधारणा को आत्मसात कर लेने पर भव्यता का अनुभव करता है, वह अपने क्षुद्र स्वार्थों, संकीर्ण मनोविकारों एवं कुत्सित भावनाओ से ऊपर उठकर अपने को एक वृहत परिवार का सदस्य समझने लगता है। अरविन्द लिखते हैं 'विश्व की वर्तमान परिस्थितियाँ कितनी ही निन्दा और भयावह सभावनो रो पूर्ण क्यों न हो, किन्तु उनमे ऐसी कोई चीज नहीं है जिससे हमें अपना यह मत बदलना पड़े कि किसी न किसी प्रकार का विश्व सघ आवश्यक तथा अनिवार्य है। प्रकृति की आन्तरिक गति, परिस्थितियों की बाध्यता तथा मानव जाति के वर्तमान और भविष्य की आवश्यकताओं ने उसे अनिवार्य बना दिया है। हमने जो सामान्य निष्कर्ष निकाले हैं वे ज्यो के त्यों रहेगे, हाँ उसकी प्रणालियो और सम्भाव्य रूपो, वैकल्पिक पद्धतियों और क्रमिक विकासो के सबध मे विचार विमर्श किया जा सकता है। अतिम परिणाम एक विश्व राज्य की स्थापना ही होना चाहिये। उस विश्व राज्य का सर्वोत्तम रूप स्वतंत्र राष्ट्रो का एक ऐसा सघ होगा जिसके अन्तर्गत हर प्रकार की पराधीनता, बल पर आधारित असमानता तथा दासता का विलोप हो जायेगा। उसमें कुछ राष्ट्रों का स्वाभाविक प्रभाव दूसरों से अधिक हो सकता है किन्तु सबकी परिस्थिति समान होगी। यदि एक परिसंघ का निर्माण किया जाय तो विश्व राज्य के इकाई राष्ट्रों को सबसे अधिक स्वतंत्रता उपलब्ध हो सकेगी, किन्तु उसके विघटनकारी तथा विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियो के पनपने के लिये बहुत अधिक अवसर मिल सकता है। अत संघ व्यवस्था ही सबसे अधिक वांछनीय होगी। अन्य सब चीजें घटनाचक्र पर निर्भर करेंगी अथवा उन्हे सामान्य समझौते के द्वारा निश्चित किया जा सकता है अथवा भविष्य मे जैसे विचार और आवश्यकताएँ उत्पन्न होगी उनको ध्यान मे रखकर उनके संबध मे निर्णय कर लिया जायेगा। इस प्रकार विश्व सघ के जीवित रहने अथवा स्थायी होने की सबसे अधिक संभावना होगी'।[1]

इससे स्पष्ट है कि अरविन्द की राष्ट्रवाद की अवधारणा फासिस्टो जैसी नहीं थी, उनका उदात्त, आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों पर आधारित राष्ट्रवाद है जिसका अन्तर्राष्ट्रवाद से कोई विरोध नहीं है। उन्होंने भारत की स्वतंत्रता पर जोर इसलिये दिया

1 अरविन्द, दी आइडिन ऑफ ह्यूमन यूनिटी, पृ 399-400
दी पी वर्मा द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 335-336

कि उन्होंने माना कि यह विश्व के कल्याण हेतु ईश्वरीय कार्य है। उन्होंने राष्ट्रवाद के स्वरूप को भारतीय संस्कृति के अनुरूप ही परिभाषित किया और साथ ही इसे मानवतावादी रूप भी प्रदान किया है। अरविन्द के अनुसार राष्ट्रवाद विश्व बन्धुत्व, अन्तर्राष्ट्रवाद एवं मानववाद के अनुकूल ही अवधारणा है। अरविन्द के राष्ट्रवाद को कई लोगों ने संकीर्ण हिन्दू राष्ट्रवाद के अर्थ मे समझा है, लेकिन यह गलत है। अरविन्द ने हिन्दुत्व को बहुत ही व्यापक अर्थ मे परिभाषित किया है। उनके अनुसार 'हिन्दू धर्म शाश्वत है, यह सार्वभौमिकता लिये हुये है जिसमें सभी समाहित हैं, यह ईश्वर के सामीप्य का बोध कराता है। यह धर्म इस सत्य को स्वीकार करता है कि ईश्वर किसी की बपौती नहीं है, यह सर्वव्याप्त है। इस धर्म से सत्य की अनुभूति होती है। ऐसा व्यापक और सार्वभौमिक धर्म संकीर्ण हो ही नहीं सकता। वह पुनर्जागरण के द्वारा भारतीय राष्ट्रीय गौरव और सांस्कृतिक महानता का संदेश देना चाहते थे और भारत पर बढ़ते पश्चिमी प्रभाव एवं दबाव को रोकना चाहते थे। लेकिन वह रूढ़िवादी एवं परम्परावादी भी नहीं थे। विश्व के किसी भी कोने से प्रवाहित होने वाले श्रेष्ठ विचारों को ग्रहण करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी, लेकिन अन्धानुकरण करना और विवेकहीन होकर पश्चिम की नकल के वह कठोर विरोधी थे।

अरविन्द ने पूर्ण स्वराज्य की बात भी की जो कि भारतीय राष्ट्रवाद का लक्ष्य था। वह मानते थे कि परकीय सत्ता के उन्मूलन एवं राष्ट्रीय सरकार की स्थापना से ही राष्ट्र की आत्मा और अस्मिता की रक्षा हो सकती है। राष्ट्र की चहुँमुखी उन्नति की प्रथम आवश्यकता है पूर्ण स्वराज्य और उसके अनुकूल स्थापित राष्ट्रीय सरकार। विदेशी शासन न केवल अप्राकृतिक ही है बल्कि राष्ट्र के लिए घातक भी है। उनके अनुसार स्वशासन न केवल व्यक्ति के विकास हेतु बल्कि राष्ट्रीय शक्ति के लिये अनिवार्य है। विदेशी शासन ने केवल एक सुविधाभोगी वर्ग को जन्म दिया है और विशाल जनसमुदाय उपेक्षित एवं पराश्रित है। उन्होंने इस सुविधाभोगी वर्ग पर आक्रमण करते हुये लिखा है कि यह विदेशी भाषा में पारंगत होकर टिका हुआ है और अपने निहित स्वार्थों की रक्षा करने में तत्पर है। अरविन्द ने स्पष्ट किया कि एक गुलाम राष्ट्र की सार्वभौमिक राजनीतिक चेतना तब ही जगाई जा सकती है जबकि उसकी अपनी राष्ट्रीय सरकार हो।

निष्क्रिय प्रतिरोध

अरविन्द उदारवादियों की अनुनय विनय की नीति के तीव्र आलोचक थे। वह कांग्रेस के भी आलोचक थे और मानते थे कि इस धीमी गति और अनुनय विनय से कुछ मिले संवैधानिक अधिकारों का कोई मतलब नहीं है। उन्होंने राष्ट्रीय स्वतंत्रता हेतु हिंसक प्रतिरोध की वकालत की। विदेशी आततायी सरकार इसे चाहे कुछ भी कहकर भर्त्सना करे लेकिन सशस्त्र क्रांति से ही तत्काल परिणाम निकलते हैं। वह इस तथ्य से सुपरिचित थे कि राष्ट्रीय चेतना के अभाव में सशस्त्र क्रांति न तो संभव है और न ही

इसके आशाजनक परिणाम ही निकलेगे अत: सशस्त्र क्रांति से पूर्ण राष्ट्रीय चेतना का सचार करने हेतु उन्होने निष्क्रिय प्रतिरोध का सुझाव दिया। इसमें निम्नलिखित बाते निहित थी —

1. विदेशी सामान का बहिष्कार।
2. स्वदेशी का प्रसार।
3. ब्रिटिश सरकार द्वारा स्थापित संस्थाओ का बहिष्कार।
4. जनता द्वारा सरकार के प्रति असहयोग।
5. शासकों का सामाजिक बहिष्कार।
6. सरकारी शिक्षण संस्थाओ का बहिष्कार।

अरविन्द निष्क्रिय प्रतिरोध और सशस्त्र क्रांति के बीच की बात भी करते हैं। उन्हीं के शब्दों मे, 'जहाँ तक कि सरकार का कर्म शांतिपूर्ण है और नियमानुसार है वहाँ तक निष्क्रिय प्रतिरोधी अपना निष्क्रिय दृष्टिकोण बनाये रखें, लेकिन इससे आगे वह एक क्षण भी न बर्दास्त करे। गैरकानूनी और बाध्यकारी हिंसक तरीकों के समक्ष झुकना, और देश की निरंकुश एवं अन्यायपूर्ण कानूनी व्यवस्था को स्वीकार करना कायरता है और राष्ट्रीय शक्ति को कुण्ठित करना है, यह हमारे अंदर और मातृभूमि मे निहित दिव्यता के विरुद्ध पाप है।'[1] वह आश्वस्त थे कि निष्क्रिय प्रतिरोध के द्वारा ब्रिटिश सत्ता दुर्बल होगी और अन्ततोगत्वा देश को आजादी मिलने का रास्ता प्रशस्त होगा।

पूँजीवाद, समाजवाद एवं स्वतंत्रता

अरविन्द पूँजीवाद के आलोचक हैं, लेकिन वह समाजवाद की भी वकालत नहीं करते क्योंकि इसकी आड मे नौकरशाही शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण बन जाती है और राज्य अधिनायकवादी हो जाता है। पूँजीवाद निकृष्ट व्यवस्था है क्योंकि इसके अन्तर्गत मजदूर का शोषण होता है और उसे विकसित होने का अवसर नहीं मिलता। अरविन्द ने श्रमिक वर्ग के महत्त्व को समझा और बताया कि इस वर्ग मे महान शक्ति की अन्तर्संभावनायें निहित हैं लेकिन चेतना के अभाव मे वह सुषुप्तावस्था मे हैं। अत: इस चेतना को जगाने की आवश्यकता है लेकिन अरविन्द ने मार्क्सवादी-दृष्टिकोण नहीं अपनाया। उन्होने उनके नैतिक उत्थान की बात कही। उन्होने वर्ग-संघर्ष की बात भी नहीं कही। लेकिन यह भविष्यवाणी अवश्य की कि जागरुक श्रमिक भविष्य का स्वामी होगा। समाजवादी ध्येय को अरविन्द ने स्वीकार किया और कहा कि अवसर की समानता और सबके लिए न्यूनतम सामाजिक एवं आर्थिक सुविधाये एक संगठित सभ्य समाज की प्रथम आवश्यकता है।

अरविन्द व्यक्ति की स्वतंत्रता को स्वीकार करते हैं, लेकिन वह व्यक्ति को समाज

1 ए अंडेरेयस इंडियन पॅल्टिकल थिंकिंग, पृष्ठ 52-53

से पृथक् कर नहीं सोचते। यह मनुष्य को केवल भौतिक प्राणी भी नहीं मानते। मनुष्य का असली स्वरूप तो आध्यात्मिक है, अतः वास्तविक स्वतन्त्रता आध्यात्मिक ही होती है। उनका विचार है कि जिस व्यक्ति ने आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करली है उसे सामाजिक और राजनीतिक स्वतंत्रता भी प्राप्त हो जाती है। उनके अनुसार स्वतन्त्रता उन नियमों का आज्ञापालन है जो मनुष्य के अस्तित्व से जुड़े हुये हैं। दूसरे शब्दों में, ये ईश्वरीय कानून ही हैं। यह कहा जा सकता है कि अरविन्द की स्वतंत्रता की अवधारणा भगवद्‌गीता और रूसो के विचारों का समन्वय है। रूसो के अनुसार नैतिक स्वतन्त्रता वही है जो उन कानूनों का आज्ञापालन है जिनका निर्माण हम स्वयं करते हैं। अरविन्द ने स्वतन्त्रता को भगवद् गीता के स्वधर्म के ढाचे में पिरोया है। स्वधर्म कर्तव्यों का पालन है जिसमें पलायन या निराशा के लिए कोई स्थान नहीं है। पलायन और निराशा में कायरता निहित है, इसलिये गीता में 'कर्मण्येवाधिकारस्तु, मा फलेषु कदाचन्' की बात कही है। चूँकि फल मनुष्य के हाथ में नहीं है अतः कर्म पर ही जोर है। कर्म चेतना से जुड़ा हुआ है और यह चेतना ही स्वतंत्रता है। कर्म को फल से अलग करने की दृष्टि से गीता में वैराग्य और उत्साह की बात कही गई है। गाँधी, अरविन्द और विवेकानन्द आन्तरिक और बाह्य स्वतंत्रता में अन्तर करते हैं और कहते हैं कि मनुष्य जिस अनुपात मे आन्तरिक स्वतंत्रता का उपभोग करता है उसी अनुपात में बाह्य स्वतंत्रता उसे उपलब्ध होती है।

व्यक्ति, राज्य एवं लोकतंत्र

अरविन्द न अराजकतावादी हैं और न ही सर्वाधिकारी राज्य के पक्षधर ही। वह राज्य को एक भौतिक आवश्यकता मानते हैं लेकिन वह यह नहीं मानते कि राज्य श्रेष्ठ मस्तिष्कों का प्रतिनिधित्व करता है या मनुष्य के नैतिक विकास का चरमोत्कर्ष, यद्यपि वह राज्य को आवश्यक बला तो नहीं मानते, लेकिन उसको न तो साध्य मानते हैं और न ही उसे बहुत ही सम्मानजनक स्थान ही देते हैं। मनुष्य का सर्वोच्च ध्येय आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करना है जिसमें राज्य का कोई वांछित योगदान नहीं हो सकता। उनका काम तो केवल उन बाधाओं को दूर करना है जो उसके विकास में बाधक हैं। राज्य मनुष्य के हाथ में रहे, न कि मनुष्य उसका दास बने। व्यक्ति का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है और राज्य केवल एक सुविधा और साधन है। व्यक्ति स्वयं यह निर्धारित करे कि उसका रास्ता क्या है, गन्तव्य क्या है, राज्य का अनावश्यक हस्तक्षेप निन्दनीय है। अरविन्द के अनुसार राज्य का विचार ही अपर्याप्तता लिए हुये है। राज्य के द्वारा मानव विकास की अवधारणा ही हास्यास्पद है। राज्य तो एक प्रकार से राष्ट्र का अनुचर है, राष्ट्रीय अस्मिता और गौरव को आगे बढ़ाने का यंत्र है जिस पर स्वामित्व समाज और राष्ट्र का है।

अरविन्द लोकतंत्र को आर्थिक एवं राजनीतिक व्यक्तिवाद का प्रतिफल मानते हैं जिसमें यही अपेक्षा की जाती है कि व्यक्ति के सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक

अधिकार सुरक्षित होंगे। सिद्धान्त में अरविन्द के अनुसार यह एक आकर्षक अवधारणा है, लेकिन व्यवहार में यह विकृत हो जाती है। उनके अनुसार समूह व्यक्ति की स्वतंत्रता को दबा देता है और जनता का शासन एक भ्रांति ही है। चन्द लोग धन और संसाधनों के बूते पर सत्ता पर काबिज हो जाते हैं और जन प्रतिनिधित्व एक नाटक के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, यह केवल मिथक है। जनतन्त्र में बहुमत का शासन निरीह कल्पना है। शासन की नीतियों मे केवल सत्तारुढ़ अल्पसंख्यक वर्ग का दंभ ही प्रवाहित होता है। अरविन्द लोकतत्र में सुधार की बात भी करते हैं और इस सन्दर्भ मे दो सुझाव देते हैं। एक सुझाव तो यह है कि सामाजिक चेतना हेतु जन जागृति अभियान चलाया जाय ताकि नागरिक अपने अधिकारों के प्रति जागरुक हो और शासक पर नियंत्रण स्थापित कर सकें। दूसरा सुझाव यह है कि सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो ताकि समाज शासन के अनावश्यक हस्तक्षेप से मुक्त रहे।

तिलक और अरविन्द मे बहुत समानतायें हैं। अरविन्द और विवेकानन्द भी कई बातो मे एक दूसरे से सहमत हैं। अरविन्द राष्ट्रवादी होने के साथ साथ मानववादी भी हैं, अन्तर्राष्ट्रवादी भी हैं, विश्वबन्धुत्व, मानव-एकता एवं मानव स्वतंत्रता के पक्षधर है। राष्ट्रवाद के साथ व्यक्ति की स्वतत्रता को जोड़ना उनका विशिष्ट योगदान है। उनका जोर आध्यात्मिक समाज की स्थापना पर है जिसके निर्माण से ही एक नये युग का निर्माण संभव है। वह सृष्टि के विकास क्रम मे अब एक अतिमानसिक शक्ति के अभ्युदय का विचार प्रस्तुत करते हैं जो नीत्शे के सुपरमैन की अवधारणा से मेल खाता है। वी पी. वर्मा[1] के शब्दो मे, 'नीत्शे ने सर्वप्रथम अतिमानव (सुपरमैन) की धारणा निरुपित की थी, यद्यपि रैनन की रचनाओं में उसके बीज विद्यमान हैं। किन्तु नीत्शे का अति मानव आक्रामक शक्ति सम्पन्न तथा अति बौद्धिक प्राणी है, इसके विपरीत अरविन्द का अतिमानव सेवा रूपान्तरित व्यक्ति है जो अपने जीवन मे उच्चतर दैवी शक्तियो तथा आनन्द की अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार यद्यपि अरविन्द ने 'अतिमानव' शब्द नीत्शे से ग्रहण किया किन्तु उसे उन्होने आध्यात्मिक तथा वेदान्ती अर्थ प्रदान कर दिया। जिस प्रकार नीत्शे ने मूल्यो के मूल्यान्तरण की बात कही थी वैसे ही अरविन्द ने निरपेक्ष दैवी मूल्यों की चेतना तथा बुद्धि पर बल दिया। उनका कहना था कि सामाजिक तथा राजनीतिक कलह, टकराव, अन्तर्विरोध तथा संघर्ष तभी समाप्त हो सकते हैं जब आत्मा में एकात्म की चेतना जाग्रत हो, ऐसी चेतना पारस्परिक सहयोग, सामंजस्य तथा एकता का संवर्द्धन करेगी। समष्टि तथा व्यक्ति के बीच तालमेल की समस्याएँ ऐसी चेतना के उदित होने पर हल हो सकती हैं जो मनुष्य को बतलायेगी कि अनुभवातीत ब्रह्माण्ड तथा वैयक्तिक पहलू समान रूप से परमात्मा की ही वास्तविक अभिव्यक्ति है। मनुष्य शाश्वत आत्मा है, वह 'क्षण भंगुरता के साथ केवल खिलवाड़ करता है।' इस प्रकार अरविन्द ने मानव

1 वी पी वर्मा, वही पुस्तक, पृ 338-339

प्राणी के अनुभवातीत आध्यात्मिक गुणों को अधिक महत्त्व दिया। पाश्चात्य प्र कारण उन्होंने समष्टि को भी सार्वभौम सत्ता का रूप माना और हेगेल की भाँति स्वीकार किया है कि राष्ट्र की भी आत्मा होती है।'

अंत में अरविन्द के भाषणों और लेखों में से भारतीय राष्ट्रवाद एवं हिन्दू राष्ट्र की अवधारणा पर उनके विचारों को, संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

भारतीय राष्ट्रवाद[1]

राष्ट्रवाद क्या है ? यह केवल राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है। राष्ट्रवाद धर्म है जो भगवान से प्राप्त हुआ है। राष्ट्रवाद धर्म है जिसे आपको जीना है। उसे स्वय को राष्ट्रवादी कहने का कोई अधिकार नहीं है जो इसे केवल बौद्धिक प्रवृत्ति मानता हो, और अन्य लोगों के मुकाबले कि वह उनसे ऊँचा है, स्वयं को देश भक्त कहने का दम भरता हो। यदि आप राष्ट्रवादी हैं और राष्ट्रवाद के धर्म को स्वीकार करते हैं तो इसे धार्मिक भावना से स्वीकार करना चाहिये।...... बंगाल में एक नये धर्म का प्रचार हो रहा है जो दैविक और सात्विक है और शास्त्रों के बल पर वे इस रास्ते पर चल रहे हैं। उस शक्ति के सहारे हम बंगाल में कार्यरत हैं। राष्ट्रवाद के पीछे प्रेरक ईश्वरीय शक्ति है जिसे कोई नष्ट नहीं कर सकता चाहे विरोधी कोई भी हथियारों का प्रयोग करें। राष्ट्रवाद अमर है, राष्ट्रवाद मर नहीं सकता, चूँकि यह कोई मनुष्य तो है नहीं, यह तो प्रत्यक्ष ईश्वर ही है जो बंगाल में काम कर रहा है। ईश्वर को तो मारा नहीं जा सकता, ईश्वर को जेल भी नहीं भेजा जा सकता।....... क्या आपने अनुभव किया है कि आपमे ईश्वर निवास करता है, आप तो ईश्वरीय कार्य हेतु उसके हाथ में एक यंत्र है ? यदि आपने यह अनुभव कर लिया हो तो आप वास्तव में राष्ट्रवादी हैं और आपमें इस महान राष्ट्र को पुनः इसके विस्मृत गौरव दिलाने की क्षमता है। हमारे कार्य को प्रभु का आशीर्वाद मिलेगा और हम पुनः आध्यात्मिक महानता को प्राप्त करेंगे।

हिन्दू राष्ट्र की अवधारणा[2]

"मैं हिन्दू धर्म के सत्य के बारे में उत्पन्न शंकाओं का निवारण करना चाहता हूँ। यह धर्म है जिसको मैं विश्व के समक्ष प्रस्तुत करना चाहता हूँ। मैंने ऋषियों, संतों और अवतारों के माध्यम से इसे विकसित किया और पूर्ण बनाया है और अब इसके द्वारा मेरा काम अन्य राष्ट्रों में होगा।

---

1. अरविन्द घोष स्पीचेज, पृ 7-9
   के पी. करुनाकरन द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 168-169
2. 1908 में धर्म की रक्षा हेतु निर्मित संगठन के समक्ष भाषण देते हुए अरविन्द ने दावा किया कि उन्हें ईश्वर से दो संदेश प्राप्त हुये हैं। दूसरे संदेश का सार उन्होंने इस भाषण में बताया है।
   अरविन्द, स्पीचेज, पृ 76-80
   के. पी. करुनाकरन द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 169-172.

मैं इस देश के माध्यम से विश्व को संदेश देना चाहता हूँ। यह सनातन धर्म है, यह शाश्वत धर्म है जिसके बारे मे तुमने पहले कभी जाना ही नहीं होगा, अब मैं तुम्हें यह बता रहा हूँ। तुम अपने देशवासियो से यही कहो कि सनातन धर्म के लिए वह जाग्रत हो, यह विश्व के कल्याण हेतु है। जब हम कहते हैं कि भारत महान होगा इसका मतलब सनातन धर्म महान होगा। जब हम कहते हैं कि भारत का विस्तार होगा इसका मतलब यही है कि सनातन धर्म का विस्तार होगा और यह विश्वव्यापी बनेगा। धर्म के लिये ही तो भारत का अस्तित्व है। धार्मिक साधनों का विस्तार ही तो भारत का विस्तार है, यह शक्ति है जो लोगो के जीवन में प्रवेश कर रही है। मैं बहुत समय से इस जागृति के लिये कार्य–कर रहा हूँ और समय आ गया है जबकि मैं स्वयं इसका नेतृत्व करूँगा।'

अरविन्द एक महान दार्शनिक, योगी और विचारक थे। उनका तत्व शास्त्र, राष्ट्रवाद एवं स्वतत्रता का दर्शन भारतीय चिन्तन की पृष्ठभूमि में प्रस्फुटित हुआ है, यद्यपि इस पर पश्चिम का भी प्रभाव है। उन्होने पश्चिम को कहीं भी हावी नहीं होने दिया, पश्चिम का उपयोगिताबाद एवं भौतिकवाद उनके विशाल चिन्तन के समक्ष बौना लगने लगा। उनकी साधना फलीभूत हुई जबकि उनके जन्मदिन 15 अगस्त को भारत स्वतंत्र हुआ, लेकिन उनके सपनों के भारत का निर्माण न जाने होगा भी या नहीं।

मोहनदास करमचन्द गाँधी
(1869-1948)

आधुनिक भारत के चिन्तकों एवं कर्मयोगियों मे मोहनदास करमचन्द गाँधी का विशिष्ट स्थान है। आज के इस विषाक्त वातावरण में जहाँ सार्वजनिक जीवन अपनी गरिमा और विश्वसनीयता खो चुका है, विकल्प के रूप में गाँधी के जीवन और चिन्तन पर गंभीर विचार होने लगता है। गाँधी का स्थान जितना भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के इतिहास में है उससे भी ज्यादा चिन्तन के क्षेत्र में है जो समस्याओं के क्षणिक हल में विश्वास नहीं करता बल्कि उनके स्थायी निदान की दिशा में प्रवृत होता है। उनका चिन्तन देश और काल की परिधि मे न बंधा होकर, शाश्वतता की ओर उन्मुख होता है। विश्व का भद्र लोक जहाँ गाँधी चिन्तन के कार्यान्वयन का विरोधी है वहाँ वर्तमान समस्याओ के समाधान के रूप में वह इसे अस्वीकार करने का साहस भी नहीं कर पाता है।

जिन आदर्शों को लेकर हमने अंग्रेजी शासन के विरूद्द संघर्ष किया उनमें मोहनदास करमचन्द गाँधी द्वारा प्रतिपादित एवं समर्थित सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, स्वराज, सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा एवं अन्य सिद्धांतों का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। गाँधी चिन्तन एवं कर्म का यद्यपि एक सन्दर्भ रहा है, लेकिन ये केवल भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन एवं

आधुनिक भारतीय परिधि मे ही आबद्ध नहीं किये किये जा सकते, वे मानवीय समस्याओं से जुड़े होने के कारण शाश्वतता लिये हुये हैं। समस्याये चाहे पश्चिमी दुनिया की हों अथवा तृतीय विश्व के नवोदित राष्ट्रो की उनके समाधान में कहीं न कहीं गाँधी की सम्बद्धता झलकने लगती है। एक नये मानव एवं एक नूतन समाज की सरचना की अवधारणा के निर्माण मे गाँधी पर विचार आवश्यक हो जाता है। राजनीति एव अर्थनीति मे नैतिकता का समावेश, धर्म का अभिनव प्रतिपादन, सपत्ति संबंधों में अपरिग्रह की अवधारणा, अहिंसक समाज का निर्माण, सकीर्ण राष्ट्रवाद की अस्वीकृति एवं भ्रातृ भाव पर निर्मित एक विश्व समाज की संरचना, प्रतिस्पर्द्धा के स्थान पर सहयोग एव सार रूप में राजनीति के स्थान पर लोकनीति की कतिपय अवधारणायें आज के इस तनावपूर्ण क्षुब्ध वातावरण को नई रोशनी, नई ताजगी एव नई दिशा प्रदान करते हैं। गाँधी चिन्तन पर अधिक विस्तार से चर्चा करने के पूर्व उनके व्यक्तित्व निर्माण की सक्षिप्त पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालना प्रासगिक प्रतीत होता है।

व्यक्तित्व-निर्माण

पारिवारिक वातावरण का मोहनदास पर अमिट प्रभाव रहा। माता की सत्यवादिता, धार्मिक एवं निर्भीकता का उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। इसे उन्होने स्वीकार करते हुए कहा है कि जो कुछ पवित्रता मेरे मे है वह मेरी माँ से प्राप्त हुई है पिता से नहीं।'[1] कानून का अध्ययन करने इगलैंड प्रस्थान के पूर्व भयकर चुनौतियों के बीच अपनी जननी को दिये गये वचनों के पालन ने उन्हे दृढ निश्चयी बना दिया। ये तीन वचन थे- माँस, मदिरा और स्त्री गमन से परहेज रखना। इंगलैंड से अध्ययन कर जब गाँधी भारत पहुँचे तो वह बैरिस्टर से कुछ अधिक बन चुके थे। यह अधिकता उनकी विशिष्टता बन रही थी और इसका प्रारंभ दक्षिणी अफ्रीका से ही होता है।

गाँधी मई 1893 मे डरबन पहुँचे। यद्यपि आगमन एक मुकदमा जीतना और भाग्य को आजमाना था, लेकिन यह सब गौण हो गया और जीवन का ध्येय ही बदल गया। प्रवासी भारतीयो के प्रति शासक के भेदभाव पूर्ण रवैये एवं क्रूर व्यवहार से गाँधी का मन क्षुब्ध हो उठा और उन्होने शासक जाति की अमानवीयता के विरुद्ध जिहाद छेड़ दिया। दक्षिणी अफ्रीका मे प्राप्त प्रथम अनुभव ने ही गाँधी को झकझोर दिया। प्रथम श्रेणी का टिकिट होते हुये भी श्वेत शासक जाति के लोगों के साथ न बैठने देना और मांग करने पर सीट के बदले डंडे खाना गाँधी के जीवन में मोड़ लाता है। इसी क्षण से उन्होंने अन्याय के विरुद्ध संघर्ष का संकल्प लिया। उन्होने निश्चय किया कि वह तर्क करेंगे, अपील करेंगे, श्वेत जाति का विवेक जगायेंगे। संघर्ष करेंगे, लेकिन शासकों के जातीय अहंकार को कभी स्वीकार नहीं करेंगे। यह उनके स्वयं के सम्मान का प्रश्न नहीं

---

1 दी डायरीज ऑफ महादेव देसाई, भाग-1, 31 मार्च 1932

था। यह उनकी जाति एवं समस्त मानवता के सम्मान से जुड़ा अहम् मुद्दा था।[1] जिस मुकदमे के सबध मे गाँधी अफ्रीका गये थे उससे भी उन्होने कुछ निष्कर्ष निकाले। उनका निष्कर्ष था कि मुकदमा दोनो पक्षों को बर्बाद करता है, वकील अपनी जेबे भाते हैं और हार-जीत के बाद भी दुर्भावनायें बनी रहती हैं। अच्छा यही होता है जहाँ दोनों पक्ष न्यायालय के बाहर ही अपना फैसला करले। इस मुकदमे मे फैसला गाँधी के मुवक्किल अब्दुल्ला के पक्ष में ही रहा, लेकिन इसके तत्काल कार्यान्वियन से दूसरा पक्ष बिलकुल कगाल हो जाता। अत गाँधी ने अब्दुल्ला को इस बात के लिए राजी कर लिया कि वह प्रतिपक्ष से टुकडों मे भुगताने स्वीकार करले। गाँधी ने लिखा कि 'मैंने वकालात के सही स्वरूप को पहचान लिया। मानव प्रकृति के श्रेष्ठतर पक्ष एवं मानव हृदय मे प्रवेश को समझ लिया। मैंने अनुभव किया कि वकील का सही कर्त्तव्य विभाजित पक्षो को जोड़ना है।'[2]

दक्षिणी अफ्रीका मे मोहनदास कदम कदम पर रंग भेद नीति से त्रस्त अश्वेतों की दशा पर क्षुब्ध थे और अपमानित होते जा रहे थे। लेकिन उनके जीवन का ध्येय निश्चित होता जा रहा था। व्यक्तिगत जीवन में सच्चाई, सार्वजनिक जीवन मे पूर्ण पारदर्शिता, सार्वजनिक कार्य को सेवा भाव से करना और इसके बदले कुछ भी ग्रहण न करना, ईश्वर मे पूर्ण आस्था, जाति, धर्म, सम्प्रदाय, ऊँच-नीच की भावना से ऊपर उठकर सबको एक दृष्टि से देखना और भ्रातृ भाव के दर्शन को गाँधी अपने जीवन मे ग्रहण करते जा रहे थे।

गाँधी सभी प्रमुख धर्मों के सार का अध्ययन भी करते रहे। अपनी वकालत के सिलसिले मे उनका रोमन, कैथोलिकों, प्रोटेस्टेन्टो एवं अन्य ईसाई धर्मावलम्बियो तथा पादरियों से संपर्क आया। ईसाइयो ने उन्हे साहित्य दिया और आग्रह किया कि ईसाई बन जाने पर पापो के परिणामों से मुक्ति मिल सकती है। गाँधी ने कहा कि 'मैं पापो के परिणामो से मुक्ति नहीं, पापों से ही मुक्ति चाहता हूँ। उन्होने कहा कि क्या ईश्वर गैर ईसाइयो से नाराज है ? क्या स्वर्ग दिलाने का ठेका ईसाइयो ने ही ले रखा है।[3] वैसे उन्हे न्यूटेस्टामेट' बहुत ही अच्छा लगा। भाई रूपचन्द ने गाँधी को आश्वस्त किया कि हिन्दू धर्म कहीं अधिक गूढ एवं शाश्वत है। गीता का 'स्वधर्मे निधनं श्रेय. पर धर्मोभयावह' उनके मानस को सम्बल देने लगा। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि किसी को भी धर्म परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

---

1 बी आर नन्दा महात्मा गाँधी, अनविन बुक्स, पृष्ठ 33

2 मोहनदास करमचन्द गाँधी आत्मकथा, अहमदाबाद, पृष्ठ 168

3 बी आर नन्दा महात्मा गाँधी, पृष्ठ 81

गाँधी का दक्षिणी अफ्रीकी प्रवास

बी. आर. नन्दा ने ठीक ही लिखा है कि गाँधी ने जो दक्षिण अफ्रीका के लिये किया वह उससे कम महत्त्वपूर्ण है जो दक्षिण अफ्रीका ने गाँधी के लिए किये। सत्याग्रह का सूत्रपात अफ्रीका में ही हुआ। प्रथम और द्वितीय सत्याग्रह आन्दोलन भी वहीं प्रारंभ हुये। सत्याग्रह का सूत्रपात दक्षिण अफ्रीका में नक्सलवाद के विरुद्ध हुआ। नक्सलवाद का घिनौना रूप इन घृणित नियमों में निहित था[1] -

1. सभी अश्वेतों का अनिवार्य पंजीकरण। इसका आशय यही था कि वे सभी अपराधी लोग हैं।
2. अनिवार्य प्रावधान कि प्रत्येक पंजीकृत अश्वेत की पहचान के लिए उसकी अंगुलियों के निशान लिये जायें।
3. अश्वेतों के घूमने फिरने पर प्रतिबंध — कुछ निश्चित क्षेत्रों से बाहर जाने की मनाही।
4. अश्वेतों को व्यावसायिक लाइसेंस देने के लिए अंगूठे का निशान लेना।
5. पंजीकृत करने से मना करने पर अश्वेतों पर न्यायालय में जाने पर प्रतिबंध।
6. अश्वेतों का सम्पत्ति अधिकार भी अर्थहीन था क्योंकि श्वेत अधिकारियों का निर्णय ही अंतिम था।
7. अश्वेतो को कुछ समय भारत आ जाने पर पुनः अफ्रीका प्रवेश मना किया जा सकता था।
8. श्वेतों और अश्वेतों के निवास स्थान एवं बाजार पृथक् पृथक् थे।
9. अश्वेतों के विवाहों की वैधता एवं मान्यता को नामंजूरी।
10. आर्थिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक गतिविधियों में श्वेतों और अश्वेतो का पृथक्कीकरण।
11. अश्वेत श्रमिकों पर तीन पौंड का शर्मनाक कर।

प्रथम और द्वितीय सत्याग्रह आन्दोलन अफ्रीका मे ही आरंभ किये गये। प्रथम सत्याग्रह आन्दोलन ट्रांसवाल विधायिका द्वारा एशियाटिक रजिस्ट्रेशन बिल के पारित होने और 1 जुलाई 1907 से नये कानून प्रभाव में आने के विरुद्ध था। द्वितीय सत्याग्रह 1908 मे प्रारम्भ हुआ जो करीब चार वर्ष तक चलता रहा। 30 जून 1914 को गाँधी स्मट्स समझौता हुआ जो जुलाई में कानून बना। इसके अनुसार हिन्दू, मुस्लिम, और पारसी विवाद वैध घोषित हुए। नेटाल में रहने वाले मजदूरों पर कर समाप्त कर दिया

1. डी. बी. माथुर : गाँधी, कांग्रेस एण्ड दी अपार्थीड, आलेख पब्लिशर्स, पृ 17.

गया। गाँधी ने इस समझौते को दक्षिण अफ्रीकी भारतीयों के लिए 'मैगनाकार्टा' की संज्ञा दी। उन्होने 'इण्डियन ओपिनियन' मे लिखा कि यदि सत्याग्रह विश्व्यापी बन जाये तो यह सामाजिक आदर्शों में क्रान्ति ला देगा जिससे तानाशाही एवं सैनिक तंत्र से मुक्ति मिलेगी। दक्षिण अफ्रीका से सदा के लिए विदा लेते समय गाँधी ने जनरल स्मट्स के लिए सैंडल की जोडी भेट के रूप में भेजी जिसे स्वयं गाँधी ने जेल मे तैयार की थी। जनरल स्मट्स ने स्वीकार किया कि उन्होने इन सैंडलो को पहना है यद्यपि उन्हें लगता है कि वह इतने बड़े आदमी के जूतों को पहनने के हकदार नहीं हैं।[1] जनरल स्मट्स ने लिखा है कि 'यह मेरा सौभाग्य था कि मुझे ऐसे आदमी का विरोधी होने का सौभाग्य मिला जिसे मैं स्वय बड़े सम्मान से देखता हूँ। उन्होने कभी किसी घटना के मानवीय पक्ष को नहीं भुलाया, कभी क्रोध नही किया और घृणा नहीं की और भयंकर स्थिति में भी विनम्र विनोद बनाये रखा। उनकी शैली और भावना हमारे समय की प्रचलित कठोर एव नृशन्स व्यक्तियो के विपरीत थी।[2] प्रोफेसर गिलबर्ट मरे ने बडे ही रोचक ढंग से लिखा है कि 'ऐसे आदमी से सावधान रहने की आवश्यकता है जिसे इन्द्रिय सुख *नहीं सताते, जिसे न आराम, प्रशंसा एवं न हित सवर्द्धन की परवाह है, लेकिन जो केवल* उस कार्य को करने के लिये कृत संकल्प है जिसे वह ठीक मानता है। वह एक खतरनाक और परेशान कर देने वाला शत्रु है क्योंकि उसके शरीर पर विजय उसकी आत्मा पर प्रभाव नहीं डालती। गाँधी ने जब अफ्रीका छोड़ा तो स्मट्स ने राहत की सांस ली और कहा कि 'सन्त ने हमारे तटो को छोड़ दिया है, मैं आशा करता हूँ कि सदा के लिये।'[3]

दक्षिण अफ्रीका में गाँधी के व्यक्तित्व का निर्माण हुआ। सत्याग्रह और राजनीति से हटकर सोचे तो मालूम होगा कि जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में भी गाँधी को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। टालस्टाय फार्म पर अनेक परीक्षण हुये। प्राकृतिक उपचार, शिक्षा, शरीर, श्रम, सत्याग्रह तकनीक आदि पर चिन्तन मनन अध्ययन हुआ। टालस्टाय फार्म गाँधी के व्यक्तित्व के विकास मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान था और सत्याग्रह के सिद्धान्त और व्यवहार मे इसका विशिष्ट योगदान था। यहाँ के निवासी इतने संयम और कठोर परिश्रम के आदी बन गये थे कि उनके लिए जेल भी कोई कठोर स्थान नहीं हो सकता था। प्रसन्नतापूर्वक कठोर और गरीबी का जीवन जीना, टालस्टाय फार्म की शिक्षा और यह ट्रांसवाल सरकार की संगठित शक्ति के समक्ष समर्पण के स्थान पर विकल्प बन गया।[4]

---

1 डी बी माथुर द्वारा उद्धृत वही पुस्तक।

2 लुई फिशर दि लाइफ ऑफ महात्मा गाँधी, ग्रनाडा, लन्दन पृ 152.

3 लुई फिशर द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 153

4 बी आर नन्दा वही पुस्तक, पृष्ठ 75

दक्षिण अफ्रीका से जब गाँधी भारत लौटे तो वह राष्ट्रीय ख्याति के नेता बन चुके थे जिनकी ख्याति अफ्रीका और भारत दोनों देशों की सीमा पार कर चुकी थी। पच्चीस वर्ष की अल्पायु में गाँधी नेटाल इंडियन कांग्रेस की स्थापना कर चुके थे। वह एशियाई प्रवक्ता के रूप में उभर रहे थे क्योंकि एशियाटिक रजिस्ट्रेशन एक्ट सारे एशियावासियों के लिए कलंक था। उन्हें हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई एवं अन्य सभी लोगों का समर्थन मिल रहा था। वह अफ्रीका में गरीब, अशिक्षित, असहाय, शोषित, स्त्री, पुरुष, बच्चे सभी के संपर्क में आये। यह अनुभव उनके भावी जीवन में दृढ़ आधारशिला बना। उन्होंने सत्याग्रह का परीक्षण किया और निष्कर्ष निकाला कि जन साधारण इसके प्रयोग के लिए बिल्कुल उपयुक्त हैं। गाँधी शायद भारत में यह परीक्षण प्रारंभ नहीं कर सकते थे। गोपाल कृष्ण गोखले, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, फिरोजशाह मेहता, लाला लाजपत राय जैसे दिग्गज नेताओं की उपस्थिति में गाँधी के लिए अपने विशिष्ट सार्वजनिक जीवन में इतनी ख्याति और विशिष्टता अर्जित करना मुश्किल था। दक्षिण अफ्रीका नेतृत्व विहीन देश था जहाँ भारतीयों और अन्य काले लोगों के प्रवक्ता के रूप में गाँधी का उदय अधिक सहज रहा।

गाँधी के जीवन के ये बड़े महत्त्वपूर्ण वर्ष थे जिसमें उनके विचार दृढ़ हुये। महत्वपूर्ण ग्रंथों का अध्ययन भी इन्हीं वर्षों में हुआ। इस अध्ययन ने गाँधी की काया पलट कर दी। रस्किन की 'अन्टु दि लास्ट' ने उन्हें नेटाल से जुलुलैंड के निर्जन वनों की ओर प्रवृत्त किया जहाँ उन्होंने स्वैच्छिक गरीबी का जीवन व्यतीत करना प्रारंभ किया। टालस्टाय का गाँधी पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। आधुनिक राज्य की संगठित हिंसा के विरोध में सविनय अवज्ञा का विचार उन्हें टालस्टाय से मिला। अनेक विचारों में दोनों में सहमति थी। ये आधुनिक सभ्यता, औद्योगीकरण, यौन संबंधो, शिक्षा आदि से संबंधित थे। दोनों में पत्र व्यवहार जारी रहा। हिन्द स्वराज पर जो कि गाँधी ने लन्दन से दक्षिणी अफ्रीका की यात्रा करते हुए 1909 में पत्र लिखे थे टालस्टाय और रस्किन के विचारों की छाप स्पष्ट है।

गाँधी का जीवन दर्शन

इंगलैंड के जाने माने दैनिक पत्र 'मैन्चेस्टर गार्जियन' ने महात्मा गाँधी की हत्या के समय लिखा था कि वह राजनीतिज्ञों में महात्मा और महात्माओं में राजनीतिज्ञ थे। ठीक भी है वह एक पद्धति पूर्ण राजनीतिक विचारक नहीं थे, केवल राजनीतिज्ञ तो उन्हें कहना और भी अनुचित है। राजनीतिक अर्थ में गाँधीवाद जैसी कोई वस्तु नहीं है। वह अपने पीछे कोई 'वाद' नाम की वस्तु नहीं जोड़ना चाहते थे क्योंकि उसमें जटिलता आ जाती है। उनके लिए कोई वस्तु अंतिम न थी, अनुभव एवं सत्य के आधार पर यदि वर्षों तक हुई कोई वस्तु खरी नहीं उतरती तो उसे छोड़ देने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं

थी । उन्हे किसी वस्तु के प्रति भय अथवा लगाव नहीं था । किसी विचारधारा को 'वाद' की सज्ञा देने के कई दुष्परिणाम निकले हैं और वह उनसे सुपरिचित थे । वह अपने पीछे कोई अनुयायी भी छोड कर जाना नहीं चाहते थे । फिर गाँधीवाद जैसी कोई वस्तु इसलिए भी नहीं है कि गाँधी जी पूर्णतया कोई राजनीतिक अथवा आर्थिक विचारक न थे । यथार्थ मे वह एक धार्मिक पुरुष थे, राजनीति मे तो उन्हे परिस्थितियाँ घसीट लाई थी । आधुनिक प्रवृत्ति धर्म को संकीर्ण अर्थ मे समझने की है लेकिन गाँधी जी का दृष्टिकोण व्यापक रहा है । वह धर्म के बिना मानव जीवन को शून्य एवं नीरस समझते हैं । जब वह धर्म का उल्लेख करते थे तो उनका आशय हिन्दू धर्म, इस्लाम अथवा अन्य किसी धर्म से नहीं था, उनका कर्तव्य है जो मानव को दैनिक जीवन मे सतत् प्रेरणा देता रहता है । यह एक दिलचस्प बात है कि धार्मिक गाँधी एक धर्मनिरपेक्ष राज की स्थापना करना चाहते हैं जबकि नास्तिक जिन्ना एक धार्मिक राज्य के जन्मदाता बनते हैं ।

गाँधी के अनुसार मानव का उद्देश्य आत्म साक्षात्कार करना है । यह तबही संभव है जबकि मनुष्य धार्मिक एव नैतिक हो । धार्मिक होने का अर्थ सांप्रदायिक कट्टर या सकीर्ण होना नहीं है । नैतिकता से च्युत होने पर मनुष्य धार्मिक नहीं रह सकता । गाँधी जी के लिए धर्म शब्द बडा व्यापक है । यह कोई दूसरे संसार की वस्तु नहीं बल्कि दैनिक जीवन का आधार तत्त्व है । जो सत्य की खोज मे लगाये, वही सच्चा धर्म है । क्योंकि सत्य ही ईश्वर है । इस प्रकार धर्म ईश्वर के पास पहुँचने का साधन है । दूसरे शब्दो मे, ईश्वर की प्राप्ति अथवा आत्म-साक्षात्कार संसार से अलग रहकर संभव नहीं है । वह भला कैसा धार्मिक प्राणी है जो अपने पड़ोसियो एवं साथियो के दु.ख दर्द से पसीज न उठे । दूसरे का दु.ख मेरा दु.ख है यह समझना ही सच्चा धर्म है । अर्थात् मेरा धर्म दूसरों के प्रति सहानुभूति एवं कष्ट के समय उनकी सक्रिय सहायता करना सिखाता है । वर्तमान परिस्थितियों मे मानव जीवन संकटो से घिरा हुआ है, एक धार्मिक व्यक्ति के लिए तटस्थता अशोभनीय है । उसे समाज सेवा मे संलग्न होना ही पड़ेगा । इस प्रकार उनके धर्म में राजनीति भी आ जाती है, धर्म और राजनीति को पृथक् करना उन्हे उचित नहीं लगता । संक्षेप में, गाँधी के अनुसार धर्म समाज सेवा की प्रेरणा देता है और समाज सेवा से ही आत्म साक्षात्कार अथवा ईश्वर की प्राप्ति संभव है । यह मानव जीवन का उच्चतम लक्ष्य है ।

गाँधी चिन्तन का नैतिक आधार

अपने उच्चतम लक्ष्य तक पहुँचने हेतु मनुष्य को कुछ शाश्वत सिद्धान्तों को जीवन मे उतारना आवश्यक है । ये हैं– सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय, ब्रह्मचर्य । इनको और भी विस्तृत और व्यापक बनाने की दृष्टि से आशय शरीर श्रम, स्वदेशी, अस्पृश्यता निवारण, सर्व धर्म समानत्व एवं विनम्रता और जोड़े जा सकते हैं । ये सारे सिद्धान्त उनकी रोजाना गाई जाने वाली प्रार्थना मे सम्मिलित थे —

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य असंग्रह,
शरीर श्रम, अस्वाद, सर्वत्रभय वर्जन,
सर्वधर्म समानत्व, स्वदेशी स्पर्श भावना,
विनम्र व्रत सेवा से, ये एकादश सेव्य हैं।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात समझने की यह है कि जीवन का कोई भी क्षेत्र क्यों न हो, इन सिद्धांतों के साथ कोई समझौता नहीं हो सकता। राजनीतिक जीवन हो या आर्थिक इन सिद्धान्तों को स्वीकार करना ही होगा। गाँधी जीवन को खंड खंड कर नहीं देखते, यह तो समग्र है जिसके मौलिक सिद्धान्त सर्वग्राही हैं। यह नहीं हो सकता कि नैतिक और राजनीतिक जीवन के सिद्धान्त पृथक् पृथक् हों या परस्पर विरोधी हो, यह नहीं हो सकता कि आर्थिक जीवन और सामाजिक जीवन के नियम भिन्न भिन्न हों। आखिर जीवन का उद्देश्य तो एक ही है और वह है आत्म-साक्षात्कार की प्राप्ति करना। मनुष्य चाहे किसी भी क्षेत्र में हो वह इन मौलिक सिद्धान्तों की उपेक्षा कैसे कर सकता है। आखिर सभी मनुष्यों का जीवन नैतिक होना ही चाहिये, चाहे वह राजनेता, प्रशासक, सांसद, व्यापारी, अधिकारी, समाज सेवक, शिक्षक, वकील, डाक्टर या अन्य कोई भी हो।

सत्य गाँधी के अनुसार सबसे बड़ा धर्म है, केवल सत्य का ही अस्तित्व है, असत्य नाशवान है, माया है जो क्षण मे ही समाप्त हो जाती है और ज्यों ज्यों हम अज्ञान को हटाते जाते है सत्य की ज्योति प्रखर हो उठती है। गाँधी ने इसीलिये सत्य को ही ईश्वर बताया है। उनके लिये सत्य ही ज्ञान है जो कर्म की ओर प्रवृत्त करता है। इस प्रकार गाँधी चिन्तन मे ज्ञान और कर्म जुड़ जाते हैं। सार रूप में, सत्य केवल असत्य न बोलना ही नहीं है बल्कि यह मनुष्य के आन्तरिक और बाह्य जीवन एवं उसकी कथनी और करनी में पूर्ण सामंजस्य है। सत्य का अनुसरण सामान्य व्यक्ति भी कर सकते हैं और इसका किसी धर्म विशेष से कोई संबंध नहीं है।

सत्य यदि साध्य है तो अहिंसा उस तक पहुँचने का सबसे बड़ा साधन है। अहिंसा मानव समाज का सबसे बड़ा नियम है, जिस प्रकार हिंसा हिंसकों का नियम। अहिंसा का नियम समूचे विश्व के लिए लागू हो सकता है तथा इसकी प्राप्ति सत्य के अन्वेषण के मार्ग में हुई है। सत्य की भाँति अहिंसा की शक्ति भी प्रचण्ड है एवं वह ही ईश्वर का पर्यायवाची है। अहिंसा भय मुक्त करती है। प्रथम, अहिंसा शक्तिशाली लोगों की अहिंसा है जिन्होंने इसे जीवन के दर्शन के रूप में अंगीकार किया है। द्वितीय, अहिंसा वह है जिसे मनुष्य परिस्थितियों अथवा आवश्यकताओं के अनुरूप स्वीकार करते हैं। तृतीय प्रकार की अहिंसा कायरों एवं नपुंसकों की है। प्रथम प्रकार की अहिंसा सर्वश्रेष्ठ है और तीसरे प्रकार की निकृष्टतम है।

अपरिग्रह से ही ट्रस्टीशिप का दर्शन निकलता है। साधारण दैनिक आवश्यकताओं से अधिक भौतिक पदार्थ का सग्रह न करना ही अपरिग्रह अथवा असग्रह है। फिर उस साधारण सग्रह पर भी अपना स्वामित्व न मानकर समाज अथवा ईश्वर का स्वामित्व स्वीकार करना भी इसके अन्तर्गत सम्मिलित है।

चूँकि ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनो की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण है, साम्यवाद और पूँजीवाद की बुराइयो के बीच एक विकल्प है, अत. इसके मुख्य बिन्दुओ पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है। ये बिन्दु इस प्रकार उभर कर आते हैं —

1 जिनके पास जो सम्पत्ति अथवा धन है वह समाज का है और वे उसके स्वामी न होकर सरक्षक हैं।

2 यदि मेरे पास पैतृक या व्यापार द्वारा अर्जित सम्पत्ति है तो मुझे यह अहसास होना चाहिए कि यह सारी सम्पत्ति मेरी नहीं है, मेरी तो सम्पत्ति उतनी सी है जिससे मै सम्मानपूर्वक जीवन जी सकूँ। यह जीवन उनसे वैभवपूर्ण नही हो जो अन्य लाखो लोग जी रहे हैं। मेरे धन का शेष भाग समाज का है और इसे समाज के लिए ही काम मे लिया जाना चाहिये।[1]

3. सारी सम्पदा समाज की है और जो समाज उसको आवश्यकतानुसार जीवित रहने के लिए उपलब्ध कराता है। जन्म के साथ ही बच्चे की सामाजिक सम्पदा मे भागीदारी बन जाती है क्योकि उनका जन्म उसके दोष के कारण नहीं हुआ है।

4 एक ट्रस्टी को अपनी योग्यता के मुताबिक खूब मेहनत करके ट्रस्ट की सम्पत्ति को बढाना चाहिये, लेकिन उसे इस सम्पत्ति का अपने लिये न्यूनतम प्रयोग करना चाहिये जो उसके लिये अत्यन्त आवश्यक हो।

5 यद्यपि गाँधी राज्य के माध्यम से किसी सामाजिक परिवर्तन के विरुद्ध थे क्योंकि राज्य हिंसा पर आधारित है और वह परिवर्तन असली नहीं होगा। लेकिन फिर भी सम्पत्ति संबंधो को महत्त्व देते हुए उन्होने राज्य का माध्यम भी स्वीकार कर लिया। उन्ही के शब्दों, मे 'मुझे प्रसन्नता होगी यदि लोग ट्रस्टियो की तरह खर्च करेगे और यदि उन्होने ऐसा नहीं किया तो हमें राज्य द्वारा कम से कम हिंसा का प्रयोग कर सम्पत्ति से वचित करना पड़ेगा।[2]

6 यह स्पष्ट है कि गाँधी सम्पत्ति पर समाज का अधिकार मानते हैं और न कि व्यक्ति का। व्यक्तिगत स्वामित्व के स्थान पर सार्वजनिक स्वामित्व पर उनका जोर है,

---

1-2 हरिजन, 3 6 1939

लेकिन यह राज्य नियंत्रित नहीं है।

7. गाँधी ने इस सिद्धान्त को नैतिक और आर्थिक जामा भी पहनाया। उन्होने कहा कि सारी सम्पत्ति ईश्वर की है और व्यक्ति उसका उपयोग न्यूनतम आवश्यकता के अनुरूप करे।

8. ट्रस्टीशिप कोई दर्शन नहीं है, यह तो जीवन का एक तौर तरीका है, यह जीवन का मूल्य है, एक मानसिक प्रवृत्ति है। ट्रस्टी स्वभाव और विश्वास में ट्रस्टी होना चाहिये जिसे असग्रह प्रिय हो, भौतिक पदार्थों में जिसकी रुचि न हो।

गाँधी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को लेकर अनेक चर्चायें हुई हैं, साम्यवादियों ने तो यहाँ तक कह दिया कि यह छद्मवेश में पूँजीवाद को संरक्षण देने वाला सिद्धान्त है। इस पर यथास्थान चर्चा की जायेगी। यहाँ इस सिद्धान्त को और भी अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से एक मसविदे का जिक्र किया जा रहा है जिसे स्वयं गाँधी जी ने संशोधित किया था। इस मसविदे को प्रोफेसर दांतवाला ने तैयार किया था और इसे किशोरीलाल मश्रुवाला एवं नरहरि पारीख ने गाँधी जी के समक्ष प्रस्तुत किया था। इसका संशोधित स्वरूप इस प्रकार है[1] –

1. ट्रस्टीशिप वर्तमान पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था को समता मूलक व्यवस्था मे बदलने का साधन है। यह पूँजीवाद को कहीं बढ़ावा नहीं देता बल्कि वर्ग को सुधारने का अवसर प्रदान करता है। यह इस विश्वास पर आधारित है कि मानव स्वभाव कभी भी सुधार से परे नहीं है।

2. समाज द्वारा अपने हित मे कृत सम्पत्ति के अलावा यह सम्पत्ति के निजी स्वामित्व के अधिकार को स्वीकृत नहीं करता।

3. यह विधायिका द्वारा सम्पत्ति के स्वामित्व एवं धन के उपयोग संबंधी कानून निर्माण के विरुद्ध नहीं है।

4. राज्य नियंत्रित ट्रस्टीशिप के अन्तर्गत व्यक्ति अपने धन का उपयोग अपनी स्वार्थमय तृप्ति या सामाजिक हित के विपरीत नहीं करेगा।

5. जिस प्रकार एक अच्छे जीवन के लिये न्यूनतम मजदूरी की बात की जाती है, वहीं अधिकतम आय भी निश्चित होनी चाहिये। न्यूनतम और अधिकतम में अंतर उचित चाहिये और धीरे धीरे यह भी कम होता जाना चाहिये।

6. गाँधीवादी आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक आवश्यकता के आधार पर

---

1 प्यारेलाल : महात्मा गाँधी, दि लास्ट फेज, पृष्ठ 633-34

उत्पादन निश्चित होना चाहिये न कि व्यक्तिगत इच्छा अथवा लालच के कारण।

सार रूप मे, यह कहा जा सकता है कि ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त उस नैतिक जीवन से जुड़ा हुआ है जिसके अन्य सिद्धान्तो मे अहिंसा, स्वराज और समानता जुड़े हुये हैं। गाँधी का स्पष्ट मत है कि अहिंसा पर आधारित समाज के लिए आर्थिक क्षेत्र मे ट्रस्टीशिप के अलावा कोई विकल्प ही नहीं है। हमारा जितना अहिंसा से लगाव होगा उतना ही अधिक हम ट्रस्टीशिप की ओर बढ़ेगे। गाँधी[1] ने स्पष्ट किया कि जिस सीमा तक हम धन के समान बँटवारे की ओर बढेंगे उतना ही हम सन्तोष और आनन्द प्राप्त करेंगे और उसी सीमा तक हमारा एक अहिंसक समाज के निर्माण मे योगदान होगा। सार यह है कि ट्रस्टीशिप कोई अलग-थलग सिद्धान्त नहीं है, यह अहिंसा, स्वदेशी, समान वितरण और स्वराज से जुड़ जाता है।

यहाँ यह लिखना भी अनुचित नहीं होगा कि व्यावहारिक धरातल पर किसी भी पूँजीपति ने इसे स्वीकार नहीं किया। गाँधी के निकटतम उद्योगपतियों मे घनश्यामदास बिड़ला थे जिन्हें उपर्युक्त मसविदा दिखा दिया गया। बिड़ला ने कहा कि अन्य पूँजीपतियों को भी यह मसविदा दिखा दिया जाये। अन्य पूँजीपतियो ने इसे देखा अथवा नहीं इसके बारे मे विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। स्वयं घनश्यामदास बिड़ला ने इस संबंध में कोई उत्तर नहीं दिया।[2] इससे स्पष्ट है कि ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त व्यवहार मे नहीं उतारा जा सका। जैसा कि पहले भी संकेत दिया जा चुका है कि वामपंथियों ने गाँधी पर आरोप लगाया है कि इसकी आड़ मे उन्होने पूँजीपतियो को संरक्षण दिया है। वामपंथी लेखकों एवं अन्य कुछ विचारकों का मत है कि भारत का उद्योगपति देश की स्वतंत्रता मे रुचि इसलिये नहीं ले रहा था कि वह देश भक्त था, जनतंत्रवादी था बल्कि इसलिये कि स्वतंत्र भारत में उसका यूरोपियन चेम्बर ऑफ कामर्स से प्रतिस्पर्द्धा नहीं रहेगी और भारतीय अर्थव्यवस्था पर उसका एक छत्र वर्चस्व स्थापित हो जायेगा।

गाँधी जी द्वारा अन्य प्रतिपादित सिद्धान्त इतने चर्चित हैं कि उनके विस्तार मे जाने की आवश्यकता नहीं है। उनके आश्रम मे रोजना की जाने वाली प्रार्थना में उनके चिन्तन के नैतिक ढाँचे का वर्णन है। यह प्रार्थना इस प्रकार है — अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असंग्रह, शरीर श्रम, अस्वाद, सर्वत्र भय वर्जन, सर्वधर्म समानत्व, स्वदेशी, स्पर्श भावना, विनम्र व्रत, सेवा, ये एकादश सेवा है।

अस्तेय से आशय केवल उस वस्तु को उसके स्वामी की आज्ञा के बिना लेना ही नहीं बल्कि किसी ऐसी वस्तु जिसकी आवश्यकता न हो तथा भविष्य में काम में

---

1 हरिजन अगस्त 25, 1940

2. प्यारेलाल वही पुस्तक, पृ 634

आने वाली वस्तु की व्यर्थ चिन्ता भी है। आवश्यकता से अधिक संग्रह ही चोरी है। ब्रह्म की ओर ले जाने वाली वस्तु ब्रह्मचर्य है। मनसा, वाचा और कर्मणा पवित्र हुये बिना ब्रह्मचर्य असम्भव है। मस्तिष्क पर नियंत्रण किये बिना शरीर का व्यर्थ का दमन हानि कारक है। शरीर श्रम का सिद्धान्त गाँधी के अनुसार आर्थिक विषमता, अतिसंग्रह आदि सामाजिक बुराइयों को दूर रखता हुआ शरीर और आत्मा दोनों को ही स्वस्थ रखता है। गाँधी जी के शब्दों में, मुझे गलत न समझा जाय। मैं बौद्धिक श्रम के मूल्य की अवगणना नहीं करता हूँ। लेकिन बौद्धिक श्रम कितनी ही मात्रा में क्यों नहीं किया जाये उससे शरीर-श्रम की थोड़ी भी क्षतिपूर्ति ही होती, जो कि हममें से प्रत्येक की भलाई के लिये करने को पैदा हुआ है। बौद्धिक श्रम शरीर श्रम से श्रेष्ठ हो सकता है, प्राय: होता भी है, लेकिन वह शरीर-श्रम का स्थान कभी नहीं लेता और न कभी ले सकता है।[1] शरीर श्रम का सिद्धान्त अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमे श्रम की प्रतिष्ठा निहित है। प्राय: शारीरिक श्रम करने वाले को समाज में हीन भावना से देखा जाता है जबकि मानसिक कार्य करने वाला ऊँचा आदमी माना जाता है। गाँधी इस धारणा के विरुद्ध यह सिद्ध करना चाहते हैं कि काम शारीरिक हो अथवा मानसिक सब बराबर हैं। शरीर श्रम के सिद्धान्त से सामाजिक समानता की भावना का संचार होता है। यह भी अर्थ निकलता है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिये चाहे वह समाज में किसी भी पद पर आरूढ़ क्यों न हो, उसके लिये शरीर श्रम आवश्यक है क्योंकि सभी मनुष्य एक ही धरातल पर होते हैं, समाज में सभी कार्य समान हैं और कार्य करने के अनुसार कोई छोटा या बड़ा नहीं होता। शरीर श्रम के सिद्धान्त के प्रतिपादन में गाँधी रस्किन से प्रभावित मालूम होते हैं। रस्किन का कथन यह है कि एक वकील और एक नाई के वेतन में कोई अंतर नहीं होना चाहिये। गाँधी भी यही कहते हैं कि एक भंगी और प्रधान मंत्री को एक सा ही वेतन मिलना चाहिये। स्वयं गाँधी जी के शब्दों में इस बात को और भी स्पष्ट किया जा सकता है। उनके अनुसार 'अगर शरीर श्रम के इस निपवाद कानून को सब मानें तो ऊँच-नीच का भेद मिट जाय। पहले जहाँ ऊँच-नीच की गंध भी नहीं थी वहाँ भी यह वर्ण-व्यवस्था में भी घुल गई है। मालिक मजदूर का भेद सामान्य और स्थायी हो गया है और गरीब धनवान से जलता है। अगर सब रोटी के लिये मजदूरी करें तो ऊँच-नीच का यह भेद न रहे और फिर भी अगर धनिक वर्ग रहेगा तो वह खुद को धन का मालिक नहीं, बल्कि उसका ट्रस्टी या संरक्षक मानेगा और उसका ज्यादातर उपयोग सिर्फ लोगों की सेवा के लिए ही करेगा जिसे अहिंसा का पालन करना है, सत्य की भक्ति करनी है, ब्रह्मचर्य को कुदरती बनाना है, उसके लिए तो शरीर की मेहनत राम-बाण सी हो जाती है। अगर

1 रवीन्द्रनाथ मुकर्जी द्वारा उद्धृत, सामाजिक विचारधारा, काम्टे से गाँधी तक, सरस्वती सदन मंसूरी, पृष्ठ 419

हर एक आदमी अपने पसीने की कमाई पर रहे तो दुनिया स्वर्ग बन जाय।'[1]

अस्वाद का अर्थ है कि भोजन का उद्देश्य स्वाद नहीं बल्कि स्वास्थ्य एवं जीवन रक्षा है, यह तो शब्दार्थ हुआ, लेकिन इसका व्यापक अर्थ यह है कि किसी कार्य को कर्तव्य एवं अनासक्ति भाव से ही किया जाना चाहिए। भयमुक्त होना भी अत्यन्त आवश्यक है। यह एक व्रत है। भयग्रस्त व्यक्ति जीवन के वास्तविक आनन्द से वंचित ही रहता है। सच्ची स्वतंत्रता का उपभोग तब ही सम्भव है जबकि मनुष्य भयमुक्त हो। अस्पृश्यता निवारण का तो भारतीय सन्दर्भ में अत्यन्त महत्त्व रहा है। सदियों से अस्पृश्य कहे जाने वाले वर्ग को सामाजिक मुख्य धारा से जोड़ने का एक बड़ा साहसिक एवं क्रान्तिकारी कदम था। अस्पृश्यता निवारण सामाजिक समानता के लिए आवश्यक है। गाँधी के अनुसार चूँकि हम सभी एक ईश्वर की सन्तान हैं। अतः ऊँच-नीच का भाव रखना ही ईश्वर और समाज के प्रति अन्याय है। सर्वधर्म समानत्व का विचार भी अनूठा है। गाँधी ने 1934 में लिखा, 'मैं विश्व के सभी धर्मों की नैतिक एकता में विश्वास करता हूँ और उनका मूल तत्त्व एकता है और वे सभी एक दूसरे के लिए सहायक हैं।'[2] उनका मानना है कि सभी धर्मों का मुख्य उद्देश्य तो अन्तर्मन को जगाना है और इस अर्थ में सभी समान हैं। भारत में धर्म के नाम पर कितना रक्तपात हुआ है, यह सब विवेक शून्य होने के कारण है। स्वदेशी का व्रत भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गाँधी के पूर्व लोकमान्य तिलक ने स्वदेशी पर जोर दिया था। अरविन्द ने भी इसे महत्त्व दिया है। गाँधी के अनुसार स्वदेशी का व्रत हमें कट्टर राष्ट्रवादी नहीं बनाता बल्कि अपने आस-पास की वस्तुओं के प्रति प्रेम करना सिखाता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व इसका आर्थिक महत्त्व भी था। गाँधी जी के अनुसार स्वदेशी हमारे अन्दर की भावना है, जिससे आत्म विश्वास जगता है और हमारा परिवेश से नाता जुड़ता है। गाँधी ने स्वदेशी की भावना को राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक दोनों पक्षों से जोड़कर इसके महत्त्व को समझाया है। स्वदेशी की भावना ही मुझे अपने धर्म में बने रहने की प्रेरणा देती है। गीता में भी कहा गया है कि 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर धर्मो भयावहः।' इसका मतलब यह भी नहीं है कि मेरा धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है और दूसरे धर्म निकृष्ट हैं। इसका अर्थ यह भी नहीं लगाया जाना चाहिये कि मेरा धर्म खराब होने के कारण त्याज्य है और दूसरा धर्म श्रेष्ठ होने के कारण स्वीकार करने योग्य है। मेरे धर्म में खराबियाँ हो सकती हैं लेकिन इसमें परिवर्तन करना आवश्यक है, इन्हें दूर करने का प्रयास आवश्यक है। जितना मैं अपने धर्म का आदर करता हूँ उतना ही मुझे अन्य धर्मों का आदर करना चाहिये। सभी

---

1. हीरेन्द्रनाथ मुखर्जी द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 419
2. फरवरी 16, 1915 को मिशनरी कांफ्रेंस मद्रास में दिये गये भाषण से उद्धृत, स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ एम. के. गांधी मद्रास, नटेसन द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 311-317

धर्म मानवता की पवित्र धरोहर हैं, उनमें न कोई छोटा है और न कोई बड़ा। उन्होंने ईसाइयों को संबोधित करते हुए कहा कि 'माउन्ट सिनाई पर सर्मन' को मैं उतना ही महत्त्व देता हूँ जितना कि भगवद् गीता को, लेकिन मुझे इस 'सर्मन' का आनन्द लेने के लिए ईसाई होने की आवश्यकता नहीं है और एक ईसाई को गीता का ज्ञान ग्रहण करने के लिए हिन्दू होने की आवश्यकता नहीं है। बलात् धर्म कराना तो एक कुठित अधार्मिक कृत्य है जिसका किसी भी धर्म की मूल भावना से मेल नहीं खाता।

राजनीतिक दृष्टि से भी स्वदेशी का बड़ा महत्त्व है। मैं यह नहीं कहता कि धर्म का राजनीति से कोई संबंध नहीं है। राजनीति को धर्म से पृथक् करते ही यह मुर्दे के समान है जिसे गाड दिया जाना चाहिये। स्वदेशी की भावना हमें स्थानीय संस्थाओं और ग्राम पचायतो से जोडती है। भारत वास्तव में एक गणतंत्रीय देश है और इनकी वजह से ही यह अनेक थपेड़े खाकर भी जीवित है। स्वशासन की दिशा में स्वदेशी एक बहुत बड़ा कदम है। आर्थिक और औद्योगिक जीवन में व्यापक प्रभाव है। स्वदेशी को न मानने के कारण ही तो भारत की यह दुर्गति हुई है। यदि हम स्वदेशी को अब भी स्वीकार कर ले तो भारत की विदेश जाने वाली पूँजी बच सकती है। स्वदेशी एक जीवन शैली है, जीवन का धर्म है, यह दरिद्र नारायण का जीविकोपार्जन है। विनम्रता मानव का एक अत्यन्त आवश्यक गुण है। एक सत्याग्रही के लिए तो यह अत्यन्त आवश्यक है। जिसमे अहंभाव है वह सत्य के नजदीक नहीं पहुँच सकता, विनम्रता अन्दर से आती है, बाह्य आडम्बर से इसका कोई संबंध नही है। सच्ची विनम्रता मानवता की सेवा मे संलग्न रहने में ही निहित है।

सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा और निष्क्रिय प्रतिरोध

अन्याय पर आधारित व्यवस्था और इसके संचालन से अहिंसक तरीके से लड़ने के ये महत्त्वपूर्ण हथियार सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा और निष्क्रिय प्रतिरोध हैं। ये प्रभावशाली प्रविधियाँ हैं, लेकिन इनके मूल मे अहिंसा है जिसे किसी भी कीमत पर नहीं छोड़ा जा सकता। गाँधी के लिए अहिंसा और प्रेम एक ही वस्तु के दो नाम हैं, सकारात्मक अर्थ में अहिंसा सबसे बड़ा प्रेम और उत्सर्ग है। शार्प ने अपनी पुस्तक 'दि पॉलिटिक्स ऑफ नानवाइलेंस एक्शन' में अहिंसा के सिद्धान्त और व्यवहार की विस्तृत समीक्षा की है। शार्प के अनुसार अहिंसक कार्यवाही को मोटे तौर पर तीन भागों में बाँटा जा सकता है– अहिंसक असहयोग, अहिंसक विरोध एवं अनुनय तथा अहिंसक हस्तक्षेप। संक्षेप में गाँधी के दर्शन के तीन अभिन्न अंग हैं– सत्य, अहिंसा और आत्मोत्सर्ग। ये तीनो ही एक दूसरे से इतने जुड़ गये हैं कि इन्हें पृथक् करना ही संभव नहीं है। केवल हिंसा से मुक्ति ही अहिंसा नहीं है, यह तो निःस्वार्थ का चरमोत्कर्ष है, यह तो आत्मोत्सर्ग की पराकाष्ठा है। यह तो सर्वोत्कृष्ट प्रेम की अभिव्यक्ति है।

स्वयं गाँधी जी के ही शब्दो[1] मे, आज के इस पाशविक शक्ति के युग में यह असभव सा लगता है कोई इसे अस्वीकार कर दे। मुझे लोग कहते हैं कि अंग्रेज हिंसा के अतिरिक्त और किसी के समक्ष झुकेगे ही नहीं। मैं यह मानता हूँ कि जहाँ कायरता और हिंसा मे से एक को चुनना हो तो मैं हिंसा को चुनने की सलाह दूँगा। जब मेरे ज्येष्ठ पुत्र ने मेरे से पूछा कि उसे क्या करना चाहिये था यदि वह मौजूद होता जबकि 1908 मे मैं बुरी तरह घायल कर दिया गया था। उसका प्रश्न था क्या उसे भाग जाना चाहिये था या मुझे मरता हुआ देखता रहता अथवा शारीरिक शक्ति के द्वारा मुझे बचाता। मेरा उत्तर यह था कि उसका हिंसा के प्रयोग द्वारा मेरी रक्षा करना उसका कर्तव्य था। मैंने भी बोअर युद्ध, तथाकथित जुलुम विद्रोह एवं युद्ध मे भाग लिया था। अतः मैं उन्हे हथियारो के प्रशिक्षण देने की बात भी कहता हूँ जिसका हिंसा मे विश्वास है। मैं चाहूँगा कि सम्मान की रक्षा हेतु भारत चाहे हथियारो का प्रयोग करले बजाय इसके कि वह कायर या असहाय बना रहकर अपमानित होता जाय।

लेकिन मैं यह मानता हूँ कि अहिंसा हिंसा से कहीं अधिक प्रभावशाली और श्रेष्ठ है, क्षमाशीलता दण्ड से अधिक मानवोचित है। क्षमाशीलता योद्धा का आभूषण है लेकिन यह तब ही गौरव मंडित होती है जबकि दण्ड देने की शक्ति हो, यह अर्थहीन है यदि दुर्बल क्षमाशील होने का ढोंग रचता है। लेकिन शक्ति केवल शारीरिक ही नहीं होती, इसका उद्‌गम दृढ़ इच्छा शक्ति में है। मैं स्वप्नदृष्टा नही हूँ, मैं व्यावहारिक आदर्शवादी होने का दावा करता हूँ। अहिंसा का धर्म केवल ऋषि मुनियो के लिए नही है, यह सामान्य जन के लिये भी है। इसानो का कानून अहिंसा है जिस प्रकार एक पशु का धर्म हिंसा है। पशु मे भी आत्मिक शक्ति होती है लेकिन उसे शारीरिक शक्ति के अलावा इसका आभास नहीं होता। मानव की गरिमा उच्च विधि की अनुपालना मे निहित है और वह आत्म शक्ति, यदि भारत तलवार का रास्ता अपनाता है तो हो सकता है कि उसे क्षणिक विजय प्राप्त हो जाय। लेकिन तब भारत मेरे गौरव की वस्तु नही रह जायेगा। मैं मानता हूँ कि भारत का विश्व को एक सदेश है। उसे यूरोप का अन्धानुकरण नहीं करना है। मेरा जीवन अहिंसा के माध्यम से भारत की सेवा करना है जो कि मेरे विचार मे हिन्दू धर्म का भी मूलाधार है।'

चूँकि सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा एवं निष्क्रिय प्रतिरोध की पृष्ठभूमि में अहिंसा है अत. अहिंसा की अवधारणा को कुछ विस्तार के साथ स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत हुआ। अब सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा एवं निष्क्रिय प्रतिरोध की अवधारणाओं को स्पष्ट करने के पूर्व *किंग मार्टिन लूथर का एक वक्तव्य प्रासंगिक प्रतीत होता है। मार्टिन लूथर*

---

1 यंग इंडिया, 1919-1922 (मद्रास 1992) पृ 259-63 से नानदानेंम एज ए डागमा, पोलिसी एण्ड निगिन का सार्ड उद्धृत।

ने कहा कि 'दूसरे देशों मे तो मैं टयूरिस्ट के रूप में जाता हूँ लेकिन भारत में मैं एक तीर्थ यात्री के रूप में आता हूँ। उस भारत का अर्थ महात्मा गाँधी है जो समस्त युगों के एक वास्तविक महान पुरुष हैं। महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि भारत वह देश है जहाँ सामाजिक परिवर्तन की अहिंसक तकनीक विकसित हुई जिन्हें हमारे लोगों ने मांटिगुमरी, अलाबामा एवं दक्षिणी अमेरिका में अन्यत्र काम में लिया है। ये तकनीक प्रभावशाली एवं स्थाई लगी। ये कारगर साबित हुई।'[1] रविराय[2] लिखते हैं कि बर्लिन के नवीनतम म्युजियम में गाँधी जी के सम्मान में स्थापित उनकी विशाल भव्य मूर्ति के पास एलबर्ट आइन्स्टीन का यह उद्धरण लिखा हुआ है कि 'आगामी पीढ़ियाँ मुश्किल से ही यह विश्वास करेंगी कि ऐसे हाड मांस का पुतला कभी इस पृथ्वी पर भी चलता था। 'वहाँ दो और गाँधी जी के वक्तव्य उद्धृत किये हुये हैं, । उनमें एक यह है कि 'सत्याग्रह वह हथियार है जो चुपचाप काम करता है और सबको ऐसा लगता है कि यह धीरे-धीरे काम करता है वस्तुत: ऐसा कोई दूसरा हथियार नहीं है जो इतना प्रत्यक्ष और तेजी से काम करता हो।' दूसरा है कि राजनीतिक शक्ति के रूप में अहिंसक प्रतिरोध अभी शैशवावस्था में ही है, इसकी क्षमताओं का अभी पूरा पता नहीं चला है, जनता का अभी इधर रुझान नहीं हुआ है और मीडिया ने अभी इसे भली प्रकार प्रचारित नहीं किया है। 'इनके अतिरिक्त वहाँ यह भी लिखा हुआ है कि तानाशाही शक्तियों, शस्त्रीकरण एवं नौकरशाही की हठधर्मिता के विरुद्ध अहिंसा की शक्ति निरन्तर बढ़ती जा रही है। किसी भी प्रकार की हिंसा के विरुद्ध यह अत्यन्त शक्तिशाली एवं प्रभावशाली शक्ति है। वहाँ गाँधी जी के कुछ चित्र भी प्रदर्शित किये गये हैं जिनमें मेन्चेस्टर टेक्सटाइल वर्कर्स, ब्रिटिश हाउस ऑफ कामन्स को दिया गया भाषण, स्वदेशी समाज के लिये की गई उनकी अपील एवं ब्रिटिश काल की होली, डांडी कूच एवं 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन से संबंधित चित्र प्रमुख हैं।'

सत्याग्रह की अवधारणा का सूत्रपात

गाँधी जी द्वारा लिखित 'ग्रीवेन्सेज ऑफ ब्रिटिश इंडियन्स इन साउथ अफ्रीका' में अन्याय के विरुद्ध जिस शैली का जिक्र किया उसे बाद में जाकर सत्याग्रह कहा गया। उन्होंने इसमे यही लिखा कि 'दक्षिणी अफ्रीका मे हमारी शैली प्रेम से घृणा को जीतने की है। हम व्यक्तियों को दण्डित नहीं करना चाहते बल्कि सिद्धान्ततः उनके हाथों यातनायें भोगना चाहते हैं।'[3] गाँधी ने प्रारंभ मे इसे 'पैसिव रेजिस्टेन्स' कहा और इसका

1-2 रविराय द्वारा उद्धृत, थेमा डिड दी गो रोंग, इन क्वेस्ट ऑफ एन आल्टरनेटिव, पोलिटिक्स इण्डिया, देहली, पृ 12

3 दि पब्लिकेशन्स डिविजन, मिनिस्ट्री ऑफ इन्फार्मेशन एण्ड ब्रोडकास्टिंग, गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया, 1958-89 भाग 6 पृ 48

अर्थ समझाया। हिन्द स्वराज्य[1] मे गाँधी ने लिखा है कि 'सत्याग्रह या आत्मबल को अंग्रेजी मे पैसिव रेजिस्टेन्स' कहते हैं। यह शब्द उस तरीके के लिए व्यवहार मे किया गया है जिसमे अपने हक पाने के लिए लोगो ने खुद कष्ट उठाया है। यह शस्त्रबल का उल्टा है। मुझे जो काम पसन्द न हो उसे मैं न करूं तो मैं सत्याग्रह या आत्मबल से काम लेता हूं। मिसाल के लिए मान लीजिये सरकार ने एक कानून बनाया जो मुझ पर लागू होता है। वह मुझे पसंद नहीं है। अब मैं अगर सरकार पर हमला करके उसे वह कानून रद्द करने को मजबूर करू तो मैंने शरीरबल से काम लिया। पर मैं उस कानून को मंजूर ही न करू और उसे न मानने की जो सजा मिले उसे खुशी से भुगत लूं तो मैंने आत्मबल से काम लिया अथवा सत्याग्रह किया। सत्याग्रह मे अपनी ही बलि देनी होती है।

इस बात को तो सभी स्वीकार करेंगे कि पर बलि से आत्म बलि कहीं ऊँची चीज है। फिर सत्याग्रह की लडाई अगर न्यायसगत न हो तो केवल लडने वाले को ही कष्ट उठाना पडता है। यानी अपनी भूल की सजा वह खुद ही भुगतता है, दूसरो को उसका दड नहीं भोगना पडता। ऐसी घटनाये कितनी ही हो चुकी हैं जिनमे लोग नाहक दूसरों से लडे-झगडे। कोई भी आदमी निशंक होकर नहीं कह सकता कि अमुक काम खराब ही है। पर जब तक वह उसे खराब लगता है तब तक उसके लिए तो वह खराब ही है। ऐसी दशा मे वह काम न करना और इसके बदले मे वह जो दु.ख मिले उसे भोग लेना यही सत्याग्रह की कुंजी है।'

सत्याग्रह के दर्शन के मूल में यह धारणा निवास करती है कि इस विश्व में केवल सत्य का ही अस्तित्व है और यही सत्य चिन्तन है और विकास की ओर ले जाता है। हमारे प्राचीन शास्त्रो में सत्य के विपरीत शक्तियों का दमन करने के लिए धर्म-युद्ध की बात कही गई है जिसे केवल अवतार ही धरातल पर आकर लड़ते हैं। गाँधी जी ने धर्म युद्ध की बात को तो स्वीकार किया लेकिन युद्ध को अहिंसक बना दिया। स्वयं उन्हीं के शब्दो मे सत्याग्रह का अर्थ सत्य से लगे रहना या आत्मिक शक्ति को धरातल पर ले जाना और इसके द्वारा विरोधी को गलत रास्ते से ठीक रास्ते पर लाना है। सत्याग्रह मे हिंसा का प्रवेश होते ही यह समाप्त हो जाता है। सत्याग्रह आत्म शुद्धि की लडाई है। यह धार्मिक युद्ध है, धर्म करने का आरंभ शुद्धि से करना ठीक मालूम देता है।[2] सत्याग्रह का मूल मंत्र यही है कि सत्याग्रही स्वयं कष्ट उठाये, विरोधी को यातना न दे। सत्याग्रह की सफलता सत्ता द्वारा अधिकाधिक दमन के कारण भारी यातना भोगने मे निहित है।[3] अपनी आत्मिक शक्ति से विरोधी पर विजय प्राप्त करे। सत्याग्रही का

1 मोहनदास करमचन्द गाँधी हिन्द स्वराज्य, सस्ता साहित्य प्रकाशन पृष्ठ 84-85

2 गाँधी आत्मकथा, पृ 378

3 यंग इंडिया, 8 मई, 1930

उद्देश्य अन्यायी को दबाना नहीं होता है बल्कि उसका हृदय परिवर्तन करना होता है। पुन. गाँधी जी के शब्दों में, 'वह व्यक्तिगत कष्ट सहन के द्वारा अधिकार प्राप्ति का एक तरीका है। यह शस्त्रों के द्वारा मुकाबला करने का उल्टा है। सत्याग्रह सब धारों वाली तलवार है जिसका किसी तरह भी प्रयोग किया जा सकता है। जो इसका प्रयोग करता है वह दोनों का कल्याण करता है। खून की एक बूँद बहाये बिना यह दूरगामी परिणाम पैदा करता है।[1] उनके अनुसार सत्याग्रह केवल सरकार के विरुद्ध ही नहीं किया जा सकता, वह किसी अन्याय के विरुद्ध भी किया जा सकता है'।[2]

सत्याग्रही के गुणों में यह आवश्यक है कि वह सहिष्णु हो। उसके हृदय में प्रेम और पूर्ण सहिष्णुता होनी चाहिये ताकि अन्य व्यक्ति बिना किसी भय के उसकी आलोचना भी कर सके। सहिष्णु होने के साथ ही साथ उसे बहादुर भी होना चाहिए। गाँधी जी के ही शब्दों में 'नामर्द कभी सत्याग्रही हो ही नहीं सकता, इसे पक्का समझिये। हाँ, यह सही है कि देह से दुबला पतला आदमी भी सत्याग्रही हो सकता है। सत्याग्रह एक आदमी भी कर सकता है और लाखों आदमी मिलकर भी। सत्याग्रही को फौज खड़ी करने की जरूरत नहीं पड़ती। कुश्ती से कला सीखने की जरूरत भी नहीं होती। उसने अपने मन को वश में किया कि वह फिर वनराज सिंह की तरह दहाड़ सकता है और उसकी गर्जन जो लोग उसके दुश्मन बन बैठे हों उनका कलेजा कंपा देती है।[3]

सत्याग्रही के अन्य गुणों में भय रहित होना, शरीर श्रम में निष्ठा रखना, स्वदेशी से प्रेम, अस्पृश्यता निवारण, विनम्रता और सर्वधर्म समानत्व में मनसा, वाचा, कर्मणा विश्वास करना भी आवश्यक है।

सत्याग्रह की प्रविधियाँ

गाँधी जी ने सत्याग्रह को एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में काम में लिया। जिन रूपों में उन्होंने सत्याग्रह का प्रयोग किया उनमें निम्नलिखित मुख्य हैं —

1. असहयोग

असहयोग के नकारात्मक एवं सकारात्मक दोनों ही पहलू हो सकते हैं। गाँधी जी के शब्दों में बुराई से असहयोग करना भलाई से सहयोग करने के बराबर है, लेकिन अहिंसा इसके लिए अनिवार्य है। हिंसा वृत्ति से किया गया असहयोग अन्त में दुनिया में बुराई को हटाने के बजाय बढ़ाने का हथियार बन जाता है।[4] असहयोग का तात्पर्य

---

1 हिन्द स्वराज्य, पृ. 79

2 गाँधी संस्मरण और विचार, पृ 458.

3 प्लोरल एण्ड वर्ड्स, महात्मा गाँधी, दि स्पर्ट फैर, नव जीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद पृ 312.

4 हिन्द स्वराज्य पृष्ठ 69

आत्म समर्पण नहीं है, घृणा भी नहीं है, बुरी नीयत भी नहीं है, विरोधी का नुकसान भी नहीं है– केवल न्याय के लिए अन्याय के विरुद्ध अपने सारे समर्थन का खींच लेना है जिससे अन्यायी का हृदय परिवर्तित हो जाय ।[1] विरोधी की असुविधा के कारण जो उसे कष्ट हो उससे सत्याग्रही को भी कष्ट होना चाहिये क्योंकि असहयोग व्यक्ति से नहीं किया जाता, जीवन से नहीं किया जाता, मानवता से नहीं किया जाता, वह तो अन्याय से किया जाता है, उसे चाहिए कि वह प्रतिपक्षी को यह अनुभव करादे कि सत्याग्रही उसका मित्र और शुभचिन्तक है ।[2]

2. सविनय अवज्ञा

सन् 1933 में गाँधी जी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाया । इसका अर्थ अहिंसा और नम्रता के साथ कानून को भंग करना है । इसका उद्देश्य व्याप्त अनैतिक कानूनों को अहिंसात्मक ढंग से तोड़ना है । असहयोग की भाँति इसमें भी विरोधी को प्रेम से जीतना है । यह तब ही संभव है जबकि सत्याग्रही में सच्चाई हो, श्रेष्ठ भावना हो, वह संयमी एवं अनुशासित हो तथा उसमें घृणा तथा दुर्भावना न हो ।

उपवास शरीर, मन और आत्मा की शुद्धि करता है । वह इन्द्रियों का दमन करता है और उस सीमा तक आत्मा को मुक्त करता है । हड़ताल सरकार और जनता के मन को प्रभावित करने वाला शस्त्र है जिसके द्वारा अपनी न्यायोचित माँगें मनवाई जाती हैं । बहिष्कार का प्रयोग गाँधी जी ने विदेशी चीजों, न्यायालयों, सरकारी नौकरियों, विद्यालयों, उपाधियों आदि को त्यागने की अपील द्वारा किया । उन्होंने स्वयं रौलट एक्ट के विरोध में उन्हें प्राप्त कैसरे हिन्द पदक, जुलु विद्रोह पदक एवं बोअर युद्ध पदक का बहिष्कार किया । डॉ. गोपीनाथ धवन[3] के अनुसार गाँधी जी ने बहिष्कार को सत्याग्रह में बहुत कम स्थान दिया है । इसके अलावा उनका इस बात पर भी बल है कि बहिष्कृत व्यक्ति को आवश्यक सेवाओं से वंचित नहीं किया जाना चाहिये । ऐसा करना हिंसा है । हिजरत का अर्थ अन्यायी शासक और उसके द्वारा बनाये गये अनैतिक कानून के विरोध में स्वेच्छा से उस देश या स्थान को छोड़ कर अन्यत्र चले जाना है ।

फरवरी 27, 1930 के यंग इंडिया में गाँधी जी ने सत्याग्रहियों के लिए निम्नलिखित नियमों का पालन करना आवश्यक बताया —

1 सत्याग्रही क्रोध न करे ।
2 वह विरोधी के क्रोध को बर्दाश्त करे ।

---

1 धावन के अनुभव पृ. 19
2 के एन. वर्मा राजनीतिक विचारधाराएँ भाग-2, पृ 471 पर उद्धृत ।
3 गोपीनाथ धवन, वही पुस्तक 242

3. यदि विरोधी उसे कोई हानि पहुँचाये तो भी वह उसे सहे, बदला न ले, दण्ड के भय के कारण वह विचलित न हो।
4. किसी अधिकारी द्वारा गिरफ्तार किये जाने के आदेश पर सहर्ष गिरफ्तारी दे, यदि उसकी सम्पत्ति जब्त की जा रही हो तो उसका भी विरोध न करे।
5. यदि कोई ऐसी सम्पत्ति ली जा रही है जो सत्याग्रही के कब्जे में है और जिसका वह न्यासी है तो उसकी रक्षा करना उसका फर्ज है चाहे इस कार्य में उसके प्राण चले जायें।
6. अतः एक सत्याग्रही कभी भी अपने विरोधी को अपमानित नहीं करेगा और इस प्रकार की किसी गतिविधि में भाग नहीं लेगा जो अहिंसा की भावना के विरुद्ध हो।

3. निष्क्रिय प्रतिरोध

कुछ लोग सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध में विशेष अन्तर नहीं करते, लेकिन ऐसा उचित नहीं है। निष्क्रिय प्रतिरोध एक राजनीतिक हथियार है जबकि सत्याग्रह आध्यात्मिक शक्ति का प्रतीक नैतिक शस्त्र है। निष्क्रिय प्रतिरोध निर्बलों का शस्त्र है जबकि सत्याग्रह वीरों का। निष्क्रिय प्रतिरोध में शत्रु अथवा विपक्षी के लिए प्रेम का कोई स्थान नहीं होता। निष्क्रिय प्रतिरोध में हिंसा की संभावना हो सकती है जबकि सत्याग्रह तो किसी भी हालत में हिंसा के प्रयोग की अनुमति नहीं देता।

सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध में अंतर

गाँधी दर्शन के सुप्रसिद्ध व्याख्याकार डॉ. गोपीनाथ धवन के अनुसार सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध में मूल अन्तर इस प्रकार है —

1. निष्क्रिय प्रतिरोध जिस रूप मे पश्चिमी देशों में प्रचलित था वह एक काम चलाऊ राजनीतिक शस्त्र है जबकि सत्याग्रह एक नैतिक शस्त्र है और उसका आधार है शारीरिक शक्ति की अपेक्षा।
2. निष्क्रिय प्रतिरोध दुर्बल का शस्त्र है जबकि सत्याग्रह का प्रयोग केवल वही कर सकता है जिसमें बिना मारे मरने का साहस है।
3 निष्क्रिय प्रतिरोध मे उद्देश्य होता है प्रतिपक्षी को इतना परेशान करना कि वह हार मान ले। सत्याग्रही का उद्देश्य है प्रेम और धैर्यपूर्वक कष्ट सहन द्वारा विरोधी का हृदय परिवर्तन करना।
4 निष्क्रिय प्रतिरोध मे विरोधी के लिये प्रेम की गुंजाइश नहीं होती, पर सत्याग्रह में घृणा, दुर्भावना इत्यादि के लिए कोई स्थान नहीं होता।
5. निष्क्रिय प्रतिरोध सत्तात्मक है जबकि सत्याग्रह गत्यात्मक है।
6 निष्क्रिय प्रतिरोध निषेधात्मक रूप से कार्य करता है, इसका कष्ट सहन अनिच्छा

पूर्वक और निष्फल होता है। सत्याग्रह विधेयात्मक रूप से कार्य करता है- प्रेम के कारण प्रसन्नता से कष्ट सहन को फलप्रद बनाता है।

7. निष्क्रिय प्रतिरोध मे आन्तरिक शुद्धता का अभाव होता है और वह नैतिक साधनो को आवश्यक रूप से नहीं अपनाता और प्रयोग करने वालो के नैतिक सुधार की अपेक्षा करता है। सत्याग्रह में उद्देश्य सिद्धि और आन्तरिक सुधार मे घनिष्ठ संबंध है।

8 निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग सार्वभौमिक नहीं होता। उसका प्रयोग घनिष्ठ संबंधियों के विरुद्ध नही किया जाता जबकि सत्याग्रह का प्रयोग सार्वभौमिक है। सत्याग्रह अपने मित्रों, अपने परिवार और यहाँ तक कि अपने स्वयं के विरुद्ध भी किया जा सकता है।

9. निष्क्रिय प्रतिरोध दुर्बलता और निराशा की भावना से प्रयुक्त होने के कारण मानसिक और भौतिक दुर्बलता को बढ़ाता है। सत्याग्रह सदा आन्तरिक शक्ति पर जोर देता है और उसका विनाश करता है।

10 निष्क्रिय प्रतिरोध वास्तव मे निष्क्रिय नही होता, उसका प्रतिरोध सदा सक्रिय होता है। सत्याग्रह उसकी अपेक्षा अत्याचार और अन्याय के विरुद्ध अधिक फलप्रद और निश्चित विरोध है।[1]

राज्य, स्वराज्य, जनतंत्र एवं समाजवाद

गाँधी के चिन्तन के मूल मे स्वतंत्रता है, यह स्वतंत्रता व्यक्ति की है और साथ ही यह परिस्थिति निरपेक्ष भी है। व्यक्ति का ध्येय आत्म साक्षात्कार अथवा सत+चित+आनन्द की प्राप्ति करना है, अतः सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थायें ऐसी होनी चाहिए जो व्यक्ति की स्वतंत्रता मे तनिक भी बाधक न हों, बल्कि सहायक हों। दूसरे शब्दो में केन्द्रीकृत संस्थाये मनुष्य की स्वतंत्रता एवं आत्म-निर्णय के अधिकार को कुण्ठित करती हैं। अतः ऐसी सारी संस्थाये त्याज्य हैं जो हिंसा, उत्पीडन एवं पाशविक शक्ति पर आधारित हो। चूंकि राज्य हिंसा पर आधारित है, अतः यह समाज के लिए बहुत आवश्यक और उपयोगी नही है। आदर्श स्थिति मे तो राज्य की आवश्यकता ही नहीं होगी, लेकिन जब तक इसकी आवश्यकता पड़े इसका न्यूनतम प्रयोग होना चाहिए। राज्य केन्द्रीकृत व्यवस्था का प्रतीक है और केन्द्रीकरण का अहिंसा से कोई तालमेल बैठ ही नहीं सकता। केन्द्रीकरण व्यक्ति की स्वतंत्रता और अन्त.करण से मेल नहीं खाता। राज्य दुर्बलतम स्थिति मे फिर भी बर्दाश्त किया जा सकता है। जय प्रकाश नारायण के शब्दो में केन्द्रीय सत्ता रेलगाडी मे खतरे की घंटी की भाँति हो जिसका मुसाफिर आवश्यकता पडने पर उपयोग कर सके। वैसे गाँधी का राज्य सत्ता से कोई प्रेम न था,

---

1 के एन वर्मा पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारायें, भाग 2, पृ 468-469

वह तो प्राय: कहा करते थे कि भले आदमियों का राज सत्ता से कोई सरोकार नहीं होना चाहिये। यही कारण था कि उन्होने यह सुझाव दिया था कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरात कांग्रेस लोक सेवक सघ के रूप में परिवर्तित हो जाय और जो लोग सत्ता की राजनीति और पद प्राप्ति में रुचि रखे उन्हे कांग्रेस छोड़ देनी चाहिये। सार यह है कि राज्य कोई श्रेष्ठ संस्था नही है, यदि मनुष्य इसके बिना ही काम चला सके तो सर्वोपरि है लेकिन चूंकि यह सभव नही प्रतीत होता अत: राज्य की समाज और मनुष्य के सामाजिक सबधों मे न्यूनतम भूमिका ही रहनी चाहिये। यहाँ गाँधी और मार्क्स एक दूसरे के बहुत नजदीक आ गये हैं, मार्क्स का कथन है कि जब समाज वर्ग विहीन हो जायेगा तो स्वत. राज्य मुर्झा जायेगा। गाँधी ज्यादा व्यावहारिक एव तार्किक है जबकि वह प्रारभ से ही राज्य को दुर्बल अवस्था में देखना चाहते हैं जबकि मार्क्स वर्ग शत्रुओं को नष्ट करने के लिए सक्रमण काल मे तो राज्य को अत्यधिक शक्तिशाली बना देते हैं। मार्क्स यह भूल जाते हैं कि राज्य पर काबिज वर्ग अपनी सत्ता का शिथिलीकरण कब होने देगा। मानव स्वभाव के पारखी गाँधी राज्य और उस पर काबिज वर्ग-को प्रारभ से ही दुर्बलतम देखना चाहते हैं।

गाँधी द्वारा प्रतिपादित स्वराज की अवधारणा के तीन मुख्य तत्व हैं — प्रथम, उन्होंने व्यक्ति की स्वतत्रता पर बल दिया है न कि सामूहिक स्वतत्रता पर। जनता के स्वराज का अर्थ व्यक्तियो के स्वराज का ही तो योग है।[1] व्यक्ति की स्वतंत्रता को नकार कर कोई भी समाज स्वतंत्र नही हो सकता। यदि व्यक्ति की स्वतत्रता का लोप हो जाता है तो फिर समाज में बचता ही क्या है ? व्यक्ति की स्वतंत्रता को नष्ट करने से समाज ही नष्ट हो जाता है। व्यक्ति की स्थिति मशीन के पुर्जे की भाँति हो जायेगी।[2]

द्वितीय, स्वतंत्रता का आधार अहिंसा है। अहिंसा के बिना स्वराज की कल्पना भी नहीं की जा सकती। भाषण, संगठन, धर्म और प्रेस की स्वतन्त्रता राज्य के लिए आवश्यक है। गाँधी के शब्दो मे 'मेरी स्वराज की कल्पना के बारे मे कोई भ्राति नहीं होनी चाहिए। यह विदेशी नियंत्रण से पूर्ण स्वतंत्रता और साथ ही आर्थिक स्वतत्रता भी है। इस प्रकार आपके पास राजनीतिक और आर्थिक दोनो ही स्वतंत्रताये हैं, इसके भी दो और उद्देश्य हैं जिनमे एक नैतिक और सामाजिक है और इसी से जुड़ा उच्चतम अर्थों में धर्म है। इसमे हिन्दू धर्म, इस्लाम और ईसाई धर्म है लेकिन यह इन सबसे भी ऊपर है। आप इसे सत्य कह सकते हैं जो कि एक जीवित सत्य है, जो सब जगह है, जो समस्त विनाश और परिवर्तन से भी परे है। नैतिक और धार्मिक उत्थान अहिंसा से पहचाना जा सकता है। यह स्वराज का ढाँचा है जो विकृत हो जायेगा यदि इसका कोई भी भाग गलत हुआ तो हम सत्य, अहिंसा, ईश्वर मे जीवन्त विश्वास के बिना राजनीतिक और

1. हरिजन, मार्च, 25, 1939
2 हरिजन, फरवरी, 1942

आर्थिक स्वतत्रता तथा नैतिक और सामाजिक विकास प्राप्त नहीं कर सकते।'

स्वयं गाँधी जी[1] के शब्दो मे हम ग्राम स्वराज्य की अवधारणा को सक्षेप मे प्रस्तुत करते हैं —

'मेरा ग्राम स्वराज्य का विचार है कि यह एक पूर्ण गणराज्य है, जो अपनी मूलभूत आवश्यकताओ के लिए अपने पडोसियो से स्वतत्र है और फिर भी वे एक दूसरे पर आश्रित हैं– सत्याग्रह और असहयोग पर आधारित अहिसा ग्रामीण समाज का सम्बल होगा। चूँकि प्रचलित अर्थ मे कोई सजा की व्यवस्था नहीं होगी। यह पचायत ही, वहाँ की व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका होगी।·· · यह पूर्ण जनतन्त्र होगा जिसकी आधारशिला व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। यहाँ व्यक्ति ही अपनी सरकार का निर्माता होगा।' पुन. गाँधी जी[2] के अनुसार 'स्वतंत्रता नीचे से प्रारंभ होनी चाहिये। प्रत्येक गाँव एक गणराज्य अथवा पचायत का राज्य होगा। ऐसा समाज अनगिनत गाँवो का होगा जहाँ जीवन समुद्र की लहरों की भाँति एक के बाद एक घेरे या वृत्त के जैसा होगा, जिसके मूल मे व्यक्ति होगा। गाँधी के स्वराज की अवधारणा स्वदेशी पर आधारित स्वावलम्बन को लेकर चलती है जो पश्चिमी जनतंत्र की अवधारणा से मूल नहीं खाती। पश्चिम की नकल करना जूठन खाने के समान है जो शर्म की बात है। स्वराज का अर्थ यह भी है कि जनता स्वय अपनी व्यवस्था का निर्माण करे जो वहाँ की राजनीतिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक परिस्थितियो एव आवश्यकताओ के अनुरूप हो।' उन्होने[3] लिखा है कि 'मैने एक दारिद्रय पीड़ित भारत का चित्र नहीं खीचा है जिसमे लाखो आदमी अनपढ हैं। मैने तो अपने लिए ऐसे भारत का चित्र खींचा है जो अपनी बुद्धि के अनुकूल मार्ग पर निरन्तर प्रगति कर रहा है। मैं इसे पश्चिम की मरणासन्न सभ्यता की थर्ड क्लास या फस्ट क्लास नकल के रूप मे चित्रित नहीं करता।'

गाँधी जी ने जनतंत्र को परिभाषित करते हुए बताया कि यह समाज के सभी वर्गों के समस्त भौतिक और आध्यात्मिक साधनो को सबकी भलाई के लिए संगठित करने की कला और विज्ञान है।[4] उनका मानना है कि जनतंत्र वह है जिसमे दुर्बल और सबल सभी लोगों को समान अवसर प्राप्त हो, लेकिन उनका मत है कि विश्व मे ऐसा देश कोई भी नहीं है।[5]

अनिवार्यत: गाँधी जी के चिन्तन मे प्रजातंत्र के प्रति निष्ठा प्रकट होती है क्योकि उनकी विचारधारा मे व्यक्ति को जो सम्मान प्राप्त है, वही प्रजातंत्र का भी आधार है।

1 हरिजन, जुलाई, 26, 1942
2 हरिजन, 28 7 1946
3 हरिजन, 26 7 1942
4 -5 हरिजन मई 27, 1939

सार यह है कि व्यक्ति का सर्वोच्च एवं सर्वांगीण विकास गाँधी जी के चिन्तन में प्रमुख स्थान रखता है। यदि प्रजातंत्र, शासन अथवा जीवन की वह पद्धति है जो समाज के सभी व्यक्तियों को समानता के धरातल पर संगठित कर उन्हें उनकी सर्वोच्च मंजिल तक पहुँचाती है तो गाँधी को यह अत्यन्त प्रिय है लेकिन पश्चिमी प्रजातंत्र अथवा संसदीय प्रणाली ऐसा करने में सर्वथा असमर्थ है।

संसदीय जनतंत्र के बारे में गाँधी जी के विचार उनके मुख्य ग्रंथ हिन्द स्वराज्य[1] से यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं। 'जिसे आप पार्लियामेंट की माँ कहते हैं वह तो बाझ और वेश्या है। ये दोनों शब्द कठोर हैं, पर उस पर पूरी तरह चरितार्थ होते हैं। उसे बाझ मैं इसलिये कहता हूँ कि अब तक उसने एक भी अच्छा काम अपने-आप नहीं किया। उसकी स्वाभाविक रूप से ऐसी स्थिति है कि उसके ऊपर दबाव देने वाला कोई न हो तो वह कुछ भी न करे। और वेश्या वह इसलिये है कि जो मंत्रिमंडल वह बनाती है उसके वश में रहती है। पार्लमेंट के मेम्बर ढोंगी और स्वार्थरत होते हैं। सभी को अपनी अपनी पड़ी रहती है। पार्लमेंट कुछ करती है तो डर कर ही करती है। आज जो किया जाय उसे कल रद्द करवा देना पड़ता है। उन्हीं के एक महान लेखक कार्लायल ने पार्लमेंट को 'दुनिया का बकवास खाना' कहा है जो जिस दल का सदस्य होता है वह आँख मूँदकर उसी को वोट देता है, देने को मजबूर है। कोई इस नियम का अपवाद बन जाय तो समझ लीजिये कि उसकी मेंबरी के दिन पूरे हो गये। जितना समय और पैसा पार्लमेंट बरबाद करती है उतना समय और पैसे थोड़े से भले आदमियों को सौंप दिया जाय तो उद्धार हो जाय-- एक मेंबर ने तो यहाँ तक कह दिया है कि पार्लमेंट इस लायक नहीं रही कि कोई सच्चा ईसाई उसका सदस्य हो सके।

पार्लमेंट को मैंने जो वेश्या कहा वह भी ठीक ही है। जो दुर्गति वेश्या की होती है वही सदा उसकी होती रहती है। प्रधान मंत्री को पार्लमेंट की चिंता अधिक नहीं होती। वह तो अपनी शक्ति के मद में चूर रहता है। उसका पक्ष कैसे जीते इसी की उसको चिंता रहती है।

जो अंग्रेज चुनाव में मत देने के अधिकारी 'वोटर' हैं उनकी बाइबिल अखबार हो रहे हैं। अखबारों के सहारे वे अपनी राय कायम करते हैं। अखबार ईमानदार नहीं हैं। एक बात को वे दो रूप में देते हैं। एक पक्ष वाला जिस बात को पर्वत बनाकर दिखाता है दूसरे पक्ष वाला उसी को राई-बना देता है। ऐसे अखबार जिस देश में हों वहाँ के लोगों की क्या दशा क्या होगी --- ऐसे लोगों की पार्लमेंट भी वैसी ही होनी चाहिये।'

सार यह है कि गाँधी ऐसे जनतंत्र में विश्वास करते हैं जिसमें दुर्बलतम व्यक्ति को प्राथमिकता मिले (इसको अन्त्योदय कहा गया है) जिसमें व्यक्ति सर्वोपरि हो, जिसमें

---

1 मोहनदास करमचन्द गाँधी हिन्द स्वराज्य, सर्वोदय प्रकाशन पृ 24 से 27.

किसी भी आत्मा का दमन न हो, जिसमें कोई ऊँचा या नीचा न हो, जिसमें सबकी सहभागिता हो और केवल सख्या के बल पर किसी भी और यहाँ तक कि एक व्यक्ति पर भी निर्णय न थोपा जाय। यह सत्ता का पूर्ण विकेन्द्रित रूप है जो अहिंसा और सहयोग पर आधारित है। स्पष्ट है कि ससदीय जनतत्र का वर्तमान स्वरूप अपने शुद्धतम स्वरूप में भी गाँधी को स्वीकार नहीं है। यही कारण था कि उन्होने स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत काग्रेस के प्रचलित स्वरूप के विघटन की बात जोर देकर कही थी। उसे लोक-सेवक सघ के रूप मे परिवर्तित होने पर जोर दिया था क्योंकि सत्ता मे रहकर आप इसे नियमित नहीं रख सकते। इसको नियमित सत्ता से दूर रख कर ही किया जा सकता है क्योंकि सत्ता मनुष्य को भ्रष्ट कर देती है। गाँधी को विश्वास था कि 'यदि मेरा स्वप्न पूरा हो जाय तो भारत के सात लाख गाँवो मे से प्रत्येक गाँव मे समृद्ध प्रजातंत्र बन जायेगा, उस प्रजातत्र का कोई व्यक्ति अनपढ़ न रहेगा, काम के अभाव मे कोई बेकार नहीं रहेगा।'[1]

यदि समाजवाद का अर्थ सभी नागरिको की स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातृभाव के सिद्धान्तो पर आधारित सर्वांगीण विकास है तो गाँधी जी को ऐसे समाजवाद से कोई आपत्ति नहीं है। असमान वितरण, शोषण, पूजीवाद, अनियन्त्रित व्यक्तिगत सम्पत्ति आदि के गाँधी भी प्रबल विरोधी है। यहाँ उनका चिन्तन समाजवादी है, लेकिन उन्हें उस समाजवाद से घृणा है जो व्यक्ति की स्वतंत्रता को छीन कर एक समूह या वर्ग को दे दे तथा समाजवादी समाज की रचना के नाम पर राज्य प्रचण्ड शक्तियो का अधिग्रहण कर ले। उनकी मान्यता थी कि प्रचलित समाजवाद के विभिन्न प्रकार व्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रहार करते हैं। व्यक्ति के पास कुछ भी नहीं रहता, यहाँ तक कि शरीर भी उसका नहीं है।

सुप्रसिद्ध अमेरिकन पत्रकार लुई फिशर ने गाँधी जी से पूछ लिया कि क्या वह समाजवादी है ? गाँधी ने उत्तर मे कहा कि मेरे समाजवाद का मतलब है सबके लिए समाजवाद। मैं गूंगे, बहरे और अंधों की राख पर प्रगति नहीं करना चाहता। जिसे आजकल समाजवाद कहा जाता है, उसमे अपने व्यक्तित्व की रक्षा नहीं होती, अभिव्यक्ति की स्वतत्रता नही रहती, आपका अपना कुछ भी नहीं रहता।[2]

प्रो. किशोरीलाल मश्रुवाला का कथन है कि बहुत से व्यक्तियो को साम्यवाद और गाँधीवाद बिल्कुल समान दिखाई देंगे- कुछ लोगो का विचार है कि हिंसा रहित साम्यवाद गाँधीवाद है लेकिन यह समानता उसी प्रकार भ्रामक है जिस प्रकार यह कहना कि लाल रंग पीले तथा नीले रंग रहित हरा रंग है अथवा एक कीड़ा विष रहित सर्प है।[3] आचार्य

1 हरिजन, 26/7/1942

2. विष्णु भगवान द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 135

3 के जी मश्रुवाला गाँधी एन्ड मार्क्स, पृ 39

विनोबा भावे गाँधी और मार्क्स के चिन्तन में मौलिक अन्तर मानते हैं और दोनों विचार धाराओं में कहीं मेल नहीं देखते।[1] स्वय विनोबा के ही शब्दों में, मार्क्सवाद हिंसा को अपनाने में नहीं हिचकता, ईश्वर को मानने से इंकार करता है यह धर्म को अफ़ीम के समान समझता है। यह गाँधी के धर्म प्रधान विचारों से मेल नहीं खाता।

समाजवाद और गाँधी चिन्तन के मूल में अंतर साधनों को लेकर है। प्रथम, गाँधी का स्पष्ट विचार है कि उत्तम साध्य की प्राप्ति के लिए साधन भी उत्तम ही होने चाहिये जबकि समाजवाद में साधनों की पवित्रता की कोई अवधारणा ही नहीं है। द्वितीय, गाँधी किसी भी हालत में वर्ग-संघर्ष को स्वीकार नहीं करते जबकि समाजवादी चिन्तन का यह केन्द्रीय विन्दु है। मानव सबंधों में हिंसा की गाँधी-चिन्तन में कतई गुंजाइश नहीं है जबकि साम्यवाद अपने ध्येय तक पहुँचने में हिंसा के खुलकर प्रयोग की इजाजत भी दे देता है। सार यह है कि गाँधी वर्ग-संघर्ष की जगह वर्ग-सामजस्य में विश्वास रखते हैं। तृतीय, राज्य की अवधारणा को लेकर भी गाँधी और मार्क्स में एक मौलिक अंतर है। यह सही है कि मार्क्स ने अन्ततोगत्वा जिस समाज की कल्पना की वह राज्यविहीन है क्योंकि यह वर्गविहीन बन जाता है। जैसा कि पहिले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि मार्क्स राज्य के मुर्झाने की बात करते हैं। यहाँ बर्ट्रेण्ड रसल का यह कथन सटीक है कि जबकि साम्यवादी दल स्वय में एक सुविधाभोगी वर्ग बन गया है तो समाज वर्ग विहीन कैसे होगा? जब तक समाज वर्ग विहीन नहीं बनता तब तक राज्य विहीन नहीं बन पायेगा क्योंकि जैसा कि मार्क्स मानते हैं राज्य एक वर्ग के हाथ में कठपुतली है और इसका उद्देश्य दूसरे वर्ग का शोषण करना है। यहाँ मार्क्स के मुकाबले गाँधी अधिक यथार्थवादी एव तार्किक हैं। चौथी बात यह है कि दोनों के चिन्तन का धरातल भी एक सा नहीं है। गाँधी उन चन्द विचारकों में हैं जिनके चिन्तन की व्यक्ति न केवल इकाई है बल्कि उसके मूल में है। मार्क्स के चिन्तन में व्यक्ति उभर नहीं पाया, उन्होंने समाज और समूह के कल्याण की बात सोची, लेकिन गाँधी समूह की तानाशाही से व्यक्ति की रक्षा के प्रति जागरुक थे। व्यक्तिगत सम्पत्ति को लेकर भी दोनों में यद्यपि काफी समानता मिलती है लेकिन गाँधी कहीं अधिक क्रांतिकारी नजर आते हैं। गाँधी का ऐसा कथन कि 'सभी भंगियो, डाक्टरो, वकीलों, व्यापारियों एवं अन्य लोगो को एक दिन के ईमानदारी से किये गये कार्य के लिए समान वेतन मिलना चाहिये, मार्क्स के साहित्य में ऐसा कहीं नहीं मिलता। अंत में विनोबा के शब्दों में दोनों में अन्तर इस प्रकार है। 'दो आदमी एक दूसरे से मिलते जुलते थे कि लोगो को बड़ी आसानी से एक दूसरे के बारे में भ्रम हो जाता था, परन्तु उनमे अंतर केवल इतना था कि एक सांस ले सकता था और दूसरे की सांस गायब थी। प्रो. शान्तिप्रसाद वर्मा[2] की इस बात से सहमति व्यक्त

---

1 प्रो शान्तिप्रसाद वर्मा, मोडर्न पोलिटिकल थ्योरी, विकास पब्लिशिंग हाउस, देहली, पृ 431

2 विनोबा की दृष्टि, सर्वोदय पुस्तक पृ 17.

की जा सकती है कि गाँधी ने मार्क्सवाद के आधार को ही अस्वीकार कर दिया है जिसके दो मुख्य कारण हैं। प्रथम कि यह जनता पर थोपा गया है और द्वितीय कि यह सामाजिक परिवर्तन केवल अहिंसा के द्वारा ही सम्भव है। अस्तित्ववादियों एवं 'न्यूलेफ्ट' ने मार्क्सवाद की कमजोरी को पकड़ा है और वह मनुष्य की उपेक्षा है। इस प्रसंग में गाँधी को प्रमुख दार्शनिक कहा जायेगा जिन्होंने इससे न केवल अपना असंतोष ही व्यक्त किया बल्कि एक हल भी सुझाया, जो शायद एक मात्र व्यावहारिक हल है।

अंत में डॉ महादेव प्रसाद शर्मा के शब्दो मे गाँधी चिन्तन की सम्बद्धता पर यह कहा जा सकता है — 'गाँधी-दर्शन विशुद्ध भारतीय उपज है। विश्व के लिए यदि भारत का कोई संदेश है तो वह उसमे निहित है। भारत की उन्नति और विकास का यदि कोई अपना विशिष्ट मार्ग है तो उसे वहाँ ढूंढा जा सकता है। युद्ध और संघर्ष की विभीषिका से त्रस्त विश्व राजनीति को गाँधी-दर्शन भारत की अभयदान रूप भेंट है।'[1] गाँधी के आलोचक इस कथन को अतिशयोक्तिपूर्ण कह सकते हैं। वे कह सकते हैं कि गाँधी कोई पद्धति पूर्ण राजनीतिक अथवा आर्थिक विचारक नहीं थे। जैसा कि पं. जवाहरलाल नेहरू का कथन है कि 'हिन्द स्वराज्य' वर्तमान समस्याओ का हल ढूंढने में मदद नहीं कर पाती। ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त अव्यावहारिक है, आज तक कोई सही मायने में ट्रस्टी नहीं बना, मानव स्वभाव को दृष्टिगत रखते हुए राज्य की प्रबल भूमिका से इन्कार नहीं किया जा सकता। आधुनिक सामाजिक संरचना में आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था की अपरिहार्यता को गाँधी नजर अन्दाज कर देते हैं जिसके कारण वह स्वप्नलोकीय विचारकों की श्रेणी में चले जाते हैं। इस आलोचना में न जाकर केवल इतना ही कहा जाना यहाँ उपयुक्त है कि समस्याओ का एक मात्र समाधान चाहे गाँधी चिन्तन न हो लेकिन समाधान ढूढने की दिशा मे जब प्रयास किये जायेगे और जिस मॉडल' पर सहमति होती प्रतीत होगी वह पूर्णतया चाहे 'गाँधीयन' न हो लेकिन गाँधी के बहुत नजदीक होगी। बन्धन मुक्त जीवन, सच्चाई, सरलता, निर्मलता, सौम्यता, सुख दुःख में अविचलितता, अन्त शक्ति, निर्भयता, अपरिग्रह, शाश्वत प्रेम और शांति, आत्म त्याग, सहिष्णुता, सह-अस्तित्व, सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य ताकि मनुष्य आत्म साक्षात्कार को प्राप्त कर सके जो कि जीवन का सर्वोत्कृष्ट ध्येय है। ये सब नैतिक, आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्त्व हैं लेकिन इनको नकार कर क्या ठोस सामाजिक और राजनीतिक जीवन की आधार-शिला रखी जा सकती है। क्या अनैतिक मनुष्य श्रेष्ठ राजनीतिक अथवा राजनेता बन सकता है ? केन्द्रीय व्यवस्था क्या हिंसक नहीं है, यदि मानव की स्वतंत्रता अक्षुण्ण बनाये रखनी है तो क्या राजनीतिक और आर्थिक ढाचा विकेन्द्रित नहीं होना चाहिये ? व्यवस्था के मूल मे व्यक्ति को प्रतिस्थापित करना और इसे विकेन्द्रित बनाना क्या एक अनूठा क्रांतिकारी विचार नहीं है। क्या शांति और विकास मे गहरा संबंध नहीं है। यदि है तो

---

1 रवीन्द्रनाथ मुकर्जी द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृष्ठ 472

क्या शस्त्रों पर होने वाला ताबड़ तोड़ खर्चा किसी भी दृष्टि से जायज है ? सार यह है कि क्या सामाजिक संरचना एव नूतन मूल्यों का सृजन आज की सबसे बडी आवश्यकता नहीं है। यदि है तो इससे गाँधी चिन्तन की प्रासंगिकता, शाश्वतता और उपादेयता स्थापित होती है।

मानवेन्द्रनाथ राय

(1887–1954)

मानवेन्द्रनाथ राय, जिन्हें देश-विदेश के बौद्धिक और शैक्षणिक क्षेत्रों मे एम. एन. राय के नाम से अधिक जाना जाता है, एक विलक्षण व्यक्ति थे। उनकी जीवन यात्रा अनेक संघर्ष एव उतार चढाव लिये हुये रही है। वह क्रांतिकारी, राष्ट्रवादी, अन्तर्राष्ट्रवादी, प्रखर बुद्धिजीवी, चिन्तक और कर्मयोगी थे। उन्होने क्रांतिकारी के रूप मे जीवन प्रारंभ किया, फिर प्रखर साम्यवादी रहे और अंत में नव-मानववाद के संस्थापक के रूप में विख्यात हुये। वह गाँधी और कॉंग्रेस के कट्टर आलोचक थे, लेकिन जीवन के संध्याकाल मे जिस दर्शन के वह प्रवर्तक हुये वह कई दृष्टियों से गाँधी के समीप चला गया। वह एक प्रसिद्ध लेखक भी थे और उनकी रचनाओं का बौद्धिक जगत में बडा सम्मान भी हुआ। उन्होने अनेक देशों की अनेक बार यात्रायें की। उनका विश्व के क्रांतिकारियों शासकों, समाज सुधारकों, चिन्तकों, बुद्धिजीवियों एवं लेखकों से केवल व्यक्तिगत परिचय ही नहीं था, अपितु उनसे विचारों का आदान प्रदान भी होता रहता था। उनका अनेक विषयों का ज्ञान अथाह था और उनके ज्ञान का क्षेत्र भी बड़ा व्यापक था। उनका विज्ञान, धर्म, दर्शन, इतिहास, राजनीति और अर्थशास्त्र का अध्ययन गहन था।

एम. एन. राय का जन्म कलकत्ता के नजदीक एक गाँव में हुआ। उनका प्रारंभिक नाम नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य था जिसे उन्होंने 1916 में बदलकर मानवेन्द्रनाथ राय रख लिया। प्रारम्भ मे उन पर जिन लोगों का प्रभाव पड़ा उनमे स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ एवं दयानन्द सरस्वती मुख्य थे। धीरे-धीरे वह विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष की ओर आकृष्ट हुये। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी से भी वह प्रभावित हुये। विनायक दामोदर सावरकर के साहसिक कार्यों से भी वह प्रभावित हुये। वह क्रांतिकारियों के सम्पर्क मे आये और शीघ्र ही ब्रिटिश विरोधी गतिविधियों मे सक्रिय हो गये। 1905 के बंग भंग आन्दोलन मे वह भूमिगत हो गये। सर्वप्रथम वह 1907 में गिरफ्तार हुये। क्रांतिकारी फिर हावड़ा षड्यंत्र कांड में गिरफ्तार हुये। क्रांतिकारी गतिविधियों मे उन्हें जतीन मुखर्जी से प्रेरणा मिली। 1915 मे वह पुनः गिरफ्तार हुये। वह बंगाल के प्रसिद्ध युगान्तर दल के कर्मठ सदस्य माने जाते थे।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान भारत में क्रांतिकारी आन्दोलन की सहायतार्थ हथियार प्राप्त करने के लिए वह जर्मनी और जापान गये। राय इसी ध्येय को लेकर बर्मा, इंडोनेशिया,

चीन और फिलीपीन्स गये। फिर 1916 मे अमेरिका पहुँचे। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि उन्होने 1916 मे अपना नाम एम. एन. राय रख लिया, यह अपनी सुरक्षा और गोपनीयता बनाये रखने की दृष्टि से सेन फ्रांसिस्को में किया गया। अमेरिकी प्रवास मे उनका सम्पर्क लाला लाजपतराय से हुआ जिन्होने उनकी पूरी सहायता की। अपनी गतिविधियो के कारण वह संकट में आ गये अत: वह मेक्सिको चले गये। वह मेक्सिको की सोश्लिस्ट पार्टी के सक्रिय सदस्य बन गये। 1919 में मेक्सिको में उनकी भेंट प्रसिद्ध साम्यवादी नेता माइकेल बोरोडीन से हुई जो मेक्सिको आये थे। इनके प्रभाव में राय ने मार्क्स के भौतिकवादी दर्शन को स्वीकार कर लिया और रूस के बाहर प्रथम साम्यवादी दल की स्थापना का राय को श्रेय मिला। लेनिन के निमत्रण पर वह द्वितीय कोमिन्टर्न के कांफ्रेंस में भाग लेने के लिये सोवियत रूस गये। शीघ्र ही उनकी लेनिन से घनिष्ठता हो गयी। राय प्रेसीडियम के सदस्य निर्वाचित हुये और अनेक वर्षों तक पार्टी के ईस्टर्न विंग के अध्यक्ष भी रहे।

कालान्तर मे राय और लेनिन के बीच वैचारिक मतभेद उत्पन्न हो गये। लेकिन लेनिन उनकी बौद्धिक प्रखरता से प्रभावित थे। लेनिन की मृत्यु के बाद भी वह सोवियत रूस मे सम्मान के साथ देखे जाते थे। इसी कारण उन्हे 1926 मे चीनी क्रांति के दौरान कोमिन्टर्न का मुख्य सलाहकार बनाकर भेजा गया। राय साम्यवादी जगत के एक उदीयमान व्यक्तित्व बन गये। लेकिन 1929 उनके लिये परिवर्तन का वर्ष सिद्ध हुआ। उनकी स्वतत्र चिन्तन के अधिकार की घोषणा महंगी पडी और उन्हे कोमिन्टर्न से निकाल दिया गया। उन्होंने जर्मनी मे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की शाखा स्थापित करने का प्रयास किया। 1930 में वह भारत लौट आये। सत्य और स्वतत्रता की खोज में एम. एन. राय 16 वर्षों तक विदेशो में रहे और इस कटु सत्य को लेकर स्वदेश लौटे कि मानव कल्याण के लिए मार्क्सवाद और साम्यवाद अपर्याप्त हैं।

1933 में राय पुन. यूरोप गये जहाँ उन्होने बर्लिन में अन्तर्राष्ट्रीय लेबर और सोश्लिस्ट कांफ्रेंस मे भाग लिया। 1931 मे उन्होने कांग्रेस के कराची अधिवेशन मे भाग लिया। इसी वर्ष उन्हें कानपुर षड्यत्र मुकदमे मे सजा मिली जहाँ जेल की यातनाओ से उनके स्वास्थ्य पर बुरा असर पडा। जेल से छूटने के बाद उन्होने कांग्रेस में सक्रिय होकर काम किया, लेकिन कांग्रेस नेतृत्व से न बनने के कारण उन्होने कांग्रेस भी छोड़ दी। दिसम्बर 1940 मे उन्होने अपनी अलग पार्टी बना ली जिसका नाम 'रेडिकल डिमोक्रेटिक पार्टी' रखा गया। यह पार्टी भी दिसम्बर 1948 में भंग कर दी गई। 1954 मे राय का निधन हो गया। सार रूप मे एम. एन. राय के जीवन वृत्त को इन चार भागो मे बाँटा जा सकता है।[1]

---

1 रैना सिन्हा, पोलिटिकल आइडियाज ऑफ एम. एन. राय, नेशनल बुक आरगनाइजेशन, नई दिल्ली, पृ 10

1. रेडिकल रेवोल्यूशनरी – बचपन से 1919 तक
2. सक्रिय साम्यवादी – 1919 से 1929 तक
3. सक्रिय राष्ट्रवादी – 1929 से 1949 तक
4. एकटिव रेडिकल ह्यूमनिस्ट – 1940 से मृत्युपर्यन्त

एम. एन राय की मुख्य रचनायें निम्नलिखित हैं :-

1. इंडियाज ट्रान्जीसन
2. वन इयर ऑफ नान कोपरेशन
3. आफ्टरमेथ ऑफ नान कोपरेशन एण्ड दी फ्यूचर ऑफ इंडियन पालिटिक्स
4. लेटर्स फ्राम जेल
5. पीपुल्स प्लान फार इकोनोमिक डवलपमेन्ट एण्ड ड्राफ्ट कास्टीट्यूशन फार फ्री इंडिया
6. न्यू ह्यूमनिज्म
7. पालिटिक्स, पावर एण्ड पार्टीज
8. साइन्टिफिक पालिटिक्स
9. रीजन, रोमांटिसिज्म एण्ड रेवोल्यूशन, वोल्यूम I एण्ड II
10. मेटीरियलिज्म

राय के विचार

राय के विचारो को मुख्यतया दो मार्गों मे बाँटा जा सकता है प्रथम जबकि वह मार्क्सवादी थे और द्वितीय जबकि उन्होंने मार्क्सवाद को नकार कर नवमानववाद की अवधारणा को प्रतिपादित किया। मार्क्सवादी बनने के पूर्व वह भारतीय प्राचीन ग्रंथ जैसे भगवद् गीता एवं भारतीय विचारकों जैसे विवेकानन्द, अरविन्द, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि से प्रभावित रहे। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि राय बचपन से ही क्रांतिकारी थे और सशस्त्र क्रांति द्वारा मातृभूमि की मुक्ति हेतु प्रयत्नशील रहे। वह भारत के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद से भी प्रभावित थे। उनको भगवद्‌गीता के कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिये गये इस संदेश में बडी प्रेरणा मिलती थी जिसमें कि अपने भाइयों और संबंधियों के खिलाफ भी हथियार उठाने के लिये कहा गया था। धर्मयुद्ध के लिए पारम्परागत नैतिकता को भी तिलांजलि दी जा सकती है। गीता द्वारा प्रतिपादित उत्साह और वैराग्य का दर्शन उन्हें बहुत ही प्रेरणादायक लगा। भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष को उन्होने धर्मयुद्ध माना जिसमें कर्तव्य पालन पर जोर दिया गया है। लेकिन वह युवावस्था की ओर अग्रसर होते ही मार्क्सवाद से प्रभावित हो गये। यद्यपि उन्होंने 1929 मे ही कोमिन्टर्न से संबंध विच्छेद कर लिये थे, लेकिन फिर भी मार्क्सवाद का प्रभाव उनके इस प्रपत्र पर दृष्टिगोचर होता है जो उन्होंने उसी वर्ष संपन्न हुई लाहौर कांग्रेस के लिए भेजा था। यह प्रपत्र महत्त्वपूर्ण है और 1929 तक के राय के विचारों की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। भारतीय संदर्भ में

उनके विचारो की कार्यान्विति क्या स्वरूप ग्रहण करे इसकी एक झलक हमे मिलती है । इस प्रपत्र'[1] की मुख्य बाते इस प्रकार थी —

1 भारत एक सघात्मक गणराज्य हो जिसका पूर्ण जनतात्रिक सविधान हो जिसमें कार्यपालिका वयस्क मताधिकार द्वारा निर्वाचित ससद के प्रति उत्तरदायी हो ।

2 स्थानीय मामलों मे पूर्ण स्वायत्तता हो, प्रान्तो की अपनी सरकारे हो और प्रातो का भाषायी एव धार्मिक आधार पर पुनर्गठन हो ।

3 भारतीय देशी राज्यो और जमींदारी प्रथा का बिना मुआवजे के उन्मूलन, जनतात्रिक राष्ट्रीय सरकार के आदेश द्वारा किसानो का इस जमीन पर स्वामित्व ।

4 भूमि का राष्ट्रीयकरण और किसानो द्वारा इस जोती हुई जमीन का सरकार को देय भाग कुल आय के 15 प्रतिशत से ज्यादा नहीं हो ।

5 कृषि पर सिचाई कर, बिक्रीकर एव अन्य ऐसे सभी करो से मुक्ति ।

6 छोटे किसानों को सभी करो से मुक्ति ।

7 दिवालिये कृषको को पूरे कर्ज से मुक्ति ।

8 कृषको को सुविधाजनक ऋण देने हेतु कृषि बैंको की स्थापना ।

9 खनिज एव अन्य जनोपयोगी ससाधनों का राष्ट्रीयकरण ।

10 श्रमिको के आठ घटे प्रतिदिन से अधिक कार्य करने पर कानूनी प्रतिबन्ध ।

11. श्रमिको के जीवन स्तर को उन्नत करने हेतु न्यूनतम वेतन का निर्धारण ।

12. बेरोजगारी, बीमारी, वृद्धावस्था, प्रसूति आदि के लिये एक कोष का निर्माण जिसमें 75 प्रतिशत तक कर्मचारियो एवं सरकार द्वारा सहयोग ।

13 ट्रेड यूनियनो की स्थापना का कानून द्वारा प्रावधान (आवश्यकता पडने पर) हड़ताल एवं श्रमिको के राजनीतिक दलो की स्थापना की अनुमति ।

14 प्रेस एवं सघो की स्थापना की स्वतंत्रता ।

15. धर्म एवं पूजा की स्वतंत्रता ।

16. अल्पसंख्यको की सुरक्षा ।

17 हथियार रखने का अधिकार ।

18. नि शुल्क एवं अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा ।

राय और मार्क्सवाद

जैसाकि पहिले उल्लेख बताया जा चुका है कि राय माइकेल बोरोडिन के प्रभाव

---

1. वैता मिन्हा द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 6-7.

मे मार्क्सवादी बन गये थे। उस समय वह मेक्सिको मे थे। वैसे बोरोडिन से भेंट के पूर्व वह बौद्धिक स्तर पर मार्क्सवाद की ओर आकृष्ट हो चुके थे। यह बात लाला लाजपत राय के ध्यान में भी आई जबकि लालाजी से एम. एन राय की भेंट अमेरिका मे हुई। लालाजी ने मार्क्स के ग्रंथो का संग्रह भी खरीद कर राय को दिया था। राय ने ही सर्वप्रथम मेक्सिको मे साम्यवादी दल की भी स्थापना की थी। राय की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि वह केवल प्रखर बुद्धिजीवी ही नहीं थे, वह एक कर्मठ कार्यकर्त्ता भी थे। जिसको उनकी बुद्धि स्वीकार कर लेती थी उसे मनसा वाचा कर्मणा पूरा करना भी चाहते थे। मार्क्सवाद को स्वीकार कर लेने के बाद वह उसे प्रचारित प्रसारित करने के कार्य मे संलग्न हो गये।

मार्क्सवादी के रूप मे एम एन राय के चिन्तन के विकास को भी दो भागो मे बाँटा जा सकता है। 1917 से 1929 तक वह एक प्रकार से रूढ़िवादी मार्क्सवादी रहे और फिर 1930 से 1980 तक मार्क्सवाद से प्रभावित होते हुये भी इसकी त्रुटियो को देखते रहे। इस दौरान वह रेडिकल कांग्रेस मैन भी रहे। यद्यपि वह कांग्रेस में रहे लेकिन वह गाँधी के आलोचक बने रहे। उन्होंने गाँधी का नेतृत्व अव्यावहारिक एवं निष्क्रिय लगा। यही कारण था कि उन्होंने कांग्रेस के भीतर ही 'लीग आफ रेडिकल कांग्रेस मैन' की स्थापना की। उनका विशेष संपर्क जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस से रहा लेकिन गाँधी के विरोधी होने के कारण वह कांग्रेस मे अपना स्थान नहीं बना पाये।

जहाँ राय मार्क्स से प्रभावित हुये वे संक्षेप मे निम्नलिखित बिन्दु हैं — वह मार्क्सवाद के मूल दर्शन से प्रभावित हैं कि यह एक पूँजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था को बदलना चाहता है क्योंकि यह शोषण पर आधारित है। आर्थिक शोषण, दासता और सांस्कृतिक पिछड़ेपन पर निर्मित जनहित सामाजिक व्यवस्था को तोड़कर नये मूल्यों पर आधारित नूतन समाज-रचना का मार्क्सवाद का उद्देश्य मानवेन्द्रनाथ राय को आकर्षक लगा। एक वर्ग विहीन और राज्यविहीन समाज की स्थापना जिसमें मनुष्य के समस्त बंधन टूट जायँ - यह भी उन्हे अभिनन्दनीय लगा। एक बार बंधनमुक्त होने पर मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति का अभ्युदय होगा - यह विश्वास राय के चिन्तन का सम्बल बना। सार यह है कि उपनिवेशवाद, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, फासीवाद, अधिनायकवाद के जकड़न से मनुष्य को मुक्त करने का मार्क्सवाद का सपना एम. एन. राय को बहुत ही सुहावना लगा।

लेकिन व्यावहारिक धरातल पर मार्क्सवाद का जो मुख्य चेहरा उपस्थित हुआ उससे राय घबरा गये। बौद्धिक स्तर पर भी उन्हें इसमें त्रुटियाँ नज़र आने लगी। 1929 मे कोमिन्टर्न छोड़ने के पीछे भी मुख्य यही कारण था कि राय मार्क्सवादी होते हुये भी अपने स्वतंत्र चिन्तन के अधिकार को छोड़ना नहीं चाहते थे। यह रूस के मार्क्सवादी नेताओं को पसन्द नहीं था। राय को लगा कि स्वतंत्र चिन्तन तो मनुष्य के समस्त अस्तित्व और

व्यक्तित्व का एक अपरिहार्य तत्त्व है, इसको खो देने के बाद तो मनुष्य के विकास की कल्पना भी दुरुह है।

सर्वप्रथम हम द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की अवधारणा को लें जो मार्क्सवादी चिन्तन के मूल में है। इसमे राय को निम्नलिखित खामियाँ नजर आईं —

1 यह मानव इतिहास को केवल भौतिक शक्तियो के रूप मे ही स्पष्ट करता है।
2. यह चिन्तन को द्वितीय श्रेणी का महत्त्व देता है।
3 यह मानव की सृजनात्मक शक्ति को द्वन्द्वात्मकता के अधीन कर देता है।
4 यह मनुष्य को केवल आर्थिक तत्त्व के स्तर तक गिरा देता है।

राय का कथन है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सामाजिक सिद्धान्त आर्थिक निर्णयवाद को लेकर चलता है जो कि गलत है। उनके अनुसार आर्थिक निर्णयवाद सामाजिक विकास के प्रत्येक पहलू की व्याख्या करने मे असमर्थ है।

मार्क्सवादी भौतिकवादी सृष्टि के विकास की प्रक्रिया के निम्नलिखित कानून बताते हैं —

1 सृष्टि का मूल तत्त्व पदार्थ है जो परिवर्तनशील है और गतिशील है।
2 पदार्थ का निहित गुण परिवर्तन है।
3 यह परिवर्तन द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को लिये हुये है।
4 यह द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का उद्गम पदार्थ के निहित तत्त्वों के घर्षण से होता है।
5 जब सख्यात्मकता अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है तो यह अचानक घटित स्पन्दन के साथ गुणात्मकता मे परिवर्तित हो जाती है।
6 यह स्पन्दन ही क्राति का बोध कराता है।
7 इस परिवर्तन के दो तत्त्व होते हैं– एक नकारात्मक और दूसरा सकारात्मक– नकारात्मक तत्त्व पहिले वाली व्यवस्था को नकारता है और सकारात्मक तत्त्व नकारे हुये में से एक नयी व्यवस्था को जन्म देता है।

एम एन. राय इस व्याख्या से सहमत नहीं हैं। वह आर्थिक तत्त्व को मना नहीं करते, लेकिन वह यह कहते हैं कि आर्थिक निर्णयवाद और भौतिक निर्णयवाद को एक मानकर चलना गलत है। इनमें प्रथम सीमित रूप में विश्वव्यापी है जबकि द्वितीय

---

1 एम एन राय, बियान्ड कम्युनिज्म, पृ 92
सीता सिन्हा द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 78

मनुष्य के सामाजिक स्वरूप तक ही सीमित है और यहाँ भी अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्वों के अधीन है। मार्क्स को इस सामाजिक संदर्भ में समझना आवश्यक होगा क्योंकि मार्क्स ऐसा मानते हैं कि सामाजिक विकास के नियमों की व्याख्या करते हुये मनुष्य में समाज निर्माण की क्षमता निहित है। राय की मान्यता है कि मनुष्य ने अपने अस्तित्व के संघर्ष में ही समाज का निर्माण किया है। मानव जाति ने व्यक्ति के रूप में ही तो संघर्ष प्रारंभ किया और कालान्तर में उसने यह अहसास किया कि उसके अस्तित्व का संघर्ष ज्यादा सफल होगा यदि वह अन्य लोगों के साथ मिलकर काम करे अर्थात् इसके समाज के सदस्य के रूप में कार्य करने से समाज का जन्म हो गया।

यद्यपि राय मार्क्स की वैज्ञानिक पद्धति के प्रशंसक थे, लेकिन उनके अनुयायियों ने जो इसे कट्टरपंथ का रूप दे दिया वह उन्हें नापसन्द था। वह इस बात को स्वीकार नहीं करना चाहते थे कि जो कुछ मार्क्स ने लिख दिया वह सही था। वह किसी की कही बात को ईश्वर वाक्य मान कर चलना अविवेकपूर्ण मानते थे। वह इस बात को स्वीकार नहीं करते कि मनुष्य पर कोई बात थोपी जाय, मनुष्य किसी की बात को केवल तब ही स्वीकार करे जबकि वह उसके विवेक के अनुकूल हो। यही कारण था कि राय की सोवियत रूस के साम्यवादी नेताओं से नहीं पटी और अन्ततोगत्वा उन्होंने रूस और साम्यवादी पार्टी छोड़ी। वह मार्क्सवाद को बदलती परिस्थितियों में ढाल कर एक सजीव और सार्थक विचारधारा बनाना चाहते थे। उनका मानना था कि यदि मार्क्सवाद को कट्टरपन और संकीर्णता के दायरे में बाँधकर रखा गया तो इसकी जीवनदायिनी शक्ति नष्ट हो जायेगी।

राय को इस बात से भी असहमति है कि ज्ञान केवल अनुभव जन्य होता है जैसा कि मार्क्सवाद की मान्यता है। राय मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति को नकारना नहीं चाहते। यह कहना भी तार्किक नहीं लगता कि द्रव्य तथा उत्पादन की शक्तियों की गति भी द्वन्द्वात्मक होती है। राय लिखते हैं 'मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद केवल नाम के लिये ही भौतिकवादी है। चूँकि उसका मूलतत्त्व द्वन्द्ववाद है इसलिये तत्त्वतः वह एक प्रत्ययवादी दर्शन है। अतः इसमें आश्चर्य नहीं है कि उसने अठारहवीं शताब्दी के वैज्ञानिक भौतिकवाद की विरासत को अस्वीकार कर दिया और फ्युरावाद तथा उनके अनुयायियों के मानववादी भौतिकवाद के विरुद्ध संघर्ष चलाया।'[1] राय ने बल देकर कहा कि द्वन्द्ववाद प्रत्ययवादी तर्कशास्त्र की पद्धति है। मनोगत प्रत्ययवादी तर्कशास्त्र की प्रक्रिया को समग्र वस्तुगत सत्ता की गति की प्रक्रिया के समतुल्य मानना एक निराधार विस्तार है। एम. एन. राय लिखते हैं कि 'विचारों के गति के नियम द्वन्द्वात्मक नहीं कहे जा सकते क्योंकि मार्क्सवाद न तो उससे पहले के विचारों का निषेध था, बल्कि उसमें

1. वी. पी. वर्मा, पूर्व उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 510

सस्थापक सप्रदाय के अर्थशास्त्र तथा हेगेलवाद के मुख्य तथ्यो का समावेश था । इसी प्रकार लोकतत्र से समाजवाद मे विचारो का सक्रमण द्वन्द्वात्मक नहीं बल्कि अविच्छिन्न था । अत विचारों की अपनी स्वायत्तता और क्रम होता है तो द्वन्द्वात्मक नहीं बल्कि गत्यात्मक होता है ।'[1]

वस्तुत· राय मार्क्स के द्वन्द्वात्मक दर्शन पर ही प्रहार करते हैं । इसमे उन महान क्रातिकारियो के लिए कोई स्थान ही नही है जिन्होंने इतिहास को बदला है । राय मनुष्य को केवल पदार्थ मानने से इन्कार करते हैं ।

एम एन राय वर्ग-सघर्ष के सिद्धान्त को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं करते । वह इस बात को मानते हैं कि वर्ग सघर्ष है, लेकिन इसके अलावा भी बहुत कुछ है जिसे नकारा नहीं जा सकता । सामाजिक एकता, सामजस्य, प्रेम, त्याग, सहयोग आदि अनेक तत्त्व हैं जिनका सामाजिक विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान है । यदि केवल सघर्ष ही होता तो मनुष्य एक दूसरे से लड़कर समाप्त हो गये होते ।

मध्यम वर्ग के लोप होने की मार्क्स की घोषणा भी गलत साबित हुई । मध्यम वर्ग का तो बल्कि उत्कर्ष हुआ है । समाज के महत्त्वपूर्ण लोग विचारक, राजनेता, राजनीतिज्ञ, प्रशासक, अधिकारी, बुद्धिजीवी, सैनिक आदि प्राय. मध्यम वर्ग से ही आते हैं । मध्यम वर्ग अतिवादी नहीं होता और समाज के स्थापित नियमों एवं नैतिक आयामों का पालन करता है । अरस्तू ने इसलिये तो राज्य के स्थायित्व हेतु मध्यम वर्ग की प्रबलता पर जोर दिया था ।

कट्टर मार्क्सवादियो पर राय प्रहार करते हुये कहते हैं कि उन्होने मार्क्स की गलत व्याख्या कर दी है । मार्क्स मानते थे कि क्राति का उद्देश्य अन्ततोगत्वा मनुष्य की बेड़ियों को तोड़ना है, उसे बन्धन मुक्त करना है, उसे स्वतंत्र करना है । इसके लिए अनेक क्रांतियाँ भी हो सकती हैं । राय मानते हैं कि क्रांति तो एक सतत प्रक्रिया है और इसका उद्देश्य सत्य की खोज है । राय मानते हैं कि मार्क्स एक मानववादी थे, मानव स्वतंत्रता के प्रेमी थे और दुनिया के पुनर्निर्माण में विश्वास रखते थे और इसे किसी पूर्व निर्धारित जटिल ढांचे में बांधना नहीं चाहते थे ।

कुल मिलाकर सार यह है कि राय मार्क्सवाद को मानववाद के प्रतिकूल मानने लगे थे जिसमे वह ज्यादा दोष कट्टर मार्क्सवादियो का मानते थे । उनका कहना है कि सोवियत रूस में जो हुआ वह मार्क्सवाद का प्रतिवाद है । मार्क्सवाद मनुष्य को नकारता है, समष्टि की वेदी पर व्यष्टि की बलि चढ़ाता है और इसलिये मानववादी दर्शन से दूर चला जाता है ।

---

1 वी पी वर्मा, द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 510

राय का नव मानववाद

एम. एन. राय का साम्यवादी जगत से दूर जाने का मुख्य कारण यही था कि इसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। राय के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण वस्तु स्वतंत्रता है। स्वतन्त्रता व्यक्ति की होती है। समुदाय, राष्ट्र या समाज की स्वतंत्रता उसमें रहने वाले व्यक्ति की स्वतंत्रता से ही नापी जाती है। प्राचीन यूनान में जो सोफिस्ट कहा करते थे, मनुष्य ही प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड है राय को भी स्वीकार है। 'मनुष्य ही मानवजाति का मूल है यह राय के नवमानववाद का सार है। मनुष्य ही विकास का आधार है, वह ही इसकी कसौटी है। राय के लिये स्वतंत्रता केवल बाधा, शारीरिक नियत्रणों का अभाव नहीं है, यह उसके समग्र व्यक्तित्व की स्वतंत्रता है, उसमे उसके व्यक्तित्व के सारे ही पहलू – राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, सास्कृतिक, भौतिक एवं आध्यात्मिक सम्मिलित हैं। व्यक्ति का यह सर्वांगीण विकास ही स्वतत्रता की पूर्णता का द्योतक है। स्वतत्रता का अर्थ है उस वातावरण का निर्माण जिसमे मनुष्य अपनी अन्तर्निहित शक्तियों के पूर्ण विकास करने में समर्थ हो। यह तब ही संभव है जबकि मनुष्य के विकास और मानवीय शक्तियों के पूर्ण उपयोग पर लगे प्रतिबन्ध समाप्त हो जायें। केवल मनुष्यो की हथकड़ियों को दूर कर देना पर्याप्त नहीं है बल्कि उसके समस्त शारीरिक, भौतिक और मनोवैज्ञानिक बन्धन टूटें ताकि वह अपने हाथ पाँवों की शक्ति का पूरा उपयोग और उपभोग कर सके।

राय के अनुसार स्वतत्रता एक नकारात्मक अवधारणा नहीं है और न ही यह अस्पष्ट विचार है। यह तो मनुष्य की शक्ति, प्रकृति और प्रतिभा का संतुलित सामंजस्य है जिसके द्वारा वह अपने विकास के चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाता है। उसको अपना कार्यक्षेत्र चयन करने के अवसर प्राप्त हैं और जितने अधिक अवसर उसे प्राप्त होंगे उतने ही अनुपात मे वह ज्यादा स्वतंत्रता का उपभोग करेगा और जितनी ज्यादा स्वतंत्रता का वह उपभोग करेगा उतनी ही अधिक विकसित स्थिति को वह प्राप्त होगा। राय के अनुसार किसी सामाजिक व्यवस्था की श्रेष्ठता का मापदण्ड यही है कि वह मनुष्य को अपना कार्य चुनने एवं उसे संपादित करने के अधिकाधिक अवसर प्रदान करे। राय के अनुसार मनुष्य के विकास और उसकी स्वतंत्रता के मध्य प्रत्यक्ष और सकारात्मक संबंध हैं। राय बहुत साफ साफ कहते हैं कि स्वतंत्र समाज की कसौटी यही है कि वह मनुष्य को सकारात्मक दृष्टि से कितनी स्वतंत्रता प्रदान करता है।[1]

राय स्वतंत्रता का यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हुये कुछ प्रश्न पूछते हैं। प्रश्न हैं – हमारी मूल समस्या क्या है? मानव अस्तित्व का अर्थ क्या है? क्या यह जीवन

---

1 एम. एन. राय, बियान्ड कम्युनिज्म, पृ 98
रीता सिन्हा द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 44

स्तर उन्नत करना है ? क्या समाज का पुनर्गठन करना है ? क्या अधिक उत्पादन, अधिक संसाधनो की तलाश मे पूँजीवाद का विकल्प ढूढना है ? क्या यह ताबड़तोड प्रतिस्पर्द्धा के स्थान पर नियोजित अर्थव्यवस्था को लाना है ? राय कहते है कि ये सारे प्रश्न महत्त्वपूर्ण हैं लेकिन क्या इनके उत्तर हमे उद्देश्य की ओर ले जाते हैं ? या ये और भी उदात्त ध्येय की ओर अग्रसर करते हैं। नि सन्देह हमारा ध्येय अधिक उच्च और श्रेष्ठ है। राय स्पष्ट तौर पर घोषणा करते हैं कि समस्त मानवीय प्रयासो एवं मनुष्य के सपूर्ण अस्तित्व का एक ही उद्देश्य है और वह है स्वतत्रता।

एम एन राय आध्यात्म की भी बात करते हैं और उसे स्वतंत्रता से जोड़ते हैं। वह[1] लिखते हैं कि 'आध्यात्मिक स्वतत्रता की इच्छा, यद्यपि यह अर्द्धचेतन मन के क्षेत्र मे रही है, मानव जीवन के प्रारभ से ही संपूर्ण मानव विकास की प्रेरक रही है। यह भावना महत्त्वपूर्ण है कि मनुष्य स्वतंत्र प्राणी है। वह अपने विवेक के अनुसार कार्य करने के लिए स्वतंत्र है और उसमे सही और गलत के बीच अन्तर करने की क्षमता है और वह मानव से ऊपर किसी शक्ति के अधीन नहीं है। धर्म अपने मे मनुष्य की आध्यात्मिक स्वतंत्रता हेतु मानव इच्छा की अभिव्यक्ति है। ... चिरन्तन काल से एक प्रश्न जो मानव मस्तिष्क को उद्वेलित करता रहा है वह यह है कि अनुभव के इस मृत्यु लोक मे मनुष्य स्वतंत्र कैसे रह सकता है ? सामाजिक और राजनीतिक दर्शन का उद्देश्य इस पुरातन प्रश्न का उत्तर देता है और इस उत्तर मे व्यावहारिक धरातल पर निदान मिलना चाहिये। एक संतोषजनक उत्तर मे सिद्ध करने की यह संभावना निहित होनी चाहिये कि स्वतंत्रता मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। मनुष्य की संप्रभुता का विचार धार्मिक सिद्धान्त से अधिक अर्थपूर्ण है जबकि यह ज्ञात हुआ कि स्वतंत्रता की इच्छा मानव की विरासत है और यह सिद्ध हो चुका है कि मनुष्य आध्यात्मिक स्वतंत्रता का अधिकारी है। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य को नियति या अलौकिक शक्ति मे विश्वास करने की आवश्यकता नहीं है। आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान इसका प्रमाण देता है। यह चेतना कि मनुष्य स्वतंत्र होने मे समर्थ है, उसे स्वतंत्र बना देती है और आध्यात्मिक रूप से स्वतंत्र मनुष्य एक स्वतंत्र समाज का निर्माण करता है।'

एम एन राय विज्ञान पर जोर देते हैं और विज्ञान को सत्य मानते हैं। उनका कथन है कि विज्ञान मनुष्य को जड़ता, मिथ्या विश्वासो और अज्ञात भय से मुक्त करता है। अत: विज्ञान मनुष्य का मुक्तिदाता है। उन्ही के शब्दों मे[2], 'वैज्ञानिक ज्ञान मनुष्य को उसके अस्तित्व और जीवन के उद्देश्य के संबंध में अनन्तकाल से चले आ रहे पूर्वाग्रहों से मुक्त करता है। यह मानव स्वभाव के सत्य का रहस्योद्‌घाटन करता है। मनुष्य वस्तुत:

1 एम एन राय, न्यू ह्यूमनिज्म, दि रेडिकल ह्यूमनिस्ट, वोल्यूम पृ 39-40, 26 दिसम्बर 1965, पृ 473
2 एम एन राय, न्यू ह्यूमनिज्म, वही जरनल, पृ 479

विवेकशील प्राणी है। उसकी प्रकृति प्रश्न और खोज करने की है न कि विश्वास कर लेने की। यह अज्ञान के अंधकार में चला जाता है, वह अपनी बुद्धि और नियंत्रण से दूर जाकर अंधविश्वास का शिकार बन जाता है, ऐसी भयावह स्थिति से केवल ज्ञान ही मुक्ति दिलाकर उसके पथ को आलोकित करता है। मनुष्य के पास सत्य केवल उसका ज्ञान ही है। जब ज्ञान की रोशनी उसके विवेक को जगाती है तो वह अज्ञान पर आधारित अनेक परिकल्पनाओं को त्याग देता है।'

एम. एन. राय विज्ञान पर भी मानव की सम्प्रभुता की घोषणा करते हैं। वह मनुष्य को विज्ञान का स्वामी मानते हैं, दास नहीं। विज्ञान मनुष्य की सर्वोच्चता को विस्तृत करने में सहायक है बाधक नहीं। पुन: उन्हीं के शब्दों में[1], 'नव मानववाद आधुनिक विज्ञान की शक्ति पर भी मनुष्य की संप्रभुता की घोषणा करता है जिसने मनुष्य के यथार्थ को उजागर कर दिया है। यह बताता है कि एक विवेकशील और नैतिक समाज संभव है क्योंकि मनुष्य स्वभाव से ही विवेकशील है और इसलिये नैतिक भी है। ऐसा यह किसी के बन्धन में आकर नहीं है बल्कि स्वेच्छा से है चूँकि नैतिकता मानव स्वभाव में ही निहित है।'

मानवेन्द्रनाथ राय ने जिस नव मानववाद की अवधारणा प्रस्तुत की उसमें राष्ट्रवाद का कोई स्थान नहीं है। नव मानववाद राष्ट्रवाद की संकीर्ण सीमाओं में आबद्ध नहीं किया जा सकता। यह तो एक विश्वव्यापी विचार है। 'नवीन मानववाद विश्वराज्यवादी है। आध्यात्मिक दृष्टि से स्वतंत्र व्यक्तियों का विश्वराज्य राष्ट्रीय राज्यों की सीमाओं से परिबद्ध नहीं होगा – वे राज्य पूँजीवादी, फासीवादी, समाजवादी, साम्यवादी अथवा अन्य किसी प्रकार से क्यों न हों? राष्ट्रीय राज्य मानव के बीसवीं शताब्दी के पुनर्जागरण के आघात से धीरे-धीरे विलुप्त हो जायेंगे। राय ने विश्वराज्यवाद तथा अन्तर्राष्ट्रवाद के बीच भेद किया है। उन्होंने आध्यात्मिक समाज अथवा विश्वराज्यवादी मानववाद का समर्थन किया है। अन्तर्राष्ट्रवाद में पृथक् राष्ट्रीय राज्यों के अस्तित्व का विचार निहित है। राय के अनुसार एक सच्ची विश्व सरकार की स्थापना राष्ट्रीय राज्यों का निराकरण करके ही की जा सकती है।'[2]

जयप्रकाश नारायण की भाँति एम. एन. राय भी दलविहीन जनतंत्र की बात करते हैं। वह दलों को एक बुराई मानते हैं। दल और उनके नेता बिचौलियों और दलालों की भूमिका अदा करते हैं और जनता को सत्ता से वंचित कर देते हैं। प्रशासन में जनता की सीधी सहभागिता तभी संभव है जबकि बीच में दल और उनके नेता नहीं हों। सच्चा लोकतंत्र केवल दलविहीन ही हो सकता है। इस प्रकार राय दलविहीन लोकतन्त्र

1. एम. एन. राय, न्यू ह्यूमनिज्म, वही जनरल, पृ 479.
2. वी. पी. वर्मा, वही पुस्तक, पृ 519.

की स्थापना करना चाहते थे। ऐसे लोकतंत्र को उन्होंने संगठित लोकतंत्र' की संज्ञा दी है। वह जन समितियों के निर्माण के पक्षधर थे जिनके माध्यम से जनकल्याण की योजनाओ का कार्यान्वयन हो सकता है। वह इस बात पर जोर देते थे कि हमें अपना परम्परागत सोच बन्द करना चाहिये जिसके अनुसार राजनीति का एक मात्र स्वरूप सत्ता-प्रधान राजनीति ही है। सत्ता को साध्य मानकर चलने से ही तो सारी बुराइयाँ पनपती हैं और सत्ता की यह अवधारणा कि यह अपरिहार्य तत्त्व है, अनेक समस्याओ को जन्म देती है, राय ने दलविहीन राजनीति के संचालन हेतु विस्तृत योजना भी प्रस्तुत की।

राय फासिज्म के कट्टर विरोधी हैं क्योंकि इसमें मनुष्य समूल रूप से नष्ट हो जाता है। द्वितीय विश्व युद्ध के मूल में फासिज्म ही था और वैसे वह साम्राज्यवाद के विरुद्ध थे लेकिन फासिज्म को साम्राज्यवाद के मुकाबले बड़ा खतरा मानते थे। उन्होने फासिज्म को नष्ट करने हेतु अपील की और कहा कि फासिज्म के विरुद्ध सघर्ष में इंगलैंड, फ्रांस और अमेरिका का द्वितीय विश्व युद्ध में समर्थन करना अनुचित नहीं है। उन्होने 1942 के भारत छोडो आन्दोलन का विरोध किया और कांग्रेस को एक फासिस्ट संगठन तक कह दिया। इसके कारण एम एन राय की कांग्रेसी नेताओ और अन्य राष्ट्रवादियों द्वारा कठोर भर्त्सना भी की गई। यद्यपि राय की तीव्र आलोचना की गई है लेकिन राय के समर्थकों ने राय के इस दृष्टिकोण को उचित ठहराया। प्रसिद्ध रायवादी वी. एम तारकुंडे का मत है कि यदि भारत छोडो आन्दोलन सफल हो जाता तो यह 'एन्टर इंडिया मुवमेंट' [1] सिद्ध होता और फासिस्ट जापानी सेनाओ के लिए भारत प्रवेश का मार्ग प्रशस्त हो जाता।

मूल्यांकन

नि सन्देह राय आधुनिक भारत के आकर्षक व्यक्तित्वो मे से एक थे। उनका बहुआयामी व्यक्तित्व था और बौद्धिक जगत मे उनके समकक्ष व्यक्ति बहुत कम हुये हैं। वह जीवन भर सघर्ष करते रहे और आखिर तक सत्य की खोज मे संलग्न रहे। मनुष्य की स्वतंत्रता उनके समस्त चिन्तन के मूल मे है और इसे अक्षुण्ण बनाये रखने का रास्ता वह ढूँढ़ते रहे। बौद्धिक स्तर एवं कर्म के धरातल पर वह इसके लिए जूझते रहे। मार्क्सवाद से उनकी आस्था इसीलिये डिगी कि इसमे समष्टि के हेतु व्यष्टि का लोप हो जाता है और समष्टि के नाम पर चन्द लोग अपना वर्चस्व स्थापित कर लेते हैं।

राय के आलोचक उन्हे भौतिकवाद और आध्यात्म के बीच झूलता हुआ देखते हैं। लेकिन उनकी आध्यात्म की अवधारणा एक भौतिकवादी का चिन्तन है, उनके लिए केवल ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त अनुभव का ही महत्त्व है। आन्तरिक प्रेरणा और इन्द्रियो से परे जाकर ध्यानातीत अवस्था को वह स्वीकार नहीं करते। भारतीय संस्कृति की मूल

1 वैना मिश्रा, वही पुस्तक, पृ 93

भावना को उन्होंने नहीं समझा और आध्यात्म का एक पक्षीय दृष्टिकोण ही पकड़ा जिसके कारण वह गहराई मे प्रवेश नहीं कर पाये। वस्तुत: यह उनके परिवेश और शिक्षा-दीक्षा से परे की बात थी। मूल त्रुटि यह है कि उन्होंने एक भौतिकवादी की दृष्टि से आध्यात्म को देखा जबकि इसे समझने का यह तरीका नहीं है।

उनके चिन्तन मे कितना विरोधाभास है ? उन्होने गाँधी को कभी स्वीकार ही नहीं किया बल्कि वह उनके कटु आलोचक ही बने रहे। उन्होने गाँधी चिन्तन को मध्ययुगीन एवं उनकी जीवन शैली को आदिम बताया, लेकिन जीवन के साध्याकाल मे उनका अचेतन और अर्द्धचेतन मन गाँधी के बहुत नजदीक चला गया। स्वतंत्रता की अवधारणा, दलविहीन राजनीति, पचायती राज की अवधारणा, राज सत्ता एव राष्ट्रवाद की अवधारणा का विवेचन करे तो ऐसा लगेगा कि मानो राय और गाँधी आपस मे बातें कर रहे हैं जिनमें सहमति अधिक है। लेकिन राय की भाषा ऐसी है जिससे लगता है कि वह भिन्न धरातल पर खड़े हैं। उदाहरणार्थ वैज्ञानिक राजनीति में उन्होने लिखा है 'क्रांतिकारी राजनीति को वैज्ञानिक दर्शन से प्रेरणा लेनी चाहिये। उस प्रेरणा के बिना राजनीति जनोतेजको, छलियो और चाकरी ढूढ़ने वालो का अखाड़ा बन जाती है। राजनीति का आध्यात्मीकरण नहीं किया जा सकता है। आध्यात्मिक अथवा नैतिक राजनीति प्राय ठगो और धूर्तों का आश्रय हुआ करती है। हमें स्वयं इसका अनुभव है।'[1]यदि आध्यात्म में एम एन राय का विश्वास है तो राजनीति का आध्यात्मीकरण क्यों नहीं हो सकता। जो एक व्यक्ति कर सकता है उसे करने का परीक्षण समूह भी कर सकता है। यहाँ गाँधी स्पष्ट हैं और एम एन राय अस्पष्ट। गाँधी की बात से कोई असहमत हो यह दूसरी बात है।

नि.सन्देह मानवेन्द्रनाथ राय अत्यन्त प्रतिभाशाली, कर्मठ एवं विद्वान पुरुष थे। लेकिन मानव स्वतंत्रता की उनकी अवधारणा कोई नयी नहीं है। प्राचीन भारतीय चिन्तन का मूलाधार ही मानव स्वतंत्रता है। यही कारण था कि मानव जीवन का ध्येय ईश्वर से साक्षात्कार न मानकर सत+चित+आनन्द की प्राप्ति रखा गया। अहं ब्रह्मास्मि तक कह दिया गया। इस ध्येय की प्राप्ति हेतु मनुष्य को समस्त बधनो से मुक्त किया गया और उसे ही अपने भाग्य का निर्माता माना गया। सारे चिन्तन में केवल कर्म पर जोर दिया गया। राय भारतीय चिन्तन मे अवस्थित स्वतंत्रता की अवधारणा के मर्म को नहीं स्पर्श कर पाये क्योंकि वह यौवन काल के प्रथम पन्द्रह वर्ष तक देश निर्वासित रहे और फिर छ: वर्ष जेल मे रहे। सोवियत रूस में वह पक्के साम्यवादी बने और फिर जब उनका साम्यवाद से मोह भंग हुआ तो वह भारत लौटे और यहाँ वह गाँधी और कांग्रेस के आलोचक बने रहे। कुछ आलोचको का मत है कि स्वयं को बुद्धिवादी और आधुनिक कहलाने के चक्कर मे उन्होने भारतीय संस्कृति, राष्ट्रीय आन्दोलन और गाँधी की भर्त्सना करना प्रारम्भ कर दिया।

1 एम एन राय, साइन्टिफिक पॉलिटिक्स, पृ 51-52
  वी पी वर्मा द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 524

यद्यपि यह आलोचना कुछ अधिक तीखी मालूम देती है लेकिन यह भी सच है कि एम एन. राय अपने व्यक्तित्व और कृतित्व की छाप गाँधी की तरह भारत के जन मानस पर नहीं छोड पाये। निस्सन्देह वह बौद्धिक स्तर पर अवश्य छाये रहे और इस क्षेत्र मे उनकी ख्याति देश की सीमाओं को अवश्य लाघ गई। हम उनके समग्र आकलन मे प्रोफेसर विश्वनाथ प्रसाद वर्मा से सहमत हैं जो उन्होंने मानवेन्द्रनाथ राय के बारे में इन पंक्तियों में लिखा है। 'उन्होंने कोई नयी चिन्तन धारा नहीं दी है। उन्होंने न तो राजनीतिक शास्त्र के क्षेत्र में और न दर्शन में ही किसी पूर्णत: विकसित अविकल विचार पद्धति का प्रतिपादन किया है। वे बुद्धिवादी पुनर्जागरण, भौतिक यथार्थवादी, ब्रह्माण्ड शास्त्र, मानववादी आचारनीति तथा स्वतंत्रता की उत्कट अभिलाषा को एक बिन्दु पर केन्द्रित करना चाहते थे और इसी दिशा में उन्होने प्रयत्न किया। किन्तु जो समन्वय अन्ततोगत्वा उभरकर सामने आया है वह न तो गंभीर है और न मौलिक फिर भी वर्तमान काल मे राजनीतिक चिन्तन पर लिखने वाले ······ जो भारतीय हुए हैं उनमें राय संभवत· सबसे अधिक विज्ञ और विद्वान थे। मानववाद के आध्यात्मिक और सश्लिष्ट स्वरूप पर अधिक शोध और चिन्तन की आवश्यकता है।'[1]

जवाहरलाल नेहरू

(1889-1964)

एक अत्यधिक सम्पन्न परिवार मे जन्मे जवाहरलाल पर परिवेश के पड़ने वाले प्रभाव को उन्होने स्वयं स्वीकार किया है। एक रईस की सन्तान की भाँति उनका लालन-पालन हुआ। प्रारंभ में पड़े प्रभावों मे थियोसोफी, विज्ञान और बौद्ध साहित्य का जिक्र किया जा सकता है। पिता मोतीलाल के व्यक्तित्व का प्रभाव भी स्पष्ट है, बौद्धिक दृष्टि से कार्ल मार्क्स का और बाद के वर्षों में मोहनदास करमचन्द गाँधी का प्रभाव है। शिक्षा दीक्षा पर पश्चिमी प्रभाव और विशेष तौर पर हैरो और कैम्ब्रिज की झलक उनके व्यक्तित्व में मिलती है। इलाहाबाद उच्च न्यायालय में मई 1922 मे नेहरू ने इस बात को स्वीकारा कि हैरो और कैम्ब्रिज के पूर्वाग्रहों, पसन्दों और नापसन्दों के मामलों मे मैं हिन्दुस्तानी कम अंग्रेज ज्यादा था। यद्यपि उन्होंने बार-एट ला की डिग्री प्राप्त कर ली लेकिन कानून में उनकी विशेष रुचि नहीं थी। इंगलैंड प्रवास के दौरान वह फेबियन्स और समाजवादियों की ओर आकृष्ट हुये। उन्होंने बौद्धिक स्तर पर राष्ट्रीय आन्दोलनों, सामाजिक परिवर्तनों, अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का गहन अध्ययन किया।

भारत लौटने पर उन्होंने कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण की। वह एनीबीसेन्ट की होमरूल लीग में भी शामिल हुये। उनकी महात्मा गाँधी से प्रथम भेंट कांग्रेस के 1916 में आयोजित लखनऊ अधिवेशन में हुई, लेकिन इस भेंट मे वह गाँधी से प्रभावित नहीं

---

1 विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, वही पुस्तक, पृ 526

हुये। वह गाँधी की ओर 1919 में आकृष्ट हुये जबकि उन्होंने ब्रिटिश सरकार के रौलट एक्ट और अन्य दमनकारी कृत्यों का विरोध किया। अमृतसर की जलियांवाले बाग की घटना ने तो जवाहरलाल को झकझोर दिया। गाँधी की तरह उन्होंने भी ब्रिटिश शासन से न्याय की आशा छोड़ दी।

1920 मे जवाहरलाल अवध में हुये किसान आन्दोलन के सपर्क में आये जिससे उनका दृष्टिकोण ही बदल गया। उनको पहली बार पता चला कि किसान की कितनी दयनीय हालत है और वह कितनी विषम परिस्थितियो मे रहता है। उनकी ग्रामीण भारत में रुचि बढ़ी और गरीबों और मोहताजों की समस्या हेतु समाजवाद मे आस्था जागृत हुई। वैसे इगलैंड प्रवास मे उनका फेबियन एवं अन्य प्रकार के समाजवादियो से सपर्क हो चुका था और बौद्धिक धरातल पर वह उनकी ओर आकृष्ट भी हुये थे।

1920 में कांग्रेस का नागपुर अधिवेशन सपन्न हुआ और इसी के साथ एक नये युग की शुरूआत हुई जिसे स्वतंत्रता आन्दोलन के इतिहास मे गाँधी युग के नाम से जाना जाता है। जब गाँधी ने 1921 में असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया तो जवाहरलाल ने इसमे प्रमुख रूप से भाग लिया। वह स्वतत्रता आन्दोलन में कूद पड़े और उनकी जेल यात्राओ की शुरूआत होने लगी। अब वह गाँधी के बहुत नजदीक आने लगे और अच्छे साध्य हेतु अच्छे साधनों की अवधारणा से प्रभावित हुये। उनको लगा गाँधी भारत की आशा हैं और उनके नेतृत्व में देश को सही दिशा मिल पायेगी।

1926 में नेहरू ने यूरोप की यात्रा की और 1927 मे वह सोवियत रूस गये। इन यात्राओं का उनके चिन्तन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। ब्रुसेल्स में हुई दलित राष्ट्रों की कांग्रेस मे उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया और उन्हें यूरोपीय मजदूर संगठनो के अन्तर्विरोधों की जानकारी मिली। वह साम्यवाद की ओर आकृष्ट हुये। सोवियत सघ की यात्रा का उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्हें लगा कि किसानो और मजदूरो की स्थिति सुधारने में साम्यवादी व्यवस्था कारगर साबित हो सकती है। यद्यपि साम्यवाद में पूर्णतया तो उनकी आस्था नहीं जमी, लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति उनके मन मे अरुचि अवश्य उत्पन्न हुई। उनका मन राष्ट्रवाद और साम्यवाद मे उलझता रहा और इन दोनों मे समन्वय स्थापित करने की इच्छा बनी रही। चूँकि उनकी राष्ट्रवाद की अवधारणा उदारवाद पर टिकी हुई थी इसलिये जनतंत्र उनकी विचारधारा का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया। इसी आस्था ने उन्हें साम्यवादी बनने से रोका क्योंकि वह किसी ऐसी विचारधारा को पूर्णरूप से स्वीकार नहीं कर सकते थे जिसका आधार लोकतांत्रिक न हो। यही कारण था कि उन्होंने केवल समाजवाद की अवधारणा को स्वीकार नहीं किया बल्कि एक नई अवधारणा को विकसित किया जिसे लोकतांत्रिक समाजवाद के नाम से जाना जाता है। इसके संबंध में आगे के पृष्ठों में यथास्थान चर्चा की जायेगी।

1929 मे जब वह चालीस वर्ष के हुये उन्हे एक बहुत बडा सम्मान मिला। वह कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन के अध्यक्ष निर्वाचित हुये और उन्होने अपने प्रथम अध्यक्षीय भाषण मे कहा 'मैं इस बात को स्वीकार करता हूँ कि मैं समाजवादी और गणतंत्रवादी हूँ और मैं न राजाओ में और न ही एक ऐसी व्यवस्था मे विश्वास करता हूँ जिसमे बड़े-बड़े उद्योगपति हो, भारत को समाजवाद मे विश्वास करना पडेगा यदि वह अपनी गरीबी और असमानता मिटाना चाहे यद्यपि उसे इसके लिए अपने रास्ते ढूंढने होगे।'[1] इसके बाद वह कई बार कांग्रेस अध्यक्ष बने और 2 सितम्बर 1946 में जो अन्तरिम सरकार बनी उसके वह उपाध्यक्ष थे। 15 अगस्त 1947 को वह देश के प्रथम प्रधानमंत्री बने जिस पद पर जीवनपर्यन्त वह 27 मई 1964 तक रहे।

लेखक के रूप मे जवाहरलाल नेहरू को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिली। उनकी प्रसिद्ध पुस्तकें निम्नलिखित हैं –

1. सोवियत् रसिया
2. लैटर्स फ्राम ए फादर टू हिज डाटर
3. ग्लिम्पसेज ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री
4. आटोबायोग्राफी
5. दि डिस्कवरी ऑफ इंडिया
6. दि यूनिटी ऑफ इंडिया

नेहरू के राजनीतिक विचार

जवाहरलाल नेहरू को उदारवादी, जनतंत्रवादी, समाजवादी कहा जाता है। उन्हें लोकतांत्रिक समाजवाद का जनक भी माना जाता है। उन्हें राष्ट्रवादी अन्तर्राष्ट्रवादी और शांतिवादी भी माना जाता है। धर्मनिरपेक्षता, संसदीय जनतंत्र और मिश्रित अर्थव्यवस्था की अवधारणा से उनका नाम जुड गया है। वह प्रतिभाशाली लेखक थे जिन्होने अपनी कृतियो से तृतीय विश्व के बुद्धिजीवियो को प्रभावित किया है। वह गुट निरपेक्ष आंदोलन के जनक थे और अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व के धनी थे।

संक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि उन्होने जनतांत्रिक ढांचे के अन्तर्गत सामाजिक परिवर्तन और राष्ट्रनिर्माण की प्रक्रिया को मजबूत किया। उन्होने भारत जैसे एक परम्परावादी समाज को राज्य के माध्यम से परिवर्तित करने का प्रयास किया, जनतांत्रिक ढांचे की परिधि मे नियोजित विकास की प्रक्रिया को प्रारंभ किया। जाति, धर्म और नस्लवाद से आक्रान्त सामाजिक व्यवस्था में धर्म निरपेक्षता की अवधारणा को प्रशस्त किया। संसदीय व्यवस्था के अन्तर्गत समाजवादी समाज की स्थापना का प्रयास

---

1 जवाहरलाल नेहरू ग्लिम्पसेज ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री, लन्दन, लिंडसे ड्रमन्ड पृ 815

किया। अपने समकालीन दो गुटों में विभाजित विश्व में एक गुट निरपेक्ष आन्दोलन को सक्रियता प्रदान की और इसे एक तृतीय शक्ति के रूप में विकसित करने का प्रयास किया।

राज्य

नेहरू का विचार है कि सामाजिक संगठन की प्रक्रिया पर जब विचार करते हैं तो राज्य की अवधारणा प्रमुख रूप से उभर कर आती है क्योंकि राज्य व्यक्ति को आन्तरिक और बाह्य खतरों से सुरक्षा प्रदान करता है और व्यक्ति के विकास हेतु अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करता है। वह नहीं मानते कि राज्य अपने में साध्य है और जो कुछ करे वह जायज है। वह राज्य को अपूर्ण दिमाग की बात मानते हैं लेकिन इसका कोई विकल्प नहीं है और यह सामाजिक संगठन की धुरी है। इसी के इर्द-गिर्द सामाजिक क्रियाकलाप घूमते रहते हैं। मानव जीवन संघर्षमय है। जीवन में आपाधापी और प्रतिस्पर्द्धा है। व्यक्तियों के स्वार्थ आपस में टकराते हैं, लेकिन क्योंकि सम्मानपूर्वक जीने और व्यक्तिगत विकास का अधिकार सभी को है इसलिये राज्य एक महत्वपूर्ण सशक्त व्यवस्था के रूप में उभर कर आता है। लेकिन यह निरंकुश नहीं हो सकता क्योंकि इसकी शक्तियों का परिसीमन उन कार्यों के संपादन से होता है जिसके लिए वह अस्तित्व में आया है। राज्य के पास बाध्यकारी शक्ति है लेकिन उसका उपयोग वह केवल जनहित में कर सकता है। जनता की सुरक्षा यदि खतरे में है तो वह हिंसात्मक और बाध्यकारी शक्ति के प्रयोग द्वारा अपना कार्य संपादित कर सकता है, लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि वह आन्तरिक शासन के लिए भी सदा बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग करे। नेहरू के अनुसार बाध्यकारी और हिंसात्मक शक्ति पर आधारित राज्य निरंकुश हो जाता है और ऐसा दमनकारी राज्य जन विरोधी होने के कारण त्याज्य है।

यद्यपि वह आवश्यकतानुसार व्यावहारिक क्षेत्र में राज्य के कार्यों के सम्पादन में हिंसात्मक प्रवृत्ति के समर्थक हैं लेकिन इसके पीछे जनहित की भावना होनी चाहिए। वह व्यक्ति या समूहों की हिंसा के मुकाबले राज्य के कानूनों और आज्ञाओं में झलकती हिंसा को पसन्द करते हैं लेकिन इसका औचित्य तब ही है जबकि इसके प्रयोग से सामाजिक विकास हो जिसमें व्यक्तिगत विकास अनिवार्यतः सम्मिलित है।

नेहरू राज्य में आस्था रखते हैं और स्वीकार करते हैं कि सामाजिक परिवर्तन और राष्ट्रनिर्माण में इसकी महती भूमिका है। अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु यदि उसे अपनी बाध्यकारी शक्ति का उपयोग करना पड़े तो वह भी जायज है। इस शक्ति की आवश्यकता को नेहरू अनुभव करते हैं क्योंकि इसके अभाव में राज्य न तो कर[1] वसूल कर पायेगा और न ही सामाजिक परिवर्तन हेतु निहित स्वार्थों और विरोधी संगठित समूहों एवं

1 जवाहरलाल नेहरू : आटोबायोग्राफी पृ 540

अवाछनीय शक्तियो के विरुद्ध कार्यवाही ही कर सकेगा। नूतन व्यवस्था के निर्माण के लिए पुरानी अवाछनीय व्यवस्था को तोडना भी पड़ता है और उसके लिए राज्य ही कारगर साबित होता है।

नेहरू पर कार्ल मार्क्स और मोहनदास करमचन्द गाँधी दोनों का ही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वह राज्य के निर्माण में आर्थिक तत्त्वों के महत्त्व को स्वीकार करते हैं और यहाँ मार्क्स की व्याख्या के बहुत नजदीक पहुँच जाते हैं लेकिन वह राज्य के मानवीय स्वरूप को भी नजर अन्दाज नहीं करते और यहाँ आर्थिक तत्त्व प्रमुखता रखते हुए भी प्रमुखतम नहीं है। वह लोककल्याणकारी स्वरूप के समर्थक बन जाते हैं यद्यपि इसका आधार समाजवादी स्वीकार करते हैं। उनका विचार है कि लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना तब तक असंभव है जबतक कि समाज में आर्थिक सन्तुलन स्थापित न हो और निम्नतम और अधिकतम आय में ज्यादा अन्तर नहीं हो। लेकिन इसके साथ ही साथ वह इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि लोकल्याणकारी राज्य की स्थापना तबतक नहीं हो सकती जबतक कि राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि न हो।

सामाजिक परिवर्तन और राष्ट्रनिर्माण की प्रक्रिया मे राज्य की महती भूमिका को स्वीकार करते हुए भी नेहरू मानते हैं कि हिंसा और शक्ति पर आधारित होते हुए भी एक दिन ऐसा आ सकता है जबकि राज्य की बाध्यकारी शक्ति का ह्रास होने लगेगा और राज्य करीब-करीब मुर्झाने लगेगा।[1] नेहरू यहाँ कार्ल मार्क्स और महात्मा गाँधी के नजदीक चले जाते हैं। मार्क्स ने अन्ततोगत्वा राज्य के मुर्झाने की बात कही थी और गाँधी जिस सामाजिक व्यवस्था की बात करते हैं उसमें राज्य अत्यन्त दुर्बल होगा। लेकिन राज्य की अवधारणा को लेकर नेहरू न मार्क्सवादी हैं और न ही गाँधीवादी। मार्क्स और गाँधी जहाँ राज्य के स्वरूप को लेकर स्पष्ट बात करते हैं नेहरू के दृष्टिकोण में विरोधाभास है। वह मार्क्स की भांति राज्य को न तो प्रारम्भ में सर्वाधिकारी बनाते हैं और न ही गाँधी की तरह अत्यन्त विकेन्द्रित। वस्तुत. वह मार्क्स और गाँधी के बीच का रास्ता अपनाते हैं और कहीं कहीं भ्रमित और अस्पष्ट भी नजर आते हैं। भ्रमित और अस्पष्ट होने का कारण परिस्थितियाँ भी हो सकती हैं। गाँधी के प्रभाव में वह राजनीतिक आर्थिक विकेन्द्रीकरण हेतु पंचायती राज के हिमायती भी बनते हैं और बलवन्तराय मेहता समिति की सिफारिशें स्वीकार करते हुए पंचायती राज व्यवस्था का शुभारम्भ करते हैं, लेकिन दूसरी ओर मजबूत केन्द्र की जबर्दस्त वकालत करते हैं। कांग्रेस अध्यक्ष के नाते उन्होंने कैबीनेट मिशन प्लान को इसी आधार पर ठुकरा दिया था कि इसके अन्तर्गत कमजोर केन्द्र प्रस्तावित था। नेहरू ने पंचायतीराज संस्थाओं को सुदृढ बनाने की दृष्टि से उन्हे

---

1 अजीतसिंह द्वारा लिखित आधुनिक भारतीय राजनीतिक एवं समाजवादी विचारक, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली से उद्धृत पृ 285

शक्तियाँ और संसाधन उपलब्ध नहीं कराये जिससे स्पष्ट होता है कि उनकी केन्द्रीकृत राज व्यवस्था और नौकरशाही में आस्था थी तथा विकेन्द्रित व्यवस्था में विश्वास केवल सतही स्तर पर ही था। सार यह है कि सैद्धान्तिक स्तर यद्यपि वह मानते हैं कि केन्द्रीयकरण व्यक्ति की स्वतंत्रता पर आक्रमण है। वह व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करना चाहते हैं लेकिन वह साथ ही आधुनिक समाज में केन्द्रीयकरण को अपरिहार्य भी मानते हैं। इन दोनों में सन्तुलन कैसे किया जाय यही वास्तविक समस्या है।'[1]

समाजवाद

नेहरू ने स्वीकार किया कि वह समाजवादी हैं। 1927-28 में उनकी यूरोप और विशेष तौर पर सोवियत संघ की यात्रा का उनके चिन्तन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। जैसा कि पहिले भी उल्लेख किया जा चुका है कि 1920 में अवध के किसानों की दयनीय स्थिति से वह अत्यन्त व्यथित हुये और इस समस्या के समाधान के लिए वह व्यग्र हो उठते थे। सोवियत संघ की यात्रा से उन्हें इस समस्या का समाधान समाजवाद में मिला। इसकी अभिव्यक्ति उनके 1929 के लाहौर कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में मिलती है जिसमे उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि भारत की गरीबी और विषमता का अन्त केवल समाजवाद में निहित है। 1936 में भी उन्होने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि 'भारत की जनता की दरिद्रता, जबर्दस्त बेरोजगारी, हीनता तथा पराधीनता का अन्त करने के लिए मैं समाजवाद के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं देखता। इसके लिए हमारे राजनीतिक व सामाजिक ढांचे में एक महान् तथा क्रांतिकारी परिवर्तन होना, भूमि एवं उद्योगों में निहित हितों तथा सामन्तवादी और कुलीनतंत्रवादी भारतीय राज व्यवस्था का अन्त होना आवश्यक है। इसका अर्थ है व्यक्तिगत संपत्ति का अन्त कर देना तथा मौजूदा लाभ प्रणाली के स्थान पर सहकारी सेवा का एक उच्चतर आदर्श प्रतिष्ठित करना।'

वैसे समाजवाद को लेकर भारतीय समाजवादियों में अनेक धारायें रही हैं, कुछ इसे मार्क्सवाद के नजदीक ले गये तो अन्य इसे गाँधीवाद की ओर। चाहे प्रधानमंत्री के रूप में जवाहरलाल नेहरू ने समाजवादी कार्यक्रम के क्रियान्वयन मे कई स्थानों पर समझौते किये हों, लेकिन सैद्धान्तिक और बौद्धिक धरातल पर उन्होंने समाजवाद की जो अवधारणा विकसित की उसमें कहीं कोई अस्पष्टता नहीं है।

जीवन के संध्या काल में वह सहकारिता पर बल देने लगे थे, लेकिन इसका समाजवाद के मूल दर्शन से कहीं कोई विरोध नहीं है। नेहरू पर मार्क्स का प्रभाव स्पष्ट है लेकिन उन्हे मार्क्सवादी नहीं कहा जा सकता, उन पर गाँधी का प्रभाव है लेकिन वह गाँधीवादी भी नहीं हैं। वस्तुतः वह लोकतांत्रिक समाजवादी हैं क्योंकि उनका मानना

1. एम एन दास : दि पॉलिटिकल फिलोसफी ऑफ नेहरू, जार्ज एलन एण्ड अनविन लिमिटेड, लंदन, पृ 169.

है कि लोकतंत्र के बिना समाजवाद अधिनायकवादी बन जाता है और समाजवाद के बिना लोकतंत्र अभिजनवादी बन जाता है। उन्होंने 1933 मे अपनी बेटी इंदिरा को समाजवाद के बारे में इस प्रकार लिखा —

'मैंने कहा कि समाजवाद के अनेक प्रकार हैं। लेकिन कुछ मौलिक बातों में सबकी सहमति है और वह यह है कि इसका उद्देश्य उत्पादन के साधनो जैसे भूमि, खाने, फैक्ट्रियाँ आदि राज्य के नियंत्रण मे रखना है। साथ ही वितरण के साधन भी जैसे रेलवे, बैंक एव अन्य ऐसी सस्थाये भी राज्य के अधीन रहे। मूल बात यह है कि व्यक्ति को यह स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती कि वह किसी प्रकार इन सस्थाओ का और अन्य लोगो के श्रम का अपने हित मे शोषण कर सके।'[1]

उन्होंने 1959 में आजाद मेमोरियल लैक्चर्स में भी इन पाँच बातों पर जोर दिया। ये हैं — 1. उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व, 2 राष्ट्रीय ससाधनो का न्यायोचित वितरण, 3 सामाजिक क्रांति के अंग के रूप मे आर्थिक क्राति, 4 सामाजिक न्याय पर आधारित सामाजिक व्यवस्था और 5. सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया मे विज्ञान और तकनीक का प्रयोग।

प्रधानमत्री बनने के बाद नेहरू ने समाजवाद की दिशा मे कदम बढाये और राज्य के माध्यम से विकास और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को प्रशस्त करने का प्रयास किया। 1950 में राष्ट्रीय योजना आयोग की स्थापना की गई जो आर्थिक विकास की मुख्य संस्था बनी। 1956 में नेहरू ने औद्योगिक नीति के बारे मे जो प्रस्ताव रखा उसमें देश के नियोजित और तीव्र विकास हेतु मूलभूत और भारी उद्योगो के सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति नेहरू की प्रतिबद्धता इस तथ्य मे प्रतिलक्षित होती है कि कुल पूँजी निवेश का सार्वजनिक क्षेत्र में प्रतिशत निरन्तर बढता ही गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना में यह 43 प्रतिशत था, दूसरी योजना में 54 प्रतिशत, तीसरी योजना में यह बढ़कर 61 प्रतिशत और चौथी में 64 प्रतिशत हो गया।

समाजवाद : नेहरू, जयप्रकाश नारायण एवं डॉ. राममोनहर लोहिया

जयप्रकाश नारायण

(1902–1979)

जयप्रकाश के चिन्तन के विकास की लम्बी कहानी है। वैसे उनकी एक पुस्तक 'फ्राम सोशलिज्म टू सर्वोदय', इस परिवर्तन को स्पष्ट करती है। समाजवादी होने के पूर्व वह मार्क्सवादी थे। यह बात 1922 से 1929 तक उनके छात्र जीवन से जुड़ी हुई है जबकि वह अमेरिका में थे। यहाँ उन्होंने मार्क्सवाद को गहराई से पढ़ा और पाया कि

---

1 जवाहरलाल नेहरू ग्लिम्प्सेज ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री, पृ 851–52

गरीबों, शोषितों और दलितों के उत्थान का मंत्र इसमें निहित है। लेनिन के नेतृत्व मे रूस में हुई बोल्शेविक क्रांति से वह बहुत प्रभावित हुये। लेकिन भारत आने पर शीघ्र ही उनका भारतीय साम्यवादी दल से मोह भंग हो गया। इसका कारण साम्यवादियों द्वारा महात्मा गाँधी और इंडियन नेशनल कांग्रेस की, की जाने वाली तीव्र भर्त्सना थी। 1929 मे ही कांग्रेस ने अपने लाहौर अधिवेशन मे पूर्ण स्वाधीनता का ध्येय निर्धारित किया था। गाँधी को सविनय अवज्ञा आन्दोलन को चलाने हेतु कांग्रेस द्वारा अधिकृत किया जा चुका था। साम्यवादियो द्वारा गाँधी को पूँजीपतियों का एजेन्ट कहा जाना जयप्रकाश को असह्य लगा और उन्होने भारतीय मार्क्सवादियो से पृथक् रहकर गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस से जुड कर स्वाधीनता आन्दोलन मे स्वय को झोक दिया। लेकिन वह मार्क्स से बौद्धिक रूप से जुड़े रहे और भारत के समाजवादी आन्दोलन के प्रखर प्रवक्ता बने, लेकिन गाँधी का प्रभाव भी उनपर बढ़ता ही चला गया और अन्ततोगत्वा वह सर्वोदयी बन गये। 1957 मे दलगत राजनीति से सन्यास लेकर सर्वोदय आन्दोलन से जुड़ते समय उन्होंने जो वक्तव्य दिया वह महत्त्वपूर्ण है। प्रजा समाजवादी पार्टी से त्यागपत्र देते हुये उन्होने लिखा था, 'मेरे पिछले जीवन का रास्ता बाहर के लोगों को टेढ़ा-मेढ़ा और पेचीदा लग सकता है और वे उसे अनिश्चितता से भरा हुआ एवं अन्धेरे में टटोलना कह सकते है, लेकिन अब मैं अतीत पर दृष्टि डालता हूं तो मुझे उसमें विकास की एक अटूट रेखा दिखाई पड़ती है। उसमें राह खोजने का प्रयत्न था, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता, लेकिन वह अंधकारमय हरगिज नही था, मेरे सामने ऐसे कई प्रकाशमान आकाशदीप थे, जो प्रारंभ मे ही अधूमिल एवं अपरिवर्तित रहे और मेरे पेचीदा दिखाई पड़ने वाले रास्ते पर मेरा पथ-प्रदर्शन करते रहे।' ये आकाशदीप थे — स्वतंत्रता और समता। जयप्रकाश के चिंतन मे समय-समय पर कई परिवर्तन हुये हैं किन्तु बराबर उनका ध्येय एक ही रहा है — एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की खोज, जो इन दोनों मूल्यों पर आधारित हो। इसी खोज मे वे कभी मार्क्सवाद की ओर मुड़े, तो कभी गाँधीवाद की ओर। और अंत में इसी खोज मे उन्होने मार्क्सवाद एवं लोकतंत्र के सिद्धान्तो का समन्वय कर एक ऐसी विचारधारा का सृजन किया जो भारत में समाजवादी व्यवस्था को सबल आधार प्रदान करने की क्षमता रखती है।'[1]

एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण जिसमे व्यक्ति की स्वतत्रता अक्षुण्ण रहे और साथ ही उसकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी संभव हो सके, जयप्रकाश के चिन्तन का मुख्य विषय रहा। इसके लिए वह संघर्षरत रहे और इस प्रयास मे उनका जीवन खप गया। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के शब्दों में, जयप्रकाश के उत्कृष्ट रूप तब होते हैं जब वे संघर्षरत होते हैं। हरिकीर्तन का शांत रूप जे. पी. का रूप नहीं है, उनका

1 विमल प्रसाद, जयप्रकाश की वैचारिक विकास के मोड़, धर्मयुग 9 अक्टूबर, 1977 पुरुषोत्तमनागर द्वारा उद्धृत आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पृ 555

श्रेष्ठ और सत्य रूप है संघर्ष, अभियान और यही वास्तविक संदर्भ है उनका दूसरो से जुड़ने का। वे हर वक्त चारों ओर, व्यक्ति-व्यक्ति मे यही सूत्र ढूंढते रहते हैं कि संघर्ष बिन्दु कहाँ है ? वही जगाते हैं और उतने ही जगते हैं। वही टूटा, उलझा हुआ सूत्र सहेज कर बांधते हैं और उससे खुद बंधते हैं।

बंध कर वे मुक्त होते हैं,
संघर्षरत होकर वे शांत रहते हैं।[1]

जयप्रकाश नारायण की कृतियाँ

1. व्हाई सोश्लिज्म
2. टूवर्ड्स स्ट्रगल
3. ए पिक्चर ऑफ सर्वोदय सोशल आर्डर
4. सर्वोदय एण्ड वर्ल्ड पीस
5. स्वराज्य फार मासेज
6. ए प्ली फार दी रिकन्स्ट्रक्सन ऑफ दी इंडियन पोलिटी सोश्लिज्म, सर्वोदय एण्ड डिमोक्रेसी (विमला प्रसाद द्वारा संपादित)

प्री बेसिक प्रोबलम्स ऑफ फ्री इंडिया

नि.सन्देह जयप्रकाश भारत में समाजवादी आन्दोलन के अग्रदूतों मे एक थे। महात्मा गाँधी ने कहा है कि जयप्रकाश समाजवाद के सबसे बड़े भारतीय विद्वान हैं। उनके अनुसार समाजवाद सामाजिक पुनर्रचना की व्यवस्था है। समाजवाद जीवन की एक पद्धति है, यह नवीन मानवीय मूल्यो का प्रतीक है। वह समाज मे असमानता, गरीबी और मोहताजी का कारण मनुष्यो में अन्तर्निहित क्षमताओं का अन्तर नही मानते बल्कि समाज में व्याप्त बुराइयाँ हैं जो मानव की स्वतंत्रता और अस्मिता को नष्ट कर देती हैं। जयप्रकाश पूँजीवादी व्यवस्था के कट्टर आलोचक रहे हैं क्योंकि यह शोषण पर आधारित है। इसके अन्तर्गत न केवल मनुष्य की क्षमतायें ही नष्ट होती हैं बल्कि उसका जीवनयापन तक मुश्किल हो जाता है। समाजवाद केवल जीवन दर्शन ही नही है बल्कि सामाजिक जीवन का एक नियामक तत्त्व एवं शैली है। यह व्यष्टि और समष्टि के मध्य सन्तुलन करता है और एक संतुलित एवं श्रेष्ठ समाज की स्थापना करता है जिसमे व्यक्ति न केवल अपने को सुरक्षित ही अनुभव करता है बल्कि उन सभी परिस्थितियों को अपने अनुकूल पाता है जिनके अन्तर्गत मनुष्य अपना सर्वांगीण विकास कर सके। यह एक वर्गविहीन समाज होगा जिसमें श्रम की प्रतिष्ठा होगी और मनुष्य शोषण मुक्त होगा। समाजवाद को जयप्रकाश ने निम्न शब्दों में परिभाषित किया है —

'समाजवादी समाज एक ऐसा वर्ग विहीन समाज होगा जिसमें सब श्रमजीवी होगे। इस समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति के लिए मनुष्य के श्रम का शोषण न होगा।

1 डॉ लक्ष्मीनारायण लाल . जय प्रकाश, धर्मयुग, 8 सितम्बर, 1974

इस समाज में सारी सम्पत्ति सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय अथवा सार्वजनिक सम्पत्ति होगी। अनार्जित तथा आय से संबंधित भीषण विषमतायें सदैव के लिए समाप्त हो जाएंगी। ऐसे समाज में मानव जीवन तथा उसकी प्रगति योजनानुकूल होगी और सब लोग सबके हित के लिए जीवित रहेंगे।[1]

सार रूप में जयप्रकाश ने समाजवादी समाज की संरचना में श्रम एवं सामूहिक हित पर जोर दिया है। यहाँ सामाजिक एवं आर्थिक विषमतायें समाप्त हो जायेंगी। समाजवाद की परिभाषा देते हुए जवाहरलाल नेहरू भी करीब करीब ऐसी ही बात कहते हैं। नेहरू इसमें कुछ और जोड़ देते हैं, वह वर्तमान लाभ-प्रणाली के स्थान पर सहकारिता के उच्च आदर्श को अपनाने पर जोर देते हैं। यद्यपि जयप्रकाश ने जीवन के संध्या काल में सर्वोदय को विकल्प माना लेकिन जवाहरलाल गरीबी, बेरोजगारी, अपमान एवं मोहताजी को दूर करने का एकमात्र उपाय समाजवाद में ही देखते हैं। वह इसे केवल आर्थिक सिद्धान्त न मानकर जीवन-दर्शन के रूप में परिभाषित करते हैं। यहाँ जवाहरलाल और जयप्रकाश एक दूसरे के काफी समीप आ जाते हैं। जवाहरलाल नेहरू ने समाजवाद को इन शब्दों में परिभाषित किया है —

'समाजवाद एक आर्थिक सिद्धान्त से कुछ अधिक है। यह जीवन का दर्शन है। समाजवाद के अतिरिक्त गरीबी, बेरोजगारी, अपमान एवं मोहताजी को दूर करने का अन्य कोई उपाय नहीं है। इसका अर्थ यह है कि समाज के राजनीतिक एवं सामाजिक ढांचे में आमूल चूल परिवर्तन, भूमि एवं उद्योग में निहित स्वार्थों का उन्मूलन एवं इसके साथ ही काम के सामन्तवादी तथा अधिनायकवादी स्वरूप की भी समाप्ति। इसका अर्थ यह है कि ....वर्तमान लाभ प्रणाली के स्थान पर सहकारिता के उच्च आदर्श को अपनाना। इसका अर्थ है कि अन्ततोगत्वा हमारे मनोभावों, आदतों एवं इच्छाओं में परिवर्तन। संक्षेप में समाजवाद का अर्थ एक नूतन सभ्यता है जो वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था से पूर्णतया भिन्न है।'[2]

भारत में समाजवादी आन्दोलन अपनी जड़ें नहीं जमा पाया। साम्यवादी भी अपने को समाजवादी ही कहते हैं यद्यपि समाजवादी अपने को साम्यवादी नहीं कहते। लेकिन समाजवादी मार्क्स के प्रभाव को स्वीकार करते हैं। साम्यवाद और समाजवाद की बौद्धिक गफलत ने समाजवादी आन्दोलन को क्षति पहुँचाई है। फिर समाजवादी आन्दोलन के प्रणेताओं और सूत्रधारों के व्यक्तित्वों की टकराहट ने इसे गतिशील नहीं होने दिया। उदाहरणार्थ, इंडियन नेशनल कांग्रेस में ही कांग्रेस सोशलिस्ट ग्रुप बना जिसमें आचार्य नरेन्द्र

1. लेखक द्वारा स्वयं की पुस्तक समाजवादी चिन्तन से उद्धृत, रिसर्च पब्लिकेशन्स इन सोशल साइंसेज, जयपुर, पृ 6
2. लेखक की वही पुस्तक, पृ 7-8

देव, राममनोहर लोहिया, अच्युत पटवर्धन, अरुणा आसफ अली, अशोक मेहता आदि सम्मिलित थे। जवाहरलाल नेहरू की पहल पर ऐसा हुआ लेकिन कालान्तर मे ये सभी एक दूसरे से बिछुडने लगे। नेहरू का स्थान कांग्रेस और स्वतंत्रता आन्दोलन में गाँधी के बाद ही था। आलोचकों का मत है कि उनकी नजर एक ओर सत्ता पर थी और दूसरी और मोहनदास करमचन्द गाँधी की ओर। वह यह जानते थे कि गाँधी के साथ रहने पर ही वह सत्तारूढ हो पायेंगे और इसलिये उन्होने सुभाषचन्द बोस और कांग्रेस समाजवादियों से किनारा कर लिया। नेहरूवादी लेखक इस वक्तव्य को पूर्वाग्रह से ग्रसित बताते हैं और कहते हैं कि नेहरू राज्य के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन में विश्वास करते थे और इसलिए सत्ता में आने का विचार किसी भी दृष्टि से अपवित्र अथवा कलुषित नहीं माना जा सकता। इनका मानना है कि सत्ता मे आने पर नेहरू ने समाजवादी कार्यक्रम को नियोजित ढंग से लागू भी किया। कहने का अभिप्राय यह है कि जवाहरलाल सत्तारूढ़ हो गये, जयप्रकाश नारायण सर्वोदय की ओर उन्मुख हो गये, अच्युत पटवर्धन संन्यासी बन गये। आचार्य नरेन्द्र देव लेखन मे जुट गये औार उन्होने दो विश्वविद्यालयों के कुलपति पद को भी सुशोभित किया। 1953 मे अशोक मेहता ने 'पिछडे हुए अर्थतंत्र की राजनीतिक विवशताओं 'का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए बताया कि समाजवादियों को कांग्रेस के नजदीक आना चाहिए। उन्होने अन्ततोगत्वा प्रजा समाजवादी दल को छोड़कर कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण कर ली और केन्द्र मे मंत्री पद भी स्वीकार कर लिया।

राममनोहर लोहिया एक मात्र जुझारू नेता रहे जिन्होंने न केवल कांग्रेस के नजदीक जाने की थीसिस की ही भर्त्सना की बल्कि कांग्रेस के सबसे बडे नेता और प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू की भरसक आलोचना भी की। उन्होने 'समान दूरी' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और कहा कि समाजवादियों को एक ओर कांग्रेस और दूसरी ओर साम्यवादियों से समान दूरी बनाये रखनी चाहिये।

डॉ. राममनोहर लोहिया

(1910-1967)

लोहिया ने लिखा कि लोग संभवत: 'मेरी मृत्यु के बाद ही मेरी बात को सुनेंगे लेकिन एक दिन उन्हें सुनना अवश्य पडेगा। आज जिस चीज की आवश्यकता है वह है नया नेतृत्व और उन्नत जनता।' वह समाजवाद के प्रखर प्रवक्ता एवं निर्भीक राष्ट्रीय नेता थे। स्वतंत्रता संग्राम में उनके योगदान को सराहा गया है, उन्होने तीक्ष्ण और तथ्य पूर्ण भाषणों के लिए अपार ख्याति अर्जित की। एक समाजवादी, गाँधीवादी, राष्ट्रवादी और मौलिक विचारक के रूप में लोहिया का स्थान देश के प्रथम पंक्ति के नेताओं में माना जाता है। देश के राष्ट्रीय और राजनीतिक जीवन में उनका महत्वपूर्ण स्थान रहा है। विद्यार्थी जीवन में ही वह गाँधी और स्वतंत्रता आन्दोलन की ओर आकृष्ट हो गये थे। जर्मनी से अर्थशास्त्र मे पी-एच डी डिग्री लेकर स्वदेश लौटने पर तो उनकी सक्रियता

और भी बढ़ गई। 1934 में कांग्रेस समाजवादी पार्टी की स्थापना में उनकी प्रमुख भूमिका रही। 1936 में जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें कांग्रेस द्वारा स्थापित विदेश विभाग का मंत्री बनाया। 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में उनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण रही। 1953 में लोहिया प्रजा समाजवादी पार्टी के महामंत्री निर्वाचित हुये। इसी वर्ष उन्हीं के प्रयासों से एशियन सोस्लिस्ट कांफ्रेंस आयोजित हुई। 1955 में उनकी अध्यक्षता में भारतीय समाजवादी पार्टी का गठन हुआ। 1967 में उनका निधन हो गया। लोहिया के व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हुए डॉ. एन. सी. मेहरोत्रा[1] लिखते हैं कि डॉ. लोहिया केवल राजनीतिक ही नहीं थे बल्कि स्वतंत्र चिन्तन लिए एक दार्शनिक भी थे। वह एक समाज सुधारक थे जिन्होंने जाति प्रथा और सामाजिक भेदभाव का विरोध किया तथा आदिवासी महिलाओं एवं पिछड़ी जातियों के उत्थान हेतु सतत् संघर्ष किया। वह एक अर्थशास्त्री भी थे जिन्होंने विकासशील देश के आर्थिक उत्थान हेतु अनेक सुझाव दिये। उनके निधन के उपरान्त सभी प्रकार के नेताओं और जनता ने उनकी भूरि भूरि प्रशंसा की जिससे स्वयं लोहिया की भारतीय इतिहास पर की गई यह टिप्पणी ताजा हो जाती है कि 'हम मानसिंह को जीवन काल में और राणा प्रताप को मृत्युपरान्त पूजते हैं।' समाजवादी विचारक मधु लिमये की यह टिप्पणी भी सटीक है कि लोहिया एक मौलिक विचारक, एक अद्वितीय नेता और विद्रोही थे। उन्होंने आधुनिक भारत के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। लेकिन वह स्वप्नलोकीय दार्शनिक नहीं थे बल्कि अनिवार्यतः कर्मयोगी थे।

राममनोहर लोहिया कालान्तर में गाँधीवाद की ओर झुकते चले गये, लेकिन नेहरू के कठोरतम आलोचक बन गये। नेहरू के समाजवाद को वह ढकोसला कहने लगे। उन्हीं के शब्दों में[2] 'एशिया का उदारवादी नेता (जवाहरलाल नेहरू) एक ढोंगी और केवल शब्दजाल वाला व्यक्ति है जिसमें यथार्थ का अभाव है। वह भाषण में समाजवादी लेकिन कर्म में अनुदारवादी हैं, वह अकाल के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करते हैं और खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता का वायदा करते हैं और साथ ही बादलों को दोषी ठहराते हैं कि उन्होंने वर्षा नहीं की। वह भ्रष्टाचार और पूंजीवाद की जमकर आलोचना करते हैं जबकि दूसरी ओर वह पक्षपात और प्रश्रय द्वारा इन्हें पनपाते हैं। यह झूठे और पाखण्डी हैं लेकिन हमेशा आकर्षक नारे देते रहते हैं।' नेहरू और कांग्रेस की एक ओर वह आलोचना करते रहे और दूसरी ओर साम्यवाद और साम्यवादियों की भी। उन्होंने एक फार्मूला दिया जो इस प्रकार है — साम्यवाद = समाजवाद – जनतंत्र + केन्द्रीयकरण + गृह युद्ध + रूस।

---

1 एन. सी. मेहरोत्रा, लोहिया, ए स्टडी, पृ. 56, विष्णु भगवान द्वारा उद्धृत, इंडियन पोलिटिकल थिंकर्स, आत्माराम एण्ड सन्स, पृ. 349

2 राम मनोहर लोहिया, मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, पृ. 138, विष्णु भगवान द्वारा उद्धृत वही पुस्तक, पृ. 353

जयप्रकाश नारायण ने अपनी पुस्तक 'व्हाई सोस्लिज्म' में स्पष्ट किया कि समाजवाद के द्वारा ही समाज में व्याप्त गरीबी, भुखमरी, मोहताजी एवं शोषण से मुक्ति मिल सकती है। यह व्यक्तिगत आचरण संहिता न होकर सामाजिक संगठन की प्रणाली है जिसके द्वारा समाज का न्याय, समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृभाव के सिद्धान्तों पर पुनर्निर्माण संभव है जिसमें न चन्द लोग अन्य लोगो की गाढी कमाई पर गुलछर्रे उडायेगे और न ही अन्य लोग गरीबी और मोहताजी का जीवन ही व्यतीत करेगे। समाजवादी समाज में नये मूल्यों पर आधारित नई मानवता का जन्म होगा जिसमें सभी लोग सुख-चैन और समृद्धि का जीवन व्यतीत कर सकेंगे। डॉ. विश्वनाथ प्रसाद के शब्दों में जयप्रकाश नारायण भारतीय समाजवाद के क्षेत्रो मे माने हुए तथा सुविख्यात व्यक्ति हैं। यह उनका महत्वपूर्ण योगदान था कि उन्होने भारत मे समाजवादी आन्दोलन को कांग्रेस के झंडे के नीचे चल रहे राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के साथ सम्बद्ध कर दिया। नरेन्द्र देव तथा जयप्रकाश नारायण ने समानवादी विचारधारा की जनता को साम्राज्यवादी राजनीतिक आधिपत्य तथा देशी सामन्तवाद की दासता से मुक्त करवाने की दिशा मे मोड दिया। इस प्रकार उन्होने समाजवादी दर्शन को दो युद्धो का समरघोष बनाया - राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम तथा सामाजिक क्रांति। भारत के जर्जरित ग्रामीण समाज की विकराल दरिद्रता के सन्दर्भ मे जयप्रकाश नारायण ने उन सामाजिक तथा यांत्रिक बन्धनो के उन्मूलन पर बल दिया जो कृषि के उत्पादन मे बाधा डाल रहे थे।[1]

जहाँ एक ओर जयप्रकाश समाजवाद से दूर जाकर गाँधी के प्रभाव में सर्वोदय की ओर कूच कर गये वहीं दूसरी ओर लोहिया गाँधीवाद की ओर आकृष्ट होते हुये भी समाजवादी ही बने रहे। लेकिन समाजवादी होते हुए भी किसी जटिल एवं उधार ली हुई अवधारणा से बंधे नहीं रहे। उन्होंने व्हीलूस ऑफ हिस्ट्री मे बताया कि समाजवाद को उधार लिये हुये श्वांसों पर जीना बन्द करना होगा। इसने बहुत समय तक साम्यवाद से आर्थिक उद्देश्य एवं पूंजीवाद अथवा उदारवाद से सामान्य बाते ग्रहण की हैं। लोहिया ने स्पष्ट चेतावनी दी कि जब तक समाजवाद अपने को साम्यवाद और पूँजीवाद के प्रभावो से मुक्त नहीं कर लेता, यह प्रभावशाली नहीं बन सकता। उन्होने समाजवादियो को स्पष्ट किया कि उन्हे न गाँधियन बनने की आवश्यकता है और न ही मार्क्सवादी ही और न इनका विरोध करने की ही आवश्यकता है। उन्होने कहा कि हमे किसी के अन्धानुकरण की आवश्यकता भी नहीं है।

लोहिया पर मार्क्स का प्रभाव स्पष्ट है लेकिन वह उनका अन्धानुकरण नहीं करते। उन्होंने मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को अवश्य स्वीकार किया, लेकिन परम्परावादी मार्क्सवादियो को नकार कर चेतना को भी महत्त्व दिया। 'वे एक ऐसे सिद्धान्त

---

1 डॉ. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, वही पुस्तक, पृ 538

की रचना के पक्ष में हैं जिसके अन्तर्गत आत्मा अथवा सामान्य उद्देश्यों तथा द्रव्य अथवा आर्थिक उद्देश्यों का परस्पर ऐसा संबंध हो कि दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व कायम रह सके। लोहिया का विश्वास था कि इतिहास में जातियों तथा वर्गों का संघर्ष देखने को मिलता है। जातियों की विशेषता यह होती है कि उनका रूप सुनिश्चित होता है। इसके विपरीत वर्गों की आन्तरिक रचना शिथिल हुआ करती है। वर्ग तथा जाति के बीच घड़ी के दोलक की सी आन्तरिक क्रिया होती रहती है। यही दोलन क्रिया इतिहास को गति प्रदान करती है। जातियाँ गतिहीनता, निष्क्रियता तथा रूढ़िगत अधिकारों की पुरातनवादी शक्तियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। वर्ग सामाजिक गतिशीलता की प्रचण्ड शक्तियों के प्रतिनिधि होते हैं। लोहिया के अनुसार अब तक का मानव इतिहास जातियों एवं वर्गों के बीच आन्तरिक गति का इतिहास है। जातियाँ शिथिल होकर वर्गों में परिणत हो जाती हैं और वर्ग संगठित होकर जातियों का रूप धारण कर लेते हैं।'[1]

लोहिया पर गाँधी का प्रभाव अधिक है। वह विकेन्द्रीकरण के प्रबल पक्षधर हैं। वह भारतीय सन्दर्भ में समाजवाद को लाना चाहते हैं, उनके मस्तिष्क में छोटे किसान, श्रमिक, बन्धुआ मजदूर, गरीब और मोहताज लोगों की खुशहाली का विचार सर्वोपरि है। अतः वह बड़ी मशीनों और तीव्र औद्योगीकरण के स्थान पर गृह उद्योग, छोटी मशीनों, सहकारी श्रम एवं ग्राम शासन पर जोर देते हैं। लोहिया एशिया और विकासशील देशों के सन्दर्भ में समाजवाद की अवधारणा को विकसित करने का प्रयास करते हैं और यह उनका विशिष्ट योगदान भी कहा जा सकता है। युगों पुराने सामन्तवाद एवं निरंकुशवाद के कारण एशियाई देशों में लोकतांत्रिक संस्थायें और मूल्य विकसित नहीं हो पाए हैं। यहाँ के राजनीतिज्ञ नौकरशाह और उद्योग प्रबन्धक लोकतांत्रिक संस्कृति को समझने और अपनाने में असमर्थ रहे हैं। अतः लोहिया के अनुसार एक मौलिक सामाजिक दर्शन को विकसित करने की नितान्त आवश्यकता है। इसे एक अभिनव सांस्कृतिक क्रांति भी कहा जा सकता है जो नये मूल्यों पर आधारित नूतन सामाजिक संरचना करे। सार यह है कि लोहिया समाजवाद की सार्थकता गाँधीवाद के नजदीक जाने में मानते हैं। वह गाँधी की सत्याग्रह की अवधारणा को भी स्वीकार करते हैं यद्यपि वह गाँधी की हृदय परिवर्तन की बात को ठोस और कारगर नहीं मानते। वह गाँधीवाद को भी समाजवाद के नजदीक लाकर इसे अधिक सार्थक बनाना चाहते हैं। गाँधी की अहिंसा की अवधारणा भी लोहिया को प्रभावित करती है। वह जन साधारण की व्यक्तिगत एवं सामुदायिक स्वतंत्रता एवं अस्मिता की रक्षा के लिए सविनय अवज्ञा को भी एक कारगर हथियार मानते हैं।

अंत में लोहिया के चौखंभा राज्य की अवधारणा को भी संक्षेप में स्पष्ट किया जाना आवश्यक है। इस राज्य के चार स्तम्भ हैं। इसमें केन्द्रीयकरण एवं विकेन्द्रीकरण

1 डॉ. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, वही पुस्तक पृ. 539

की परस्पर विपरीत अवधारणाओं का समन्वित रूप प्रस्तुत किया गया है। राज्य के ये चार स्तम्भ हैं – गाँव, मण्डल (जिला), प्रांत और केन्द्रीय सरकार। यह एक अनूठा कार्य मूलक संघवाद होगा। लोक कल्याणकारी कार्य जिला, ग्राम एवं नगरों की पंचायतें करेंगी, वे ही नीतियाँ बनायेगी और उनका कार्यान्वयन भी करेंगी। लोहिया जिलाधीश के पद को समाप्त करने के पक्ष में हैं क्योंकि यह न केवल औपनिवेशिक संस्था ही है बल्कि बहुत बदनाम पद भी है।

सार रूप मे राममनोहर लोहिया के समाजवादी विचारों के सन्दर्भ में यही कहा जा सकता है कि वह परम्परागत समाजवादी नहीं हैं। उन्होने देश काल की परिस्थितियों के सन्दर्भ मे समाजवाद को प्रस्तुत किया है। भारत के सन्दर्भ में जैसा कि उल्लेख भी किया जा चुका है उन्होंने गाँधी के अनेक विचारों को इसके साथ समन्वित किया है। वैसे वह गाँधी को भी पूर्णतया स्वीकार नहीं करते। उदाहरणार्थ उन्होंने सत्याग्रह को तो स्वीकार किया लेकिन आत्मोत्सर्ग को नहीं माना। उन्होंने मार्क्स को भी अनेक स्थानो पर अस्वीकार किया है। वर्ग संघर्ष, सर्वहारावर्ग की तानाशाही, राज्य का लुप्त हो जाना जैसी मार्क्सवादी अवधारणाओ को लोहिया विशेष महत्त्व नहीं देते। वह राष्ट्रीयकरण को भी एकमात्र हल नहीं मानते जो कि समाजवाद का एक मौलिक तत्त्व है। समाजवादियो के लिए विकेन्द्रीकरण एक अपरिहार्य तत्त्व नहीं है जबकि लोहिया इस पर जोर देते हैं। समाजवाद में लघु उद्योग और छोटी मशीनों का महत्व नहीं है जबकि लोहिया के लिए विकेन्द्रीकरण और कुटीर उद्योग बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। संक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि लोहिया गाँधीवाद और मार्क्सवादी समाजवाद के बीच अवस्थित हैं। उनका महत्त्व इस बात में है कि उन्होने व्यक्ति की स्वतंत्रता, विकेन्द्रित आर्थिक और राजनीतिक सत्ता एवं जन संघर्ष का समर्थन तथा केन्द्रित और निरंकुश सत्ता का प्रबल विरोध किया है।

भारतीय समाजवादी चिन्तन : एक विहंगम दृष्टिपात

भारतीय समाजवादी विचारक मार्क्स और गाँधी दोनों से ही प्रभावित रहे हैं। यहाँ इस चिन्तन के मुख्य तत्त्वो का निरूपण प्रस्तुत किया जा रहा है। समाजवाद के सिद्धान्त पर आधारित समाज वह होगा —

(1) जहाँ उत्पादन एवं वितरण के साधनों पर समाज का स्वामित्व हो और जहाँ राज्य सरकार के प्रतिनिधि के रूप में इन साधनों पर नियंत्रण रखे, तत्पश्चात् राज्य केवल व्यवस्था के रूप में स्थित रहे। जवाहरलाल नेहरू, आचार्य नरेन्द्र देव जैसे विचारक राज्य के महत्त्व को स्वीकार करते हैं जबकि लोहिया राज्य को इतना महत्त्व नहीं देते क्योंकि यह केन्द्रीकृत सत्ता का प्रतीक है। जयप्रकाश मार्क्सवादी की भाँति प्रारंभ करते हैं और जीवन के संध्याकाल मे पक्के सर्वोदयी के रूप मे जाने जाते हैं।

(2) जहाँ कि अर्थ व्यवस्था मानव कल्याण हेतु निर्मित हो एवं अधिकाधिक उत्पादन का लक्ष्य व्यक्तिगत न होकर सामाजिक हित हो।

(3) जहाँ आर्थिक प्रगति का अर्थ आचार्य नरेन्द्र देव के अनुसार, केन्द्रीकरण एवं चन्द लोगों का हित न होकर संपूर्ण समाज की समृद्धि हो।

(4) जहाँ यह मान्यता हो कि आर्थिक स्वतंत्रता के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता अर्थहीन है, जैसा कि आचार्य नरेन्द्र देव कहते हैं कि विश्व में समाजवाद के बिना कोई लोकतंत्र हो ही नहीं सकता।

(5) जहाँ व्यष्टि और समष्टि के बीच सावयव संबंध हो जिसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य को समाज से अलग-थलग नहीं किया जा सकता। समाज से पृथक् रहकर कोई भी व्यक्ति अर्जन नहीं कर सकता अत. उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व स्वाभाविक है।

(6) जहाँ मनुष्य अपनी भौतिक चिन्ताओं से मुक्त होकर वास्तविक स्वतंत्रता का उपभोग करने में समर्थ हो।

(7) जहाँ शोषक और शोषित जैसे दो वर्ग नहीं होते और इस प्रकार यह एक वर्ग विहीन समाज हो।

(8) जहाँ सत्ता का केन्द्रीयकरण न हो क्योंकि केन्द्रीकृत सत्ता व्यक्ति की स्वतत्रता में बाधक है। भारतीय समाजवादी विशेषतौर पर महात्मा गाँधी के प्रभाव में आकर सत्ता के विकेन्द्रीकरण के प्रबल पक्षधर हैं। इनमे विशेषतौर पर जयप्रकाश नारायण और राम मनोहर लोहिया का उल्लेख किया जा सकता।

(9) जहाँ जाति पाति, ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष, निर्धन-धनवान का कोई भेद भाव नहीं है। सभी सबके लिए जीते हैं एवं न सामाजिक पर्दे हैं और न ही किसी प्रकार का शोषण एवं उत्पीड़न है। आचार्य नरेन्द्रदेव के अनुसार जो इन संकीर्ण विचारों को लेकर चलते हैं वे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे पिछड गये हैं।

(10) जहाँ श्रम की पूजा होती है। अनार्जित आय के आधार पर जहाँ कोई जीता नहीं और जहाँ आय मे से खर्चे के बाद बचने वाला धन पूँजी बनकर किसी के शोषण का आधार न बने।

नेहरू और लोकतंत्र

भारत मे लोकतंत्र को सुदृढ़ बनाने का श्रेय जवाहरलाल नेहरू को दिया जाता है। वह संसद को बहुत महत्व देते थे और सारी महत्वपूर्ण घोषणाये संसद मे ही किया करते थे। जबतक वह प्रधानमंत्री रहे कांग्रेस का लोकसभा मे प्रचन्ड बहुमत रहा और विपक्ष बिखरा हुआ और निष्प्रभावी था। फिर भी उन्होंने विपक्ष को सम्मान दिया। वह प्रायः प्रश्नकाल मे स्वयं उपस्थित रहा करते थे चाहे प्रश्न उनके विभाग से संबंधित न हो। यहाँ एक उदाहरण दिया जा सकता है जिससे नेहरू की विपक्ष के प्रति सम्मान की भावना स्पष्ट होती है। नेहरू सरकार के विरुद्ध प्रथम अविश्वास प्रस्ताव आचार्य कृपलानी

लाये थे। सदन मे उनका समर्थन नगण्य था। फिर भी नेहरू ने न केवल कृपलानी के भाषण को ध्यान से ही सुना बल्कि हर एक आरोप का जवाब भी दिया।

नेहरू की लोकतंत्र की अवधारणा के निर्माण मे अनेक विचारकों का प्रभाव है जिनमें अधिकांश पश्चिमी विचारक हैं। इनमे जान लॉक, रूसो, मांटेस्क्यू, जर्मी बेन्थम, जान स्टुअर्ट मिल और कार्ल मार्क्स मुख्य हैं। उन पर फ्रांस की क्रांति, औद्योगिक क्रांति और सोवियत क्रांति का भी प्रभाव पडा है। लोकतंत्र के मानवीय पक्ष को उजागर करने मे गाँधी का प्रभाव है। प्राय. ऐसा कहा जाता है कि नेहरू के मस्तिष्क पर कार्ल मार्क्स लेकिन हृदय पर गाँधी का प्रभाव था।

नेहरू की लोकतंत्र मे गहरी आस्था के मूल मे उनका व्यक्ति के प्रति विश्वास है। उन्हीं के शब्दो मे 'यह व्यक्ति है जो महत्त्वपूर्ण है, कोई व्यक्ति निरर्थक नहीं है, प्रत्येक व्यक्ति का महत्त्व है और उसे विकास के अवसर उपलब्ध कराये जाने चाहिये।'[1] उन्होने स्वीकार किया कि मेरी जडे आंशिक रूप से उन्नीसवीं शताब्दी मे हैं और मैं मानवतावादी उदार परम्परा से इतना ज्यादा प्रभावित हुआ हूँ कि संभवत इससे निकलना सभव नहीं है।[2] उन्होने यह भी कहा कि मैं स्वभाव और प्रशिक्षण से व्यक्तिवादी और बौद्धिक रूप से समाजवादी हूँ। लेकिन मैं मानता हूँ कि समाजवाद व्यक्ति की गरिमा को नष्ट नहीं करता और न इसका दमन ही करता है। वस्तुत मैं तो समाजवाद की ओर आकृष्ट हुआ हूँ क्योंकि यही असख्य व्यक्तियो को आर्थिक और सांस्कृतिक बन्धनो से मुक्त करेगा।[3] उन्हे इस बात का दुःख था कि आज व्यक्ति लुप्त होता जा रहा है। वह भीड के समक्ष झुकता जा रहा है। उसे भीड द्वारा लिया गया निर्णय बाध्य होकर स्वीकार करना पड रहा है। भीड नृशंस होती है, मैं भीड से भयभीत हो जाता हूँ।' इनके लिए मानव की स्वतंत्रता बहुत महत्त्वपूर्ण है और यहाँ वह गाँधी के बहुत नजदीक चले जाते हैं। वह संगठित समाज और संस्थाओ के पक्षधर हैं लेकिन इनका उद्देश्य भी मानव की स्वतंत्रता की रक्षा करना ही है। नेहरू ने व्यक्ति को जनतंत्र से कभी पृथक् नहीं किया बल्कि यह कहना ज्यादा उपयुक्त होगा कि उनकी जनतंत्र मे आस्था इसलिये दृढ हुई कि केवल इसी मे व्यक्ति की गरिमा और स्वतंत्रता सुरक्षित रह सकती है। अन्य व्यवस्थाये तो व्यक्ति को निगल जाती हैं, वह तो व्यवस्था रूपी मशीन का एक निर्जीव पुर्जा बनकर रह जाता है।

डी इ स्मिथ[4] ने नेहरू के जनतत्र की अवधारणा को इस प्रकार परिभाषित किया

---

1 माइकेल ब्रेचर नेहरू ए पोलिटिकल बायोग्राफी, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, पृ 607

2 विष्णु भगवान द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 239

3 विष्णु भगवान द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 240

4 विष्णु भगवान द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 241

है – (1) जनतंत्र स्वतत्रता प्रदान करता है जिसके अन्तर्गत मानवीय मूल्यो को प्राप्त किया जा सकता है, (2) जनतत्र को सरकारी सस्थाओं और प्रक्रियाओं के रूप मे भी परिभाषित किया जा सकता है, (3) जनतंत्र को समाज के उस ढाँचे के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है जिसमें आर्थिक और सामाजिक समानता प्राप्त की जा सके, (4) जनतत्र को व्यक्ति और समाज के प्रति किसी निश्चित दृष्टिकोण और उपागम के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि मानववाद मे गहरी आस्था, मुक्त व्यक्तिवाद और जनसाधारण मे विश्वास की अवधारणा ने उन सभी व्यवस्थाओ और विचारधाराओ से लड़ने की ऊर्जा नेहरू को दी जिनमे अधिनायकवाद, फासीवाद एव नाजीवाद की झलक मिलती है। वह मार्क्सवाद की ओर आकृष्ट अवश्य हुये लेकिन सोवियत रूस मे उसके कार्यान्वयन से वह व्यथित भी थे। उन्होने अपनी आत्मकथा मे लिखा भी है कि 'सोवियत रूस मे जो मुझे बिल्कुल नापसन्द है वह है, विरोधियो का जबरदस्त दमन और विभिन्न नीतियो के संचालन मे सत्ता का पूर्ण केन्द्रीयकरण और अनावश्यक हिंसा का प्रयोग।[1] डिस्कवरी ऑफ इण्डिया मे भी नेहरू ने स्पष्ट किया है कि मार्क्स और लेनिन के अध्ययन से मेरे मस्तिष्क पर बड़ा प्रभाव पड़ा है और इसने मुझे इतिहास और वर्तमान हालात को समझने की नई दृष्टि भी दी। लेकिन इसने मुझे पूर्णतया सतुष्ट नही किया और न इसने मेरे मस्तिष्क को उद्वेलित करने वाले सारे प्रश्नो का ही उत्तर दिया बल्कि एक अस्पष्ट आदर्शवादी विचार छोड़ दिया जो वेदान्त से मिलता जुलता है। मार्क्स की सामाजिक विकास की सामान्य समीक्षा बहुत सही हो सकती है, लेकिन उसके बाद बहुत परिवर्तन हुये हैं जो भविष्य के लिये उनके दृष्टिकोण से मेल नही खाते।[2]

उन्होने पश्चिमी लोकतंत्र के अध्ययन मे इसकी बुराइयो की ओर भी संकेत किया। सबसे बड़ी बुराई उन्हे यह मिली कि इसमे आर्थिक लोकतत्र नहीं है। उनका यह स्पष्ट मत है कि लोकतत्र केवल राजनीतिक अवधारणा ही नहीं है, इसमे आर्थिक स्वतन्त्रता और समानता को जोड़ना भी आवश्यक है। आर्थिक लोकतत्र के बिना सामाजिक विषमताओ को नहीं मिटाया जा सकेगा और जबतक समाज के आर्थिक जीवन मे सन्तुलन स्थापित नहीं होगा, लोकतत्र खतरे मे पड़ जायेगा।

धर्मनिरपेक्षता

नेहरू की धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा करीब-करीब वही है जो पश्चिम की है। यहाँ गाँधी से उनका वैचारिक मतभेद है। गाँधी नेहरू से कम धर्मनिरपेक्ष नही हैं लेकिन दोनो के दृष्टिकोणो मे भारी अन्तर है। जहाँ गाँधी धर्म को राजनीति से जोड़ना चाहते है वहाँ नेहरू एक दूसरे को बिल्कुल पृथक् कर देना चाहते हैं। गाँधी कहते हैं कि जो

---

1 [illegible], आत्मकथा, पृ 351

2 हिन्दुस्तान की कहानी, वही पुस्तक, पृ 257

यह कहते हैं कि 'धर्म का राजनीति से कोई सरोकार नहीं है, वह न तो धर्म को ही समझते हैं और न ही राजनीति को।' मैं तो राजनीति मे धर्म को लाना चाहता हूँ।' नेहरू धर्म को इसलिये राजनीति से पृथक् करना चाहते हैं कि एक देश में अनेक धर्मावलम्बी रहते हैं, इतिहास मे अनेक ऐसे मोड़ आये हैं जहाँ उन्होने एक दूसरे का खून बहाया है, धर्म के नाम पर अनेक पूर्वाग्रह एवं प्रपच भी हैं, धर्म को संकीर्ण अर्थ मे भी परिभाषित किया गया है। वैसे धर्म आस्था और विश्वास की वस्तु है, लेकिन संगठित और ऐतिहासिक धर्मों ने हिंसा, कटुता और कट्टरपन को भी बढाया है। अतः नेहरू राज्य का कोई धर्म नहीं मानते, राज्य के लिये सभी धर्म समान हैं। नेहरू का धर्मनिरपेक्ष राज्य अधार्मिक राज्य नही है बल्कि ऐसा राज्य है जिसका अपना कोई धर्म नही है और जो सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु और सम्मानजनक व्यवहार करता है। गाँधी के लिए धर्म हिन्दू धर्म, इस्लाम या इसाई धर्म नहीं है, यह शुद्ध आचरण एवं व्यवहार है। गाँधी कहते हैं कि नैतिकता और राजनीति मे कोई अन्तर नहीं है। उनके विचार मे जो नैतिक रूप से गलत है वह राजनीतिक रूप से सही नहीं हो सकता। अत: राजनीति मे धर्म तो होना चाहिये अन्यथा यह भ्रष्ट हो जायेगी। यदि शासक भ्रष्ट हो गया तो सब कुछ चौपट हो जायेगा और इसलिये राजनीति की नकेल धर्म के हाथ मे होनी चाहिये। यहाँ गाँधी और नेहरू दोनो ही अपने-अपने दृष्टिकोणो मे सही प्रतीत होते हैं। यद्यपि दोनों के दृष्टिकोणो में अन्तर है, लेकिन दोनो के उद्देश्य मे विशेष अन्तर नही लगता।

'नेहरू आधुनिक जीवन मे धर्मनिरपेक्षता को अनिवार्य मानते थे। वह यद्यपि यह स्वीकार करते थे हिन्दूधर्म और इस्लाम भारत के जनजीवन में घुलमिल गये हैं लेकिन राज्य और राजनीति से इनको जोडने के दुष्परिणाम ही ज्यादा निकलते हैं। वह तो सभी धर्मावलम्बियों के लिए एक सामान्य नागरिक संहिता चाहते थे। उनके लिए धर्म एक विशुद्ध व्यक्तिगत वस्तु है जिसका समाज और राज्य द्वारा सम्मान किया जाना चाहिये ? लेकिन राज्य के मामलो मे धर्म का हस्तक्षेप बर्दास्त नहीं किया जा सकता। वह ऐसे राज्य के पक्षधर हैं जो सभी धर्मों की रक्षा अवश्य करता है लेकिन किसी एक की कीमत पर दूसरे का पक्ष नहीं लेता और जिसका अपना कोई धर्म नहीं है।'[1] इसको स्पष्ट करते हुये अशोक मेहता ने बताया कि संकीर्ण अर्थ मे राज्य को धर्मनिरपेक्ष मानना कि यह सभी धर्मों के प्रति तटस्थ है एक बात है और सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे कानून और राजनीति का राज्य के द्वारा धर्मनिरपेक्षीकरण किया जाना बिल्कुल दूसरी बात है। नेहरू ने सावधानी बरती जहाँ तक अल्पसंख्यक वर्गों की भावना का प्रश्न था, यहाँ नेहरू की हिन्दू विचारधारा वालो द्वारा कटु आलोचना भी की गई कि उनकी नीतियाँ मुस्लिम परस्त थी। नेहरू ने साम्प्रदायिकता पर जमकर आक्रमण किया और राष्ट्र को चेतावनी दी कि जिस साम्प्रदायिकता के कारण देश का विभाजन हुआ वह देश की एकता, अखंडता

1 दी हिन्दू, जून 17, 1951

और प्रगति में भारी रुकावट बनेगी। अत: भारत की समस्याओं के समाधान और चहुँमुखी प्रगति के मूल में धर्म निरपेक्षता का कोई विकल्प नहीं है। भारत की बहुल सामाजिक प्रकृति और संस्कृति की रक्षा केवल धर्म निरपेक्षता के द्वारा ही संभव है। भारतीय संविधान में सभी धर्मों एवं संप्रदायों के लोगों के लिए धार्मिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक अधिकारों का प्रावधान भारत मे एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की दिशा मे ही एक ठोस प्रयास था। इस प्रयास में नेहरू का योगदान अविस्मरणीय माना जाता है। हिन्दूधर्म के पक्षधर प्राय: नेहरू को हिन्दू विरोधी मानते हैं। लेकिन नेहरू की बहुसंख्यकों से यही अपेक्षा रही है कि वे अल्पसंख्यकों के प्रति अधिक सहिष्णु और उदार दृष्टिकोण अपनायें ताकि उनमें असुरक्षा की भावना विकसित न हो जो अन्यथा स्वाभाविक है। नेहरू के एक कटु आलोचक डी. एफ. कराका'[1] ने उन्हें एक सच्चा धर्मनिरपेक्षवादी माना है और प्रशंसा में लिखा है कि हिन्दू साम्प्रदायिकता के दबाव के बावजूद भारत के धर्मनिरपेक्ष चरित्र को बनाये रखने' का श्रेय नेहरू को दिया जाना चाहिये।

गाँधी और नेहरू

गाँधी और नेहरू के बीच गभीर वैचारिक मतभेद रहे हैं फिर भी गाँधी ने जवाहरलाल को ही अपना उत्तराधिकारी चुना। यह बात उन्होंने सुप्रसिद्ध अमेरिकन पत्रकार लुई फिशर को दिये एक साक्षात्कार में स्वीकार की। 15 जनवरी 1942 को गाँधी ने एक वक्तव्य में कहा, 'राजाजी नहीं, मेरा उत्तराधिकारी जवाहरलाल होगा।'[2] 11 जनवरी 1928 को एक पत्र में नेहरू ने गाँधी को लिखा था, 'यंग इंडिया मे आपके अनेक लेख और आत्मकथा आदि पढ़ने से ऐसा लगता है कि मेरे विचार आपसे सर्वथा भिन्न हैं। मैं अनुभव करता हूँ कि आप अपने निर्णयों में जल्दबाजी करते हैं और कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि आप घटनाओं के घट जाने के बाद, उन्हें उचित ठहराने के लिए जो भी प्रमाण मिल जाता है, उसी को तर्क बना देते हैं। आप पश्चिम की सभ्यता को गलत ढंग से आंकते हैं और उसकी असफलताओं को आवश्यकता से अधिक तूल देते हैं।..... मैं निश्चित रूप से आपसे असहमत हूँ।[3]

नेहरू के गाँधी से मतभेद आखिर तक रहे। 9 अक्तूबर 1947 को गाँधी के पत्र के उत्तर मे जो जवाहरलाल ने पत्र भेजा वह बहुत ही दिलचस्प है। उन्होंने लिखा

---

1. डी एफ कराका, वाइ इज अेबसेन्ट फ्राम नेहरूज फावर ईयर प्लान्स, दी करन्ट, वोल्यूम VI No I (सितम्बर 22, 1954) पृ 10
2. डी जी. तेंदुलकर, लाइफ ऑफ मोहनदास करमचंद गाँधी वोल्यूम 6 (बम्बई, दी टाइम्स ऑफ इंडिया प्रेस) पृ 52.
3. दी कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी, वोल्यूम 35, दिल्ली (पब्लिकेशन्स डिवीजन) पृ 543-44 टी टी रमनमूर्ति द्वारा उद्धृत, गाँधी नेहरू संवाद से विवाद की ओर। राज्य शास्त्र सन्देश, राजनीति विज्ञान विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जनवरी 1972 वर्ष 2, अंक 4, पृ 8-9

'बहुत वर्ष पहिले मैने हिन्द स्वराज्य को पढ़ा था और इस समय मेरे दिमाग मे उसकी धुधली सी तस्वीर है। लेकिन करीब 20 वर्ष या इससे भी ज्यादा समय पूर्व जब मैंने इसे पढ़ा था उस समय भी यह मुझे अवास्तविक लगी थी। इसके बाद वाले आपके लेखों और भाषणो मे मुझे यह लगा था कि आप अपनी पुरानी स्थिति से हट रहे हैं और आधुनिक प्रवृत्तियो का अहसास कर रहे हैं। इसलिये मुझे आश्चर्य हुआ जबकि आपने लिखा कि आपके मस्तिष्क मे तो वही पुरानी तस्वीर ही है। हिन्द स्वराज्य की रचना 38 वर्ष पहिले की गई थी और तबसे दुनिया बिल्कुल बदल गई है, संभवतः गलत दिशा में किसी भी स्थिति मे इन प्रश्नो पर विचार करते समय वर्तमान तथ्यों, मानव-तत्वो एवं अन्य बातों को ध्यान मे रखना होगा अन्यथा हम यथार्थ से दूर चले जायेगे।....

संक्षेप मे, मेरा दृष्टिकोण यह है कि मूल प्रश्न सत्य बनाम असत्य या अहिंसा बनाम हिंसा का नहीं है। मैं नहीं समझता कि गाँव मे किस प्रकार अहिंसा या सत्य निहित है। सामान्य तौर पर, बौद्धिक और सास्कृतिक दृष्टि से गाँव पिछडा हुआ होता है और ऐसे पिछडे वातावरण से प्रगति नहीं हो सकती। संकीर्ण मस्तिष्क वाले लोगो के असत्यवादी और हिंसक होने की ज्यादा संभावना है।

जैसाकि आपको विदित ही है कि कांग्रेस ने (हिन्द स्वराज्य में चित्रित) तस्वीर को कभी विचारा ही नहीं, स्वीकार करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। आपने भी छोटे छोटे पहलुओ के अतिरिक्त कभी कांग्रेस को इसे स्वीकारने के लिए कहा भी नहीं। कांग्रेस के लिए इन मौलिक प्रश्नो पर विचार करना अब कितना वाछनीय होगा जिनमें जीवन का दर्शन निहित है, यह आप स्वयं ही सोचे। मेरा तो मत है कि कांग्रेस जैसी संस्था को ऐसे मामलो की चर्चा मे उलझना नहीं चाहिये क्योंकि इससे लोगो के दिमाग में उलझन ही पैदा होगी। इससे यह भी हो सकता है कि देश मे कांग्रेस और अन्य लोगो के बीच दरारे पैदा हो जायँ जिन्हे पाटना मुश्किल हो जाय।'[1]

लेकिन दूसरी ओर यह भी है कि नेहरू गाँधी से अत्यधिक प्रभावित हैं और उनके शिष्यतुल्य हैं। गाँधी इतने आश्वस्त थे कि उन्होंने नेहरू को अपना उत्तराधिकारी घोषित करते हुये यह भी कह दिया कि जब मैं मर जाऊँगा जवाहर मेरी भाषा बोलेगा।

नेहरू ने डिस्कवरी ऑफ इंडिया में पूरा अध्याय 'मध्यमवर्गों की विवशता-गाँधी का आगमन' पर लिखा। इसमे गाँधी का यशोगान है। उन्होंने लिखा 'गाँधीजी आये, उनका आगमन एक ऐसी आँधी और तूफान की तरह था जो सब कुछ को और विशेष तौर पर जनता के मस्तिष्क को उथल-पुथल कर डालता है। वे कहीं आसमान से नहीं आये बल्कि वे भारत के लाखो-करोड़ो नर-नारियों के बीच मे जन्मे थे। उन्हीं की भाषा बोलते थे और निरन्तर उन्हीं की ओर आँखे लगाये हुए उनकी दारुण स्थिति को सामने

---

1 दि टाइम्स ऑफ इंडिया, नवम्बर 8, 1987

रखकर चलते थे।[1] सन् 1930 मे राष्ट्र की मनोदशा का चित्रण नेहरू ने इन शब्दों मे किया जिनमे गाँधी के प्रति श्रद्धा अभिव्यक्त होती है। उन्होने लिखा 'जब हमने लोगो मे अदम्य उत्साह देखा और नमक बनाने के कार्यक्रम को दावानल की तरह फैलते हुए पहिचाना तो हमें अपने आपसे कुछ लज्जा महसूस हुई, चूँकि हमने गाँधीजी के इस प्रस्ताव का विरोध किया था। हम श्रद्धावनत हुये यह देखकर कि एक व्यक्ति ने लाखो करोड़ो व्यक्तियो को इतने संगठित ढंग से प्रभावशाली करने के लिए किस तरह तराशा।'[2]

गाँधी ने केबिनेट मिशन योजना को स्वीकार करते हुए कहा था कि तत्कालीन परिस्थितियो मे यह एक श्रेष्ठ आलेख था जो ब्रिटिश सरकार भारतीयों को दे सकती थी। लेकिन नेहरू, पटेल के नेतृत्व में कांग्रेस ने इसे ठुकरा दिया था और इसके फलस्वरूप देश का विभाजन हुआ। नेहरू ने बाद में स्वीकार किया कि गाँधी की राय ज्यादा ठीक थी और विभाजन भारतीय उपमहाद्वीप की समस्याओ का समाधन नहीं दे पाया।

स्वयं नेहरू के शब्दों, 'हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि आन्तरिक विरोधों को चलाते रहने की अपेक्षा विभाजन संभवत एक हल्की बुराई है, जो हमारी स्वतंत्रता को अविलम्ब हमे दिला सकती थी। हम इस स्वतत्रता को जल्दी से जल्दी पाने को उत्सुक थे। अत: हमने विभाजन स्वीकार कर लिया। किन्तु जैसा कि बाद के परिणामो से प्रमाणित होता है कि विभाजन इससे कहीं अधिक बुरा निकला जिसकी हमने कल्पना की थी।'[3]

संक्षेप मे, जहाँ गाँधी और नेहरू मे मतभेद हैं वे मुख्यतौर पर राज्य के कार्यक्षेत्र, सत्ता के केन्द्रीयकरण, भारी उद्योगों, राजनीति मे धर्म की भूमिका, ग्राम स्वराज्य और शिक्षा पद्धति को लेकर हैं। गाँधी राज्य सत्ता के परिसीमन, सत्ता के विकेन्द्रीकरण, लघु उद्योगो की स्थापना, धर्म के प्रकाश मे राजनीति के संचालन, ग्राम स्वराज्य एवं मातृभाषा के माध्यम से बेसिक शिक्षा के पक्षधर थे और यहाँ नेहरू उनसे सहमत नहीं थे। लेकिन जहाँ गाँधी और नेहरू करीब-करीब एक ही वैचारिक धरातल पर खड़े हैं वे भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। दोनों के दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक हैं, सोचने का तरीका वैश्विक है, दोनो मानवतावादी, उदारवादी, जनतत्रवादी और ऐसे समाज के निर्माण के प्रबल पक्षधर हैं जिसमे सामाजिक न्याय हो, राज्य सत्ता का गरीबो के उन्नयन के लिए प्रयोग हो एवं व्यक्ति की स्वतंत्रता अक्षुण्ण रहे।

□□□

---

1 जवाहर लाल नेहरू, डिस्कवरी ऑफ इंडिया, पृ 227
पुरुषोत्तम नागर द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 513

2 जवाहरलाल नेहरू, एन आटोबायोग्राफी, पृ 213
डी डी रमनमूर्ति द्वारा उद्धृत, वही लेख, पृ 6

3 जवाहरलाल नेहरू स्पीचेज, 1949-53 दिल्ली पब्लिकेशन्स डिविज़न, पृ 115 डी डी रमन द्वारा उद्धृत, वही लेख, पृ 10

9

हिन्दू राष्ट्रवाद, द्विराष्ट्र एवं सामाजिक न्याय की अवधारणायें

(विनायक दामोदर सावरकर, मोहम्मद अली जिन्ना एवं भीमराव अम्बेडकर)

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन में हिन्दू राष्ट्रवाद, द्विराष्ट्र एवं सामाजिक न्याय की अवधारणायें भी महत्वपूर्ण हैं। इन तीनों अवधारणाओं एवं इनके मुख्य प्रतिपादको क्रमश. विनायक दामोदर सावरकर, मोहम्मद अली जिन्ना एवं भीमराव अम्बेडकर के वैचारिक योगदान का संक्षिप्त अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। सावरकर के हिन्दुत्व के दर्शन ने हिन्दू महासभा और जनसंघ को प्रभावित किया है, मोहम्मद अली जिन्ना के नेतृत्व मे मुस्लिम लीग ने द्विराष्ट्र सिद्धान्त के आधार पर भारत के विभाजन की लडाई लडी, अम्बेडकर के सामाजिक न्याय के सिद्धान्त पर आज दलित सत्ता मे भागीदारी की लड़ाई लड़ रहे हैं। अनेक छोटे बडे राजनीतिक दल जिनमे बहुजन समाज पार्टी एवं रिपब्लिकन पार्टी प्रमुख हैं, आज भारतीय राजनीति मे सक्रिय हैं और सामाजिक न्याय का मुख्य मुद्दा बनाये हुये हैं। 'वोट हमारा राज तुम्हारा' बहुजन समाज पार्टी का मुख्य नारा है जिसने दलितो और पिछडो को आकर्षित भी किया है। जनता और समाजवादी दलो का भी मुख्य नारा सामाजिक न्याय ही है।

हिन्दू राष्ट्र की अवधारणा

विनायक दामोदर सावरकर

(1883-1966)

हिन्दुत्व, हिन्दू राष्ट्र और हिन्दू समाज के चिन्तन के यशस्वी व्याख्याकार एवं जुझारू व्यक्तित्व के धनी विनायक दामोदर सावरकर का भारतीय चिन्तन मे विशिष्ट स्थान है। वह हिन्दू जीवन में एक संपूर्ण राष्ट्र के तत्वों का निरूपण करते हैं और प्रतिपादित करते हैं कि भाषा, संस्कृति, चेतना, इतिहास, धर्म, मर्यादा आदि की दृष्टि से हिन्दू एक राष्ट्र है और हिन्दुत्व प्राण तत्व है। उन्होंने हिन्दू, हिन्दुत्व, हिन्दूराष्ट्र की ठोस और जीवन्त अवधारणा प्रस्तुत की जो उन्हें भारतीय विचारकों में एक विशिष्ट स्थान प्रदान करती है। वैसे उनके और अन्य विचारको जैसे लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, विपिनचन्द्र पाल, केशवराव बलिराव हेगडेवार एवं माधवराव सदाशिवराव् गोलवलकर के विचारों में साम्य है। वस्तुत यह हिन्दुत्व की अन्य आक्रामक शक्तियों से रक्षा करने

का प्रयास है, लेकिन इसमें हिन्दू दर्शन का सकारात्मक पक्ष अधिक नहीं उभर पाया। इसके अभाव में आलोचकों ने इसे सांप्रदायिकता से जोड़कर देखा और इसे राष्ट्रीय एकता और अखंडता में बाधक पाया। दूसरी ओर हिन्दुत्व के पक्षधरों ने अपने विरोधियों को छद्म राष्ट्रवादी एवं धर्म निरपेक्षवादी कहकर उनकी भर्त्सना की।

वीर सावरकर के नाम से विख्यात विनायक दामोदर उग्र राष्ट्रवादी एवं आतकवादी रहे हैं। बाल्यकाल से ही वह हिन्दू कथाओं, रामायण, महाभारत, राणा प्रताप, शिवाजी एवं पेशवाओं की गाथाओं में रुचि रखते थे। विद्यार्थी जीवन में वह आतंककारी गतिविधियों में लिप्त हो गये और 1906 से 1910 तक उनका इंगलैंड में बिताया गया अध्ययन काल भी ब्रिटिश विरोधी कार्यकलापों से अछूता नहीं रहा। उन्होंने लन्दन स्थित इंडिया हाउस को भारतीय क्रांति का केन्द्र बना दिया। उन्हें आतंककारी गतिविधियों के कारण लन्दन में गिरफ्तार कर लिया गया। जब उन्हें भारत लाया जा रहा था तो रास्ते में वह जहाज से समुद्र में कूद पड़े और उन्होंने फ्रांस में शरण ली। लेकिन वह पुनः गिरफ्तार कर लिये गये और दो अभियोगों के जुर्म में उन्हें आजन्म कारावास का दण्ड दिया गया। अनेक प्रयासों के कारण वह 1937 में रिहा कर दिये गये और वह हिन्दू महासभा के अध्यक्ष निर्वाचित हुये। 1966 में उनका निधन हो गया।

सावरकर की हिन्दुत्व की अवधारणा

सावरकर ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्दुत्व' मे हिन्दू शब्द को परिभाषित किया है। उनका कथन है कि 'हिन्दू वह है जो सिन्धु नदी से समुद्र तक संपूर्ण भारतवर्ष को अपनी पितृभूमि और मातृभूमि मानता है। उन्होंने अपनी दूसरी पुस्तक 'हिन्दू पद पादशाही' में मराठा शक्ति के उद्‌भव की राष्ट्रवादी व्याख्या की है। उन्होंने इस पुस्तक में विजातीय तत्वों का दमन करने और हिन्दू राष्ट्रवाद के सुदृढ़ीकरण में मराठाओं के साहसी कार्यों की भूरि भूरि प्रशंसा की है। उन्होंने बताया कि मुसलमान आक्रान्ताओं ने विजयोन्माद, घृणा, असहिष्णुता एवं धर्मान्धता का ही प्रदर्शन किया। मराठाओं ने न केवल उन्हें रोका बल्कि उदात्त भाव भी दर्शाया। उन्होंने मराठा राजतंत्र का गहन अध्ययन कर उसमें लोक तांत्रिक तत्वों को भी ढूंढा।

वीर सावरकर का उद्घोष था 'यदि आप आते हैं तो आपके साथ, यदि आप नहीं आते हैं तो आपके बिना, और यदि आप विरोध करते हैं तो आपके बावजूद, हिन्दू अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए यथा शक्ति संघर्ष करते रहेंगे।' प्रोफेसर विश्वनाथ प्रसाद वर्मा के शब्दों में, 'सावरकर ने हिन्दू राष्ट्र की सांस्कृतिक एवं अवयवी एकता को स्वीकार किया। वे हिन्दू पुनरुत्थान के आदर्श के भक्त थे और हिन्दुत्व की सांस्कृतिक श्रेष्ठता में विश्वास करते थे। उन्होंने हिन्दू समाज के नैतिक तथा सामाजिक पुनरुत्थान पर बल दिया। उन्होंने कहा, यदि हिन्दुत्व मृत्योपरान्त मोक्ष की समस्याओं में तथा ईश्वर और विश्व संबंधी धारणाओं में व्यस्त है तो उसे रहने दीजिये---- किन्तु जहाँ तक भौतिक और

अस्पृश्यता का घोर विरोध किया और मदिरो मे अछूतो के प्रवेश का जबरदस्त समर्थन किया । उन्होने स्पष्ट शब्दो मे कहा कि 'जिसे अपवित्र किया जा सके वह ईश्वर नही है ।' सावरकर पर तिलक का स्पष्ट प्रभाव है । तिलक ने भी यह कहा था कि यदि स्वय ईश्वर आकर मुझे यह कहे कि छुआछूत अच्छी चीज है तो मैं उसे ईश्वर मानने से अस्वीकार कर दूगा । 1937 मे ही सावरकर ने स्पष्ट शब्दो मे कहा था कि 'मैं अपने को केवल हिन्दू कहूँगा, ब्राह्मण नहीं । उन्होने कहा कि मैं किसी भी जाति के हिन्दू के साथ भोजन करने को तैयार हूँ, मैं जन्म और व्यवसाय से जाति मे विश्वास नहीं करता, मैं जातियो की उच्चता या नीचता को नही मानता ।' साररूप मे यही कहा जा सकता है कि सावरकर ने भारतीय राजनीति का हिन्दूकरण किया, काग्रेस की तुष्टिकरण की नीति की घोर भर्त्सना की, हिन्दुत्व और राष्ट्रवाद मे कोई अन्तर नहीं किया एव सदियों से जातियो और सम्प्रदायो मे विभाजित हिन्दू समाज को सामाजिक समानता के आधार पर संगठित करने का प्रयास किया ।

द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त

मोहम्मद अली जिन्ना

(1876 - 1948)

इगलैंड से बैरिस्टरी की परीक्षा पास कर जिन्ना ने वकालत प्रारंभ की और शीघ्र ही उन्होने बडी शोहरत हासिल कर ली । कुछ समय तक वह दादा भाई नौरोजी के निजी सचिव भी रहे । प्रारभ मे वह राष्ट्रवादी थे और उन्होंने कांग्रेस की सदस्यता भी ग्रहण कर ली थी । कांग्रेस मे गोपाल कृष्ण गोखले से वह बडे प्रभावित हुये और उन्होंने व्यक्त किया कि उनकी तमन्ना मुस्लिम गोखले बनने की है । कांग्रेस के 1910 के अधिवेशन मे उन्होने स्थानीय निकायो मे साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का विरोध भी किया । कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन (1916) में उन्होने मुस्लिम लीग और कांग्रेस को नजदीक लाने का प्रयास किया जिसके कारण सरोजनी नायडु ने उन्हे हिन्दू मुस्लिम एकता का राजदूत कहा । लेकिन यह इतिहास की विडम्बना ही कही जायेगी कि एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादी जिन्ना धीरे धीरे घोर साम्प्रदायिक बन गये और द्विराष्ट्र के प्रणेता और व्याख्याकार बन कर मुसलमानो के लिए एक पृथक् राष्ट्र के प्रबल पक्षधर बन अन्ततोगत्वा एक पृथक् मुस्लिम देश के निर्माता भी बन गये । जिन्ना के द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त की अवधारणा को स्पष्ट करने के पूर्व मुस्लिम साम्प्रदायिकता की पृष्ठभूमि को जानना बहुत ही आवश्यक है ।

सर सैय्यद अहमद खाँ

(1817-1898)

नि सन्देह साम्प्रदायिकता ब्रिटिश राज की देन है, 'फूट डालो और राज करो' की

नीति ने मुस्लिम साम्प्रदायिकता को दावानल की तरह बढ़ाया। कांग्रेस का जब 1885 में जन्म हुआ उस समय सर सैय्यद अहमद खाँ एकमात्र दिग्गज नेता थे जिन्होंने कांग्रेस में शरीक होने से मना कर दिया। प्रारंभ में वह हिन्दू मुस्लिम एकता के पक्षधर राष्ट्रवादी थे, लेकिन कालान्तर में उन्हें अहसास हुआ कि यदि किसी दिन भारत को स्वतंत्रता भी मिली तो यह स्वतंत्रता हिन्दू की होगी क्योंकि शिक्षा, आर्थिक स्थिति एवं सामाजिक चेतना की दृष्टि से मुसलमान तो हिन्दू के मुकाबले में बहुत ही पिछड़ा हुआ है। कांग्रेस का उदय उन्हें नहीं भाया और उन्होंने स्पष्ट किया कि यह संपूर्ण देश का प्रतिनिधित्व कर ही नहीं सकती। उन्होंने भारत के लिए संसदीय प्रणाली को भी अनुपयुक्त बताया। उन्हें इस बात का भय था कि इससे हिन्दू प्रभुत्व ही बढ़ेगा क्योंकि मुसलमान अशिक्षित और गरीब है। उन्होंने कांग्रेस के विरोध में मुस्लिम साम्प्रदायिक संस्थाओं के गठन को प्रोत्साहित किया जिनमें 'सेन्ट्रल नेशनल मोहम्मद एसोसियेशन', 'मोहम्मडन लिटरेरी सोसायटी' एवं 'मोहम्मडन एजुकेशन कांग्रेस' मुख्य थे। उन्होंने मुसलमानों के पिछड़ेपन को दूर करने मे अपनी शक्ति लगाना ज्यादा श्रेयस्कर समझा और इसके लिए उन्होंने शिक्षा को श्रेष्ठतम साधन समझा। एक अंग्रेज प्रिंसिपल बैक की सहायता से उन्होंने मोहम्मडन ओरियन्टल कॉलेज की स्थापना की जो कालान्तर में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय बना। सार रूप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि सर सैय्यद ने द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त अथवा पृथक् मुस्लिम राष्ट्र के निर्माण की बात तो नहीं कही, लेकिन उन्हें आधुनिक काल में मुस्लिम साम्प्रदायिकता का पितामह तो कहा जा सकता है।

मुहम्मद इकबाल
(1873-1938)

इकबाल एक शायर और विचारक के रूप में ज्यादा मशहूर हैं लेकिन द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त के प्रणेता के रूप में उनकी भूमिका को भी नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता। 21 जून, 1937 को एक गोपनीय पत्र में उन्होंने मोहम्मद अली जिन्ना को लिखा[1] कि मेरे विचार में एक भारतीय संघवादी ढांचे का संविधान पूर्णतया निराशाजनक है। मुस्लिम प्रांतों का एक पृथक् संघ ही एक मात्र रास्ता है जिसके द्वारा हम शांतिपूर्ण भारत की बात सोच सकते हैं और गैर मुस्लिमों के वर्चस्व से मुस्लिमों को बचा भी सकते हैं। उत्तर पश्चिमी भारत और बंगाल के मुस्लिमों को पृथक् राष्ट्र क्यों नहीं मान लिया जाय जिन्हें आत्म-निर्णय का अधिकार हो जैसे कि भारत और बाहर अन्य राष्ट्र हो सकते हैं।' उन्होंने 6 दिसम्बर 1933 को इस बात का स्पष्ट संकेत दिया कि देश का धार्मिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक संबंधों के आधार पर विभाजन किया जावे।[2] सार यह है

1 ए एम जैदी (सम्पादित) इवोल्यूशन ऑफ मुस्लिम पोलिटिकल थॉट, वोल्यूम IV, एस अरुन द्वारा उद्धृत, एप्रोच टू पाकिस्तान, इन्टेलेक्चुअल प्रिन्टिंग हाउस, देहली, पृ 249

2. स्पीचेज एण्ड स्टेटमेन्ट्स ऑफ इकबाल, पृ 195, वी पी वर्मा द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 465.

कि एक दार्शनिक और विचारक इकबाल पाकिस्तान की पृथकतावादी माग के बौद्धिक और आध्यात्मिक व्याख्याकार बन गये।

मोहम्मद अली जिन्ना का द्विराष्ट्र सिद्धान्त

भारतीय सन्दर्भ मे

द्विराष्ट्र सिद्धान्त की पृष्ठभूमि मे तीन मुख्य बाते कही जा सकती हैं जो सर सैय्यद अहमद खॉ के काग्रेस मे न शरीक होने के रवैये से स्पष्ट थी — (1) काग्रेस प्रधानतया एक हिन्दू सगठन है, (2) प्रतिनिधि सस्थाये भारत के लिए अनुपयुक्त है और (3) हिन्दू और मुसलमान दो पृथक् पृथक् कौमें हैं। सैय्यद अहमद के मस्तिष्क मे यह स्पष्ट तस्वीर थी कि क्या यह सभव है कि ये दो राष्ट्रीय समुदाय हिन्दू और मुसलमान एक ही सिंहासन पर बैठकर सत्ता का उपभोग करे ? बिल्कुल नहीं, यह आवश्यक सा लगता है कि इनमें से एक दूसरे पर विजय हासिल करके उस पर थोप दे। यह आशा करना कि दोनो समान रहेंगे, असभव और कल्पनातीत है।[1]

मोहम्मद अली जिन्ना के अनुसार हिन्दू और मुसलमान दो पृथक् राष्ट्रीय कौमे हैं जिनके विचारो, प्रेरणा स्रोतो एव सकल्पो मे मूलभूत अन्तर है। स्वय जिन्ना के ही शब्दो मे 'हिन्दुओ और मुसलमानो के जीवन पहलुओं मे अन्तर है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि हिन्दू और मुसलमान इतिहास के विपरीत स्रोतो से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। उनके महाकाव्य, महापुरुष एवं घटनाये पृथक् पृथक् हैं। प्राय: एक समुदाय द्वारा माना जाने वाला महापुरुष दूसरे का शत्रु है और इसी प्रकार विजय और पराजय के भाव भी दोनो के भिन्न भिन्न हैं।'[2] 15 सितम्बर 1944 को गॉधी को लिखे गये पत्र मे जिन्ना ने द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त को और भी स्पष्ट किया है। उन्हीं के शब्दों में[3] 'हमारा दावा है कि हम किसी भी परिभाषा अथवा कसौटी को क्यो न अपनाये, हिन्दू तथा मुसलमान दो बडे राष्ट्र हैं। हम दस करोड का एक राष्ट्र हैं, और उससे भी अधिक उल्लेखनीय यह है कि हम एक ऐसा राष्ट्र है जिसकी अपनी विशिष्ट सस्कृति और सभ्यता, भाषा और साहित्य, कला तथा स्थापत्य, नाम तथा नाम-व्यवस्था, मूल्यो तथा अनुपात की धारणा, विधिक कानून तथा नैतिक संहिताएँ, परिपाटियाँ तथा जंत्री, इतिहास तथा परम्पराएँ, प्रवृत्तियाँ तथा महत्त्वाकाक्षायें हैं। संक्षेप में, हमारा जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण एवं जीवन दर्शन है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के हर सिद्धान्तों के अनुसार हम एक राष्ट्र हैं।'

यही द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त भारत के विभाजन का मुख्य आधार बना।

---

1 रिचर्ड साइमन्ड्स, दि मेकिंग ऑफ पाकिस्तान, पृ 31 कीथ कैलार्ड द्वारा उद्धृत पाकिस्तान, जार्ज एलन एण्ड अनविन लिमिटेड, लन्दन, पृ 11

2 अनवर हुसैन द्वारा उद्धृत, एलीट पॉलिटिक्स इन एन आइडियोलॉजीकल स्टेट, डासन फोकस्टोन, केंट, पृ 29

3 वी पी वर्मा द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 444

सामाजिक न्याय की अवधारणा
डॉ. भीमराव अम्बेडकर
(1891-1956)

महाराष्ट्र के दलित परिवार में जन्मे भीमराव अम्बेडकर सामाजिक न्याय की अवधारणा के सशक्त एवं निर्भीक व्याख्याकार एवं जुझारू योद्धा रहे हैं। बड़ौदा नरेश, सय्याजीराव महाराजा गायकवाड़ की वित्तीय सहायता से वह न्यूयार्क स्थित कोलम्बिया विश्वविद्यालय पहुँचे जहाँ से उन्होंने एम. ए. पी-एच. डी. की डिग्रियाँ प्राप्त की। लन्दन से डी. एस. सी. एवं बार एट ला की डिग्रियाँ प्राप्त की। अनेक पदों पर रहे। तीनो गोल मेज सभाओं में दलितों के प्रतिनिधि के रूप में शरीक हुये। 1942 से 1946 तक वायसराय की कार्यकारिणी परिषद में श्रम विभाग के सदस्य रहे। 1947 में संविधान सभा की मसौदा समिति के अध्यक्ष बने। इसी वर्ष स्वतंत्र भारत के प्रथम विधि मंत्री बने। 1951 में नेहरू मंत्रीमंडल से हिन्दू कोड बिल को लेकर त्यागपत्र दिया। 1956 में बौद्ध बने और इसी वर्ष के अन्त मे इनका निधन हुआ। उनके जीवन की अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं मे एक 1932 का पूना समझौता भी है जिसके फलस्वरूप गाँधीजी ने अपना आमरण अनशन त्याग दिया। उन्होने दलितोत्थान और सामाजिक न्याय हेतु कड़ा संघर्ष किया। उन्होने अनेक ग्रंथो की भी रचना की और पत्रो का सम्पादन किया। आज अम्बेडकर की गिनती देश के शीर्ष नेताओ और विचारकों मे की जाती है। मृत्युपरान्त उन्हे भारत रत्न से भी सम्मानित किया गया। अम्बेडकर गौतम बुद्ध, कबीर और ज्योतिराव फूले से प्रभावित थे। फूले (1827 - 1890) ने स्त्री शिक्षा और समतावादी समाज की स्थापना पर बहुत बल दिया। उन्होने ब्राह्मणो, महाजनों, संपन्न वर्गों, सामन्तों, जमींदारों एवं कुलीन वर्गों के वर्चस्व को तोड़ने एवं नीची जातियो के उन्नयन हेतु क्रांतिकारी कार्य किये। उन्होने कट्टरता, जातिवाद, नस्लवाद, दासता, शोषण, उत्पीड़न, असमानता, रूढ़िवादिता, वर्ण व्यवस्था, कर्मकांड, पुरोहितवाद, ब्राह्मणवाद, अस्पृश्यता, बाल विवाह आदि सामाजिक बुराइयों एवं अन्धविश्वासो पर जमकर प्रहार किया। अम्बेडकर और फूले मे एक समानता यह भी थी कि दोनो महाराष्ट्र के रहने वाले ही नहीं बल्कि नीची जातियो से संबंधित भी थे जो जीवन मे ऊँची जातियो के उच्च वंशीय उन्माद के शिकार भी बने। सार यह है कि अम्बेडकर के संघर्ष की पृष्ठभूमि ज्योतिराव फूले द्वारा तैयार हो चुकी थी।

भारत मे स्वतंत्रता आन्दोलन के साथ साथ सदियो से शोषित, निराश्रित, पद दलित, बहिष्कृत, असंगठित करोड़ो लोगो की असह्य स्थिति को सुधारने की दृष्टि से एक आन्दोलन और प्रारंभ हुआ। यह स्वतंत्रता आन्दोलन का अंग था और इससे पृथक् भी था। अनेक प्रमुख एवं सामान्य भारतीय इससे जुड़े रहे, लेकिन दो मुख्य धारायें इस सन्दर्भ मे उल्लेखनीय हैं।

'अस्पृश्यता निवारण स्वतन्त्रता आन्दोलन का अविभाज्य अंग है' इस विचारधारा और कार्यक्रम का नेतृत्व मोहनदास करमचन्द गाँधी ने किया। दलितो का नेतृत्व गैर दलित क्यो करे और दलितोत्थान ही प्रथम आवश्यकता है और इसके लिए सवर्णों की दासता से दलितो की मुक्ति आवश्यक है – इस विचारधारा और कार्यक्रम का नेतृत्व डॉ भीमराव अम्बेडकर कर रहे थे। यद्यपि गाँधी और अम्बेडकर दोनो ही दलितोत्थान मे मनसा-वाचा-कर्मणा जुटे हुये थे, लेकिन यह इतिहास की विडम्बना ही कही जायेगी कि ये दोनो न केवल अलग-थलग रहे बल्कि परस्पर विरोधी भी चित्रित किये गये। सवर्णों की यातनाओ और भयावह कुण्ठाग्रस्त परिवेश से जूझते, झिडकियाँ खाते, अपमान की घूँट पीते, कठोर परिश्रम, प्रतिबद्धता, दृढ निश्चय एव प्रतिभा के बूते पर भारत के राजनीतिक भाग्याकाश मे शीर्ष स्थान पर पहुँचने वाले व्यक्ति भीमराव अम्बेडकर थे।

सामाजिक स्तर पर अम्बेडकर वर्ण व्यवस्था के विरोधी थे। जन्म के आधार पर निर्मित वर्ण व्यवस्था और कार्य विभाजन व्यक्ति की क्रियात्मक क्षमताओ की स्पष्ट उपेक्षा है। उन्होने मनु की घोर भर्त्सना की और विरोध स्वरूप मनुस्मृति को सार्वजनिक रूप से जलाया। अम्बेडकर मनुस्मृति को एक बहुत ही घृणित ग्रन्थ मानते थे, उनका कथन था कि यह एक असमान पुरुष एव ब्राह्मण प्रधान, अलोकतात्रिक, सामन्तवादी सामाजिक व्यवस्था की पोषक पुस्तक है जिसका आज के बदलते परिवेश मे कोई अर्थ ही नहीं है।

अम्बेडकर मनुवादी वर्ण व्यवस्था को हिन्दू समाज की कोढ़ मानते थे। यह प्रगति की शत्रु है। जो व्यवस्था मनुष्य को बराबर न समझे, केवल जन्म के आधार पर किसी को पूजनीय और किसी को घृणित करार दे वह त्याज्य है। इसीलिये उन्होने हिन्दू धर्म पर करारा प्रहार किया। डॉ अम्बेडकर ने स्पष्ट किया कि 'हिन्दू धर्म व्यक्ति के महत्त्व को अमान्य करता है। हिन्दू धर्म मे एक वर्ग को ज्ञान प्राप्त करने, दूसरे वर्ग को शस्त्र प्रयोग करने, तीसरे को व्यापार करने और चौथे वर्ग को केवल दूसरो की सेवा करते रहने की व्यवस्था है। प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञान की आवश्यकता है। प्रत्येक व्यक्ति धन चाहता है। धर्म जो इसकी परवाह नहीं करता, केवल कुछ लोगों को ही शिक्षा का लाभ उठाने की अनुमति देता है, शेष को निरक्षर और अज्ञानी बनाये रखता है, धर्म नहीं है, बल्कि लोगों को अनन्त काल तक मानसिक अक्षमता मे बनाये रखने का षड्यत्र है। जो धर्म एक वर्ग को शस्त्र प्रयोग करने और आत्म रक्षा के लिए शेष समाज को उस पर आश्रित रहने की आज्ञा देता है, वह धर्म नहीं, शेष समाज के लोगो को शाश्वत दास बनाये रखने की योजना है। वह धर्म जो कुछ को धन सम्पदा बटोरने के लिए और अन्य लोगों को दीनता, दरिद्रता मे फेकता है और जिन्दा रहने के लिए अनिवार्य वस्तु तक के लिए उन पर आश्रित रहने के लिए विवश करता है, धर्म नहीं बल्कि नितान्त तुच्छ स्वार्थ है। हिन्दू धर्म में चातुर्वर्ण्य यही है।'[1]

---

1 श्याम लाल डॉ भीमराव अम्बेडकर, जीवन और दर्शन, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, पृ 65

अम्बेडकर ने कहाकि ऐसे हिन्दू समाज मे सामाजिक न्याय की कल्पना भी नहीं की जा सकती क्योंकि यह असमानता, अन्याय, जात-पाँत, ऊँच-नीच, शोषण और उत्पीड़न पर आधारित है। 15 अक्टूबर 1956 को बौद्ध धर्म को ग्रहण करते समय उन्होंने कहा, 'मैंने हिन्दू धर्म को त्याग करने का आन्दोलन 1935 में शुरू किया था, मैंने उसी समय यह प्रतिज्ञा की थी यद्यपि मैंने हिन्दू धर्म मे जन्म अवश्य लिया है तो भी मैं हिन्दू धर्म में नहीं मरूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा मैंने आज से 21 वर्ष पूर्व की थी और मुझे ऐसा मालूम होता है कि मैं नरक से छुटकारा पा गया हूँ।'[1]

अम्बेडकर ने दलितों और पिछड़ों को सतत संघर्ष करने और शिक्षित बनने की सलाह दी। मंदिरो मे दलितों के प्रवेश की मांग को उन्होंने गंभीरता से नहीं लिया। उन्होंने दलितो को कहा कि तुलसी की माला पहन लेने से हिन्दू बनिया तुम्हारे कर्ज तो माफ नहीं कर देगा। मरणासन्न अवस्था में पत्नी रमाबाई ने जब पंढरपुर के मंदिर में दर्शन करने की इच्छा व्यक्त की तो उन्होंने कहा कि ऐसे मंदिर मे जाने से क्या लाभ जहाँ भक्त भगवान के दर्शन नहीं कर सकता। एक दलित महिला होने के कारण उसे बहुत दूरी पर खड़ा होना पड़ेगा। उन्होने कहाकि मैं एक ऐसे पंढरपुर की स्थापना करना चाहता हूँ जहाँ जाति के आधार पर कोई ऊँचा या नीचा न माना जाय।

'व्हाट कांग्रेस एण्ड गाँधी हैव डन टू दी अनटचेबिल्स' पुस्तक में अम्बेडकर ने जो लिखा उसका सार यह है[2]- (1) कांग्रेस दलितों का प्रतिनिधित्व नहीं करती। (2) दलित एक पृथक् सामाजिक इकाई है वे हिन्दुओं से भिन्न और पृथक् ग्रुप हैं। (3) यदि भौगोलिक क्षेत्र के हिसाब से हिन्दुस्तान में रहने वाले हिन्दू कहलाते हैं तो हम भी हिन्दू हैं- उस तरह से तो मुसलमान, क्रिश्चियन, सिख, पारसी सभी हिन्दू हुए। (4) वैसे दलित धर्म से हिन्दू हैं, लेकिन वे हिन्दू समाज के अंग नहीं है क्योंकि सवर्ण उन्हें स्पर्श तक करना पाप समझते हैं। सिखों का धर्म पृथक् है लेकिन वे हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के ही अंग हैं। हिन्दू और सिख एक दूसरे के साथ बैठकर केवल खाना ही नहीं खाते बल्कि आपस में शादी भी करते है। यह कई परिवारों में देखा जाता है कि एक बाप के दो बेटों मे एक सिख बन जाता है, दूसरा हिन्दू रहता है। (5) धर्म का मतलब होता है उसका अनुयायियों का कुछ नियमो और आदर्शों के आधार पर एक सूत्र में बांधना और सामाजिक स्तर पर समानता लेकिन हिन्दू धर्म इस उद्देश्य से अपूर्ण तथा असफल रहा है। यह संगठित धर्म नहीं है बल्कि एक प्लेटफार्म है जहाँ सब एकत्रित होते हैं लेकिन एक को दूसरे से कोई सरोकार नहीं। हिन्दुओं में एक चौथाई दलित है लेकिन सवर्णों ने कभी यह सोचा ही नहीं कि वे भी इन्सान हैं। (6) छुआछूत तो धर्म से भी परे है, यह एक व्यवस्था है, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था। आर्थिक व्यवस्था के रूप में यह

---

1 हारून हर्ष द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक पृ 106

2 लेखक की पुस्तक, कर्नदेवी, डॉ. भीमराव अम्बेडकर से उद्धृत, पृ 145-147.

तो गुलामी से भी बदतर है। गुलाम कभी स्वतन्त्र होने की आशा तो रखता है, यह जरूरी नहीं कि उसकी सन्तान भी गुलाम ही रहे। लेकिन अछूत तो युगो युगो से अछूत ही हैं – उसकी सन्ताने भी सदा-सदा के लिए अछूत ही रहेगी। हिन्दू धर्म तो मानता है कि सबकी नियति पूर्व निर्धारित है। इसका अर्थ हुआ कि दलित बने रहना ईश्वरीय इच्छा है। (7) वर्णाश्रम व्यवस्था हिन्दू धर्म का मूलाधार माना जाता है और वर्ण व्यवस्था मे शूद्र चौथा और निम्नतम वर्ण है। दुःख तो इस बात का है कि गाँधी जैसा व्यक्ति वर्णाश्रम को हिन्दू धर्म का अनिवार्य अग मानते हैं। (8) जहाँ तक काग्रेस का सबंध है उसके लिए अछूतो के हितो की बात करना परिवर्तित परिस्थितियों मे जरूरी हो गया है क्योंकि छ करोड लोगो का प्रतिनिधित्व राजनीतिक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। (9) ब्राह्मण ने दिमाग को गुलाम बनाया है तो बनिये ने शरीर को। इन दोनो ने कुछ अन्य वर्गों को साथ लेकर काग्रेस पर कब्जा कर लिया है। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि काग्रेस शासित प्रदेशों में से सारे ही प्रधानमत्री ब्राह्मण रहे हैं।'

नि सन्देह, भीमराव अम्बेडकर की सामाजिक न्याय की अवधारणा को न केवल बौद्धिक स्तर पर ही बल्कि उसे साकार बनाने की दृष्टि से व्यावहारिक स्तर पर योगदान अभिनन्दनीय ही कहा जायेगा। उन्होने जो मशाल प्रज्वलित की वह दलितो और पिछडो के सूने जीवन मे आज आशा का संचार कर रही है।

समग्र चिन्तन : एक विहंगम दृष्टिपात

विगत पाँच हजार वर्ष पुराने भारतीय राजनीतिक चिन्तन पर समग्र दृष्टि से संक्षिप्त चर्चा करना आवश्यक प्रतीत होता है। तीन कालो मे विभाजित इस चिन्तन में निरन्तरता भी है और परिवर्तन भी। परिवर्तन का मुख्य कारण भिन्न सांस्कृतिक धरातल था, लेकिन कालान्तर मे दोनों संस्कृतियो मे संवाद प्रारंभ हुआ जिसके कारण समन्वय स्थापित हुआ, यद्यपि फिर भी अलगाव ही बना रहा। यह मध्यकाल से जुडी हुई बात है लेकिन प्राचीन काल को मध्यकाल से जोडने वाला एक सूत्र धर्म रहा है। यद्यपि दोनों कालो में धर्म की अवधारणायें समान नही थी, लेकिन जहाँ समानता है वह इस मूल तत्त्व में है कि धर्मविहीन राजनीति अर्थहीन ही नहीं खतरनाक भी है। आधुनिक काल में भी यह निरन्तरता बनी रहती है यद्यपि धर्म को परम्परागत अर्थ में परिभाषित न किया जाकर नैतिकता से सम्बद्ध किया गया है। यह कहना भी उचित नहीं होगा कि किसी निश्चित विचारधारा के आधार पर काल विभाजन संभव है। मध्यकाल मे राज्य और उससे सम्बद्ध चिन्तन अधिक उभर कर नहीं आ पाया तथा धर्म और राजनीति के कार्य-क्षेत्रों के निर्धारण एवं इनके तत्त्वों के बारे मे भी मतैक्य नहीं रहा। बर्नी और फजल यद्यपि मध्यकालीन विचारक हैं लेकिन दोनो का वैचारिक धरातल एकसा नहीं है। वैचारिक प्रवृतियों के आधार पर भी काल विभाजन उचित नहीं है। प्राचीन काल में मध्ययुगीन और आधुनिक काल की, मध्ययुग मे प्राचीनकाल और आधुनिक काल की और आधुनिक काल मे प्राचीन

काल और मध्य युगीन प्रवृत्तियाँ मिल सकती हैं यद्यपि परिवेश सर्वाधिक प्रभावी तत्त्व होता है। उदाहरणार्थ प्राचीन और मध्यकाल में राजा चाहे कितना भी निरंकुश क्यों न हो, राज्य का स्वरूप सर्वाधिकारी बन ही नहीं सकता था। राज्य के पास कोई ऐसा यंत्र अथवा साधन उपलब्ध नहीं था जिसके माध्यम से वह नागरिकों के जीवन पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित कर सकता था। इसी बात को ध्यान में रखते हुए तो सर चार्ल्स मेटकाफ ने प्राचीन काल मे गाँव-गणराज्य (विलेज रिपब्लिक) की बात कही थी। केन्द्र में चाहे किसी का शासन हो, स्थानीय जीवन करीब करीब अप्रभावित ही रहता था। इसी संदर्भ में राज्यों की आकृति की बात भी कही जा सकती है। भौगोलिक दृष्टि से राज्य बहुत बड़े नहीं हो सकते थे क्योंकि बड़े भू-भाग को नियंत्रण में रखना बड़ा दुष्कर कार्य था। आज विज्ञान और तकनीकी ज्ञान की सहायता से सर्वाधिकारी और विशाल राज्य संभव हैं। पूर्व सोवियत संघ सर्वाधिकारी और विशाल राज्य का एक ज्वलंत उदाहरण था। चीन को भी इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। भारतीय चिन्तन में व्यष्टि और समष्टि, नागरिक और राज्य, राज्य और समुदाय, स्वतंत्रता और समानता, अधिकार और कर्तव्य, धर्म और राजनीति, शासन और प्रशासन, राजा और राज्य, संप्रभुता एवं इसकी सीमायें, राज्य के कार्य-क्षेत्र एवं उद्देश्य, नौकरशाही आदि पर गहन चर्चा हुई है। यद्यपि कहीं यह चर्चा गहन रूप धारण करती है तो कहीं यह अस्पष्ट है। इसका मुख्य कारण यही रहा है कि राजनीति मोटे तौर पर धर्म और नैतिकता की परिधि में ही चर्चित रही है। वैदिक काल से लेकर गाँधी तक यह धारा निरन्तर रूप से बही है। यद्यपि कहीं कहीं इसे स्वतंत्र करने का प्रयास भी किया गया है, लेकिन भारतीय चिन्तन की यह मुख्य धारा नहीं रही। आधुनिक काल में जवाहरलाल नेहरू और मानवेन्द्रनाथ राय के चिन्तन में राजनीति का विशुद्ध स्वरूप उभर कर आया है, लेकिन विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक, अरविन्द और गाँधी का प्रभाव कहीं अधिक शक्तिशाली है। गोखले, नेहरू और राय को छोड़कर करीब करीब सभी विचारक प्राचीन भारत की सांस्कृतिक धरोहर और इसकी दार्शनिक परम्परा से प्रभावित हैं। वे प्राचीन ज्ञान और संदेश के प्रकाश में नये भारत का निर्माण करना चाहते हैं। वे अतीत की नींव पर एक सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण करना चाहते हैं। उनका मानना है कि कोई राष्ट्र अपने अतीत को विस्मृत करके आगे बढ़ ही नहीं सकता। लेकिन यह चिन्तन केवल परम्परा को लेकर भी नहीं चलता। परिवेश के बाह्य तत्त्वों से यह पोषित भी हुआ है, लेकिन अपने मूल धरातल को इसने नहीं छोड़ा। यह ध्वनि गाँधी की इस वाणी में प्रवाहित है कि यद्यपि मैं अपने दिमाग की खिड़कियाँ खुली रखता हूँ ताकि ताजा हवा आती रहे, लेकिन मैं दृढ़ता से अपने पाँव जमीन पर जमाये रखना चाहता हूँ, भयंकर तूफान भी मुझे हिला नहीं सकता।

प्लेटो, अरस्तू की भाँति इस पाँच हजार वर्ष के इतिहास मे विशुद्ध राजनीतिक विचारक संभवतः कोई नहीं है जिसका मुख्य कारण यही है कि राजनीतिक चिन्तन को

...तिकता ...र बनी हुई है। ... अस्वीकार नही करते। ... पर गाँधी का प्रभाव स्पष्ट है और एक कट्टर मार्क्सवादी के रूप में जीवन को प्रारंभ करने वाले मानवेन्द्रनाथ कालान्तर मे 'रेडिकल ह्यूमनिज्म' के जन्मदाता बनते हैं। युवावस्था मे नेहरू को सोवियत रूस की यात्रा ने उन्हे मार्क्सवाद की ओर आकर्षित किया, लेकिन उन्होने कोरे समाजवाद को स्वीकार नहीं किया, वह 'लोकतांत्रिक समाजवाद' के प्रणेता बने। ऐसा लगता है कि चाहे नेहरू का मस्तिष्क मार्क्स से प्रभावित होता रहा, लेकिन उनके हृदय पर तो गाँधी ही छाये रहे। एम.एन. राय ने मार्क्सवाद की मुख्य त्रुटि व्यक्ति को नजर अन्दाज करने मे ढूँढी।

आधुनिक युग की एक और बात भी दृष्टिगत रखनी आवश्यक है। इसमें एक ओर राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती एवं स्वामी विवेकानन्द जैसे सामाजिक और धार्मिक सुधारक हैं जिनका यद्यपि देश की स्वतंत्रता और राष्ट्रीय राजनीति से कोई सीधा सरोकार नहीं था, लेकिन एक सुदृढ़ देश के निर्माण हेतु सामाजिक एवं धार्मिक कुरीतियो को दूर करना इन्होने आवश्यक समझा और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की बात कही। यह ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात नहीं है कि इन्होने प्रेरणा कहाँ से प्राप्त की। राजा राम मोहन राय पश्चिम से प्रभावित होकर सती उन्मूलन की बात कहते हैं जबकि दयानन्द वेदों की ओर लौटना चाहते हैं। विवेकानन्द पश्चिम और पूर्व के मध्य एक समन्वयवादी प्रवृत्ति पर बल देते हैं यद्यपि वह भारत के आध्यात्म के प्रकाश मे विश्व को आलोकित करने की बात भी कहते हैं। इन तीनो महापुरुषों ने भारत की सुषुप्त आत्मा को जगाने का महती कार्य किया। इस पृष्ठभूमि में इनका राजनीतिक चिन्तन विकसित और प्रस्फुटित हुआ। एक स्वतंत्र समाज की स्थापना हेतु स्वतंत्र राज्य आवश्यक है यह संदेश इन्होने दिया।

दूसरी ओर लोकमान्य तिलक, गोखले, मोहनदास करमचन्द गाँधी, जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी रहे हैं। इनमें यद्यपि गोखले और नेहरू पश्चिमी संस्थाओ से प्रभावित रहे है, लेकिन व उनकी स्थापना में राष्ट्रीय परिवेश को भी पूर्णतया नकारना नही चाहते। तिलक और गाँधी यद्यपि भिन्न बौद्धिक धरातल पर खड़े हैं, लेकिन वे निश्चित रूप से पश्चिम विरोधी है। गाँधी का 'हिन्द स्वराज्य' में यह संदेश कि भारत का कल्याण जो इसने पश्चिम से सीखा है इसे भूल जाने मे है, इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है। अरविन्द क्रांतिकारी और विप्लवी के रूप में जीवन प्रारंभ करते हैं, वह उग्र राष्ट्रवादी हैं लेकिन कालान्तर में वह आध्यात्म की ओर उन्मुख हो जाते हैं। विवेकानन्द, तिलक और अरविन्द ने भारत में आध्यात्मिक राष्ट्रवाद की अवधारणा को पुष्ट किया है।

□□□

अकादमी द्वारा प्रकाशित राजनीतिशास्त्र विषयक अन्य पुस्तकें

1	सत्रहवीं शताब्दी का यूरोप (अनु)	डेविड ओग	14 25
2	पश्चिमी जर्मनी की राजनीति एव प्रशासन	डॉ देवनारायण आसोपा	15 00
3	तुर्की की राजनीति एव प्रशासन	डॉ (श्रीमती) शील के आसोपा	12 00
4	पाश्चात्य मध्ययुगीन राजनीतिक सिद्धान्तों का इतिहास, भाग-2	आर डब्ल्यू कार्लाइल एव (अनु) ए जे कार्लाइल	10 00
5	पाश्चात्य मध्ययुगीन राजनीतिक सिद्धान्तों का इतिहास, भाग-4	आर डब्ल्यू कार्लाइल एव (अनु) ए जे कार्लाइल	11 50
6	राजनीति विज्ञान में अनुसधान (प्र स) ISBN 81-7137-232-5	डॉ एस एल वर्मा	99,00
7	तृतीय विश्व	डॉ प्रभुदत्त शर्मा	19.00
8	सघीय व्यवस्था ISBN 81-7137-001-2	डॉ एम एल वर्मा	20 00
9	ससदीय प्रक्रिया ISBN 81-7137-066-7	डॉ सुभाष काश्यप	37.00
10	राजनीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त ISBN 81-7137-108-6	डॉ बी आर पुरोहित	140 00
11	राजनीतिक समाजशास्त्र (प्र स) ISBN 81-7137-115-9	डॉ धर्मवीर	86 00
12	आधुनिक भारतीय सामाजिक एव राजनीतिक चिन्तन (प्र स) ISBN 81-7	डॉ पुरुषोत्तम नागर	128 00